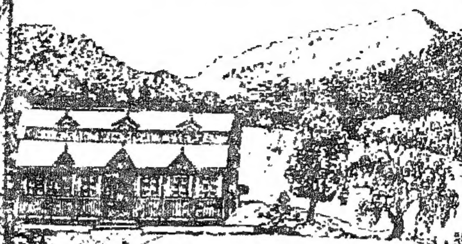
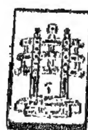




सवेरा • संघर्ष • गर्जन

डॉ॰ भगवतशरण उपाध्याय

*



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक –२२९

सम्पादक एवं नियामक :

लक्ष्मीचन्द्र जैन

गतिमती मानवताका इतिहास
उद्भ्रान्त विकल मानव को



'सवेरा-संघर्ष-गर्जन'की इस तीसरे संस्करणकी भूमिकामें मुझे कुछ पुरानी बातें दोहरानी हैं, कुछ नयी कहनी हैं। मैंने 'सवेरा'के वक्तव्यमें लिखा था—प्रस्तुत कहानियोंका विषय नवीन और असामान्य है। मानव जाति (भारतीय) का प्राथमिक इतिहास—विशेषकर सामाजिक—इनका आधार है, प्राचीन भारतीय संस्कृतिका अंकन इनका उद्देश्य''''यह सीरीज दस भागोंमें समाप्त होगी। प्रस्तुत संग्रह उसका प्रथम भाग है जिसका काल-प्रसार मानवजातिके शैशवसे ऋग्वैदिक युग तक है।''''इसकी कहानियोंकी संख्या दस है। भाषा प्राचीन संस्कृतिके अनुरूप है और विचार-प्लॉट आदि भी तद्विषयक और तत्कालीन हैं। लिखनेके पूर्व कहानियोंके कथा प्रसंग विशेष प्रयाससे स्थिर नहीं किये गये। इससे वे अधिकतर भावात्मिका हो गयी हैं। ऋग्वेदके मन्त्र किसी-किसी कहानीके आधार हैं। कथानक अधिकतर कहानी प्रारम्भ करनेके बाद अपने-आप बनता चला गया है—उत्तरवाक्य पूर्ववाक्यसे स्वतः प्रसूत होता गया है। इसीसे प्रत्येक कहानीके लिखनेमें ढाईसे साढ़े तीन घण्टों तकका समय लगा है, प्रत्येक कहानी एक ही बैठकमें समाप्त हुई है और कुल दस दिनोंमें लिखी गयी हैं।''''कुछ कहानियोंमें नायक-नायिकाओं और अन्य पात्रोंका स्थान देवताओंने ले लिया है। यह विधान लेखकका अपना नहीं, स्वयं ऋग्वेदका है। सुरों और मानवेतर व्यक्तियोंकी कल्पना उसी प्रकार हुई है जिस प्रकार ऋषियोंने की थी। हाँ, कथावस्तुकी कल्पना लेखककी अपनी है।

'संघर्ष'के वक्तव्यमें मैंने लिखा था—संग्रह मानव-तरंगिणीका द्वितीय तरंग है। धारावाहिक रूपसे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकासका

हाँ इसमें भी ध्यान रखा गया है।''''प्रस्तुत संग्रहका समय-प्रसार सातवीं सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० पू० तक है।

इसी प्रकार तीसरे तरंग वर्गनके वक्तव्यमें लिखा—इसकी पहली सात कहानियाँ पुरीके समुद्र-तटपर लिखी गयीं। उनका समय-प्रसार तृतीय शती ई० पू० से द्वितीय शती ई० पू० तक है।

नयी बात जो कहनी है, यह है — इन तीनों संग्रहोंका यह पहला संयुक्त प्रकाशन है, जिसके लिए मैं भारतीय ज्ञानपीठका कृतज्ञ हूँ। कहानियाँ योजनाबद्ध रूपसे न केवल हिन्दीमें बल्कि किसी भी देशी-विदेशी भाषामें पहली हैं। इनके बंगीय समीक्षकने मॉडर्न रिव्यू (जनवरी, १९४२, पृ० ८०–८१) में अपनी आलोचनामें लिखा था—इस आलोचककी जानकारीमें श्री भगवतशरणने हिन्दी साहित्यके क्षेत्रमें एक नये मार्गका निर्माण किया है। उन्होंने जो जमीन तय की है वह क्वाँरी है, पर उसपर चले हैं ये नव-निर्माता (पायोनियर) के साहससे, कविके चक्षुसे, दार्शनिककी अन्तर्दृष्टिसे, और निरन्तर विकसित होते और महत्त्वाकांक्षी मानवके प्रेमीके हृदयसे। ऐतिहासिक दृष्टिसे एकाध कहानियाँ जयशंकर प्रसादने और सम्भवतः एक या दो राय कृष्णदासने लिखी थीं। इस दृष्टिसे लिखीं ये कहानियाँ सर्व-प्रथम थीं।

कुछ आलोचकोंने राहुलजीके 'वोल्गासे गंगा'का बखान करते समय लिखा कि 'सवेरा' आदि उसीपर आधृत हैं। यह भी ध्यान नहीं रखा कि राहुलजीने स्वयं अपने उस संग्रहके एक संस्करणकी भूमिकामें 'सवेरा' आदिका न केवल उल्लेख किया था बल्कि (कोई भी दोनोंको मिलाकर अनायास कह सकता है) 'सवेरा'की पहली तीन कहानियोंको ही 'वोल्गासे गंगा'की पहली तीन कहानियोंका आधार बनाया था। इस सम्बन्धमें किसने किसको प्रेरणा दी इसको प्रतीति तो दोनों कृतियोंके छपे प्रकाशन-

वर्षोंपर भी एक नजर डालकर की जा सकती थी। मेरे संग्रह 'वोल्गासे गंगा'से प्रायः दो साल पहले प्रकाशित हुए जिनकी स्वयं राहुलजीने प्रकट सराहना की।

इन कहानियोंने अनेक हिन्दी कवियों-कहानीकारों-उपन्यासकारों-नाटककारोंको प्रभावित किया। हाँ, आभार प्रदर्शन करना इस देशमें निःसन्देह अपयशका कारण समझा जाता है! 'विध्वंसके पूर्व', 'विक्रमोर्वशी', 'विलासी' (उदयन-सम्बन्धी), 'क्रान्ति', 'गर्जन' आदि कहानियाँ बार-बार हमारे कृतिकारोंके अन्तर और उनकी कृतियोंमें अनाख्यात उतरीं। यहाँ एक, केवल एकके प्रति संकेत किये बिना न रह सकूँगा। जब रांगेय राघवका 'मुर्दोंका टीला' आधा पढ़ चुका तो उसमें अपने 'विध्वंसके पूर्व' (सवेरा) के दो पात्रों—नर्तकी और योगिराजको पाकर चकित हुआ और सद्यः उपन्यासकारकी भूमिकाकी ओर लौटा, कदाचित् उसमें कुछ उल्लेख हो। उल्लेख मिला, 'सवेरा'का उल्लेख—बायें हाथकी प्रशस्ति—उन पात्रोंके 'उत्-हरण'का नहीं, जो इतिहासके नहीं, केवल मेरे सिरजे थे; मैं उस भूकम्पकी बात नहीं कहता जिसे मेरी ही भाँति उस उपन्यासकारने भी अपनाया, मैंने दस साल पहले, उसने दस साल पीछे!

प्रसन्नता है कि इन संग्रहोंका उपयोग हुआ। और जिस प्रकार उपयोग इन्हें स्वायत्त करके हुआ उसे देखते इन्हें अपना कहते भी संकोच होता है। जिस संस्कृतिकी प्रेरणासे ये कहानियाँ लिखी गयीं स्वयं उसीकी घोषणा है—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।

— *भगवतशरण उपाध्याय*

सवेरा
संघर्ष
गर्जन

• सवेरा

• संघर्ष

● ● ●

सवेरा

•

• •

सवेरा

[कहानी मानवताके शैशवकी है जब अभी भाषाका जन्म नहीं हुआ था, और जब भावोंकी अभिव्यक्ति संकेतों-द्वारा होती थी। मातृसत्ताकी प्रतिष्ठा थी। इस कालको मानव-जातिशास्त्रके वैज्ञानिक मातृसत्ता (मेट्रिआर्कल स्टेट) कहते हैं। परिवारके विविध सम्बन्धजनित आचारोंकी अभीतक सृष्टि नहीं हुई थी।]

उषाने जब प्राची गगनके द्वार खोले कनकतारोंसे गुहाका अन्तरतम भासमान हो उठा। नारी एक कुलाँच भर द्वारपर आ खड़ी हुई। धीरे-धीरे नर भी बाहर निकला, कन्धेसे परिवार लपेटे—दो कुमारों तीन कुमारियोंका।

नर-नारीको घेरे उनका बाल-कुटुम्ब खड़ा था। नारीने पार्श्वमें खड़े नरकी ग्रीवा दाहिनी भुजासे जकड़ते हुए जँभाई ली। नरने बायें हाथसे उसे और कस लिया। नारीने दोनों हाथ ऊपर फेंक अँगड़ाई ली। कन्धोंकी नसें सैकड़ों उलझी रज्जुओं-सी खिच गयीं, पैरोंकी पिण्डलियाँ निकल आयीं। वह हँसी, श्मश्रुल नरने उसकी प्रतिध्वनि की। बच्चोंके अट्टहासके योगसे प्रतिध्वनि कुछ देरतक गूँजती रही।

इसी बीच एक कुमारीने एक कुमारको चुटकी काटी। कुमार चीत्कार कर उठा। नर-नारी घूम पड़े। कुमारने कुमारीकी ग्रीवा पकड़ रखी थी। त्यौरी चढ़ाकर नारीने कुमारको देखा और कुमारीको पकड़कर किंचित् मसल दिया। दोनों शान्त हो गये।

अभी शब्द—भावार्थ शब्द—का बोध मनुष्यको नहीं हुआ था। सारा व्यापार संकेतसे होता था, जिसके यान थे हास और अश्रु। भाषा थी पर मूक, भाव थे पर निःशब्द।

नर नारीके अन्तरतम, सर्वांगसे अवगत था। उसकी रूपरेखाका कोई अंश उससे प्रच्छन्न न था। एकको दूसरेके अवयवोंके सम्बन्धमें कभी कुतूहल नहीं होता था—सभी स्पष्ट था, सम्मुख दृष्टिगम्य।

आत्माका उदय अभी नहीं हुआ था, न धर्मतत्त्वोंकी जिज्ञासाका आरम्भ ही। धर्मतत्त्व कदाचित् गुहाके अज्ञात, अन्धपूरित कोणमें अभी प्रच्छन्न थे, यदि सर्वथा उनका अभाव न था। न नर अभी भावुक था, न नारी रहस्यमयी। दोनों चेतन मांसपिण्ड थे—न एकमें शंका थी, न दूसरेमें उसका कृत्रिम समाधान।

पक्षियोंका कलरव शान्त हो चुका था। आहारकी खोजमें वे नीड़ोंसे उड़ चुके थे। अनेक वन्यजीव आसपाससे निकल रहे थे। नारी नरके पार्श्वसे उछली और समीपके पारिजातपर जा लटकी। उसपर रखे प्रस्तर-निर्मित शस्त्रोंको उसने सावधानीसे सँभाला फिर वह झट नीचे कूद पड़ी। बच्चे दौड़कर उससे जा चिमटे। उसने उन्हें चाटा, धीरे-धीरे थपकियाँ दीं और बारी-बारीसे एक-एकको धकेल दिया। बच्चे लौटे और नरसे लिपट गये। नारी छलाँग मारती उपत्यकाकी सीमापर खड़े वृक्षोंमें खो गयी।

बच्चे कभी नरके कन्धोंसे, कभी पारिजातकी शाखाओंसे लटक-लटक खेलने लगे। उनके फेंके पत्थरोंसे कृशकाया नदीमें वृत्ताकार तरंगें उठतीं जिन्हें कुतूहलवश पकड़नेके लिए वे उसमें कूद पड़ते। दुपहरीकी धूपसे नदीका शीतल जल उनकी रक्षा करता। सहज स्फूर्तिसे वे इस पारसे उस पार और उस पारसे इस पार तैर जाते और उनकी क्रीड़ाध्वनि समीपके जलप्रपातके गम्भीर घोषमें डूब जाती।

जब नरने दो पत्थरोंको रगड़ सेमलकी रूईमें अग्नि-संचार किया उसका मुख-मण्डल बालरविकी अरुणाईमें अग्निज्वालाके सम्पर्कसे चमक उठा। श्मश्रुल मुख अधिकतर काले बालोंसे छिपा कुछ भयानक हो रहा था और जहाँ-तहाँ उनके भीतरसे वह झलक जाया करता। चिपटी नासिकाने होठका अग्रभाग अधिकतर ढँक लिया था और उसके रन्ध्रोंसे निकलकर लम्बे केशगुच्छ वायुमें फहरा रहे थे। छोटी-छोटी टहनियाँ और सूखे पत्ते उसने अग्निमें डाल दिये, फिर वह वन्य मानव-जन्तु दौड़कर अपने बाल-कुटुम्बसे जा मिला।

आखेटसे नारी लौटी। उसके सुपुष्ट अंगोंमें आखेटके वेगने स्फूर्ति भर दी थी। चौड़े सुडौल कन्धोंसे दो मृग उतार उसने अग्निमें फेंक दिये। नीचे नदीके कूलसे दौड़कर बच्चे उससे लिपट गये। उसने उन्हें चाटा, चिमटाया। तीसरा पहर हो चला था, भूखकी मात्रा स्पष्ट हो चुकी थी।

सन्ध्या समय लकड़ियाँ चुनते कनिष्ट कुमारको जब सिंह उठा ले चला, उसके चीत्कारसे वनप्रान्तर गूँज उठा। उपस्थित भयकी आशंकासे बच्चेको गुहामें छोड़ नर और नारी बाहर दौड़ पड़े। उन्होंने देखा, सिंह उनके बालकको लिये एक छलाँगमें क्षीण स्रोत लाँघ गया। अर्थरहित शब्द करते दोनों उसकी ओर दौड़े।

सिंह रुका। उसने फिरकर पीछे देखा। नारीने उसको लक्ष्य कर पत्थर मारा, उसका एक नेत्र जाता रहा। एकाएक उसकी पूँछ फड़की और वह कूदकर नदीके इस पार आ पहुँचा। नर-नारी पासके वृक्षपर चढ़ गये। सिंहने वेगसे उछलकर उनपर आक्रमण किया। नारीने हथौड़ेसे उसके मस्तकपर भरपूर आघात किया। वह नीचे आ रहा।

नरने जो पत्तोंकी आड़से नदी-पार दृष्टि डाली तो बेटेको मृत्युके साथ अन्तिम संघर्ष करते पाया। स्नेहातिरेकने उसके भयको जीत लिया।

सिंह उसकी आँखोंसे ओझल-सा हो गया और वह विकराल मानव वृक्षसे कूद पड़ा। आहत मृगेन्द्र अपने फटे मस्तकसे बहते रक्तस्रोतसे लहूलुहान हो रहा था। विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुँहको खोल पलक मारते वह उसपर टूट पड़ा। बिजलीकी भाँति चमककर नर वृक्षके पीछे हो लिया। सिंह फिर झपटा पर अबकी वह नरके प्रस्तर-प्रहारको न सँभाल सका। उसकी एक ग्रीवा टूट गयी।

केसरी पीछे हटा, उसके केसर सहसा हवामें लहरा उठे। क्षण-भरमें नर उसके वक्षके नीचे ढँक जाता पर नारीके फेंके पत्थरकी चोट सिंहकी कोखमें लगी और वह एकाएक सुन्न हो गया। नर उसके नीचेसे बिल्लीकी भाँति सरक निकल भागा।

नारी वृक्षसे कूदी और आहत बेटेकी प्राणरक्षाके अर्थ उसके पास दौड़ गयी। जलस्रोत लाँघ जब वह उस पार पहुँची, बालककी मृत्यु-वेदना चरम सीमातक पहुँच चुकी थी। माँकी गोदमें उसने दम तोड़ दिया। इसी समय सिंह गरजा और नरने चीत्कार किया। निश्चेष्ट नारीका स्वप्न टूटा। उसने जब नदी-पार दृष्टि फेरी, केसरी और मानवको परस्पर गुँथा देखा।

अद्भुत दृश्य था उस पशु-मानव-युद्धका। दोनों एक-दूसरेसे चिमट गये थे। सिंह पंजोंसे मनुष्यपर प्रहार कर रहा था और मनुष्य उसपर हथौड़ा बरसा रहा था। दोनोंकी शक्ति क्षीण हो गयी थी, दम फूल रहा था, पर अन्यथा मृत्युकी आशंकासे दोनों चोटें कर रहे थे। नरकी अँत-ड़ियाँ सिंहने निकाल डाली थीं और सिंहकी बची आँख भी नरने अपने लम्बे नखोंसे फोड़ दी थी। अन्धा पशु मनुष्यपर अनजानी चोटें करता और मनुष्यमें किंचित् हटकर अपनी रक्षा करनेकी ताब न थी।

बड़ा लोमहर्षण संघर्ष था। जब नारी वहाँ पहुँची, उसने नरको क्षतविक्षत देखा और सिंहको लहूलुहान। एक अनोखी वन्य भावनाने उसके हृदयमें प्रवेश किया। क्षण-भर उसकी इच्छा हुई कि वह यह अद्भुत

मरणान्तक पशु-मानव-युद्ध देखे, उसमें योग न दे। परन्तु शीघ्र आत्मीयके वियोग और पुत्रके प्रतिशोधकी असह्य मात्राने उसे धर दबाया। उसका वक्ष फूलने लगा और वह क्रुद्ध मानवी तड़पकर पशुपर टूट पड़ी।

सहायताका आभास पा नरने संज्ञा लाभ की। अस्फुट मुसकानकी एक क्षीण रेखा उसके मुखपर दौड़ गयी। विलुप्तप्राय संज्ञामें भी वह सिंहपर आघात कर रहा था, अब उसकी चेष्टा और भी तीव्र हो उठी। उसके उत्साहने शक्ति पायी और उसकी निर्बल काया एक बार फिर सचेष्ट हो उठी। हथौड़ा उठानेकी शक्ति उसमें न थी पर वह पशुकी देह जहाँ-तहाँ नखोंसे नोचने लगा। नेत्रहीन केसरी रह-रहकर क्रोधसे दहाड़ उठता, वेदनासे चीत्कार कर उठता। नारीके हथौड़ोंसे अपनी रक्षा करनेके निमित्त अन्धा पशु अपना मस्तक इधरसे उधर और उधरसे इधर हटाता और मुँह खोल वह हवामें अपने अगले पैर मारता पर हथौड़े, सधे हुए, उसके मस्तकपर पड़ते और वह बिलला उठता। फिर नीचे पड़े मानवको बदलेमें दबा उसके पार्श्वकी एकाध अस्थियाँ तोड़ डालता। वेदनासे भर जब पुरुष चिल्ला उठता नारी अपने आक्रमणका वेग द्विगुणित कर देती।

नारीके निरन्तर आघातोंसे जब सिंहका मस्तक चूर्ण हो गया तब उसके गिरनेके शब्दको सुन मरणासन्न मानव उठा, पर उसमें खड़े होनेकी शक्ति न थी। उसका निर्जीव शरीर-पंजर सिंहके शवपर गिर पड़ा।

क्रोध और प्रतिशोधके द्विगुणित वेगसे प्रेरित नारी मृत सिंहपर फिर टूटी। उसका वक्ष उसने पत्थरकी छुरीसे फाड़ डाला, अस्थियाँ हथौड़ेसे तोड़ दीं। नारीके चीत्कार और हुंकारको सुन बच्चे भी गुहासे निकल आये। उन्होंने देखा, सिंहके वक्षसे रक्तकी धारा फूट पड़ी है और माँ अंजलियाँ शोणित भर-भर पी रही है। अभी थोड़ी देर पहले सिंहने उसके बच्चेका रुधिर पिया था, अब वह स्वयं उसे लौटा रहा था। बच्चे भी गुहासे निकल उसपर टूट पड़े और लगे माँका अनुकरण करने। शोणितकी धारा उष्ण थी, उसमें एक अद्भुत, अपूर्व स्वाद था, उनका अनजाना।

युद्धका अन्त बड़ा रोमांचकारी था। घटनाओंसे भरे जीवनकी सन्ध्या-वेलामें वन्य-मानव केसरीके मस्तकपर अपना मस्तक रखे अनन्त निद्रामें निर्विघ्न सो रहा था। उसके श्मश्रु केसरीकी सटासे उलझे थे और उसका रक्त मृगेन्द्रके रक्तमें खो गया था।

दस वर्ष बाद।

नारीकी शक्ति और सत्ता दोनों क्षीण हो गयी थीं। शक्तिकी छाया-भर शरीरपर रह गयी थी, सत्ताका आभास-मात्र अब उसके कुटुम्बियोंको होता था। कभीकी सौन्दर्यधनी नारी आज अप्रतिभ, निस्तेज हो गयी थी। आखेट और अन्य कौटुम्बिक व्यापार धीरे-धीरे शक्तिमती कन्याओंके हाथमें चले जा रहे थे। फिर भी उसके शासनका किसीने विरोध नहीं किया।

पुत्रियोंका रूप निखर आया था। बड़ी, छब्बीस वर्षकी सलोनी युवती, माँसे सदा कुछ खिंची रहती। कारण स्पष्ट न था पर माँको कभी-कभी इसका आभास खलता। यह युवती माँकी सत्ताकी उत्तराधिकारिणी थी। शारीरिक शक्तिमें माँ उसका लोहा मानती थी। छोटीने कदाचित् इन बातोंको अभी सोचा न था। वह खेलती, खाती, सो जाती।

वसन्तकी दुपहरीमें गुहाके चारों प्राणी जलस्रोतमें कूद पड़े। सबसे आगे युवक था, उससे लगी बड़ी युवती, और पीछे छोटीके साथ नारी। चारों तैर रहे थे। युवकने सहसा डूबकर युवतीको टाँग लिया, फिर चाटकर उसे बहावकी ओर दूर फेंक दिया। नारी देख रही थी। एक अनियन्त्रित भाव उसके हृदयमें वेगसे उठा और वह दो हाथ आगे तैर गयी। युवक-युवती हँसते, किलकते, धाराके सहारे बहे जा रहे थे। नारी

रुकी और बहावके साथ धीरे-धीरे बहने लगी। उसके हृदयमें एक नये भावस्रोतका जन्म हो चुका था और वह उसमें डूबने-उतराने लगी। उसके भीतर हलचल-सी मची थी। सामने जो दृष्टि गयी, उसने देखा—युवकने युवतीके गलेमें बाँह डाल दी है और दोनों आनन्दसे पुलकित चुपचाप बहे जा रहे हैं—निरुद्देश्य, निःशब्द।

अब सँभालना असम्भव था। भीतरके उठते भावोंने धक्का दिया। जलको वेगसे चीरती नारी उनकी पीठसे जा लगी। युवतीके मस्तकमें उसने बलपूर्वक सिरसे ठोकर मारी। युवककी त्यौरी चढ़ गयी। युवतीने एकाएक लौटकर नारीकी गरदन पकड़ ली। नारी आत्मरक्षाके लिए छटपटाने लगी। युवकने बढ़कर छुड़ा दिया और नारी छोटी युवतीको ले गुहामें चली गयी।

सन्ध्या हो चली थी। तेजहीन सूर्य प्रतीचीका सुवर्णरंजन कर रहा था। श्वेत, रुईकी भाँति हलके मेघ स्वर्णांकित छोरोंसे सजे व्योममें इधरसे उधर बह रहे थे। कलकल करता जलस्रोत वनस्थलीके अंचलमें कन-कतारकी भाँति दमक रहा था। रविरश्मियोंके स्पर्शसे जलप्रपातसे उठते असंख्य नीहारोंमें अनेक रंग रह-रहकर चमक उठते। रंगबिरंगे फूलोंसे प्रकृतिकी गोद भरी थी। युवक और युवती एक-दूसरेके गलेमें बाँह डाले प्रपातके पास खड़े उसके नीहारोंमें उठते-बैठते रंगोंको कुतूहलपूर्वक देख रहे थे। ऊपर मृगोंका एक जोड़ा दौड़-दौड़, उछल-उछल, खेल रहा था। पुलकित युवतीमें सहसा कम्पन हुआ। उसका शरीर बेंतकी नाईं हिल गया। युवतीके इस कम्पनसे, उसके स्पर्शसे, युवकका अन्तरतम हिल उठा। उसने अपना मस्तक युवतीकी ग्रीवापर रख दिया। युवती एकाएक युवकको उठा एक ओर दौड़ गयी।

नारी वृक्षकी ओटसे उनकी गतिविधि देख रही थी। वह तड़पकर कई पग आगे निकल आयी, फिर सहसा रुककर गुहाकी ओर घूम पड़ी।

उसके नथने फूल रहे थे, नेत्रोंसे अग्निकी लपटें निकल रही थीं। इसी समय पारिजात वृक्षपर कोयल कूक उठी। पिछले कई दिनोंसे नारीको एक अपूर्व भावनाने धर दबाया था। उसकी स्वभावतः सुलझी भावरज्जुओंमें गुत्थी पड़ गयी थी और इस उलझनको वह सुलझा नहीं सकती थी, सारी शक्ति लगाकर केवल वह उन्हें तोड़ सकती थी। उसे अकारण क्रोध हो आया करता। छोटी युवती जब उसके पास आती, वह मुँह फेर लेती। भोजन कई दिनोंतक उसने छुआ तक नहीं। वह चाहती कि सारे विश्वको उखाड़ फेंके।

उसके सर्वथा जलते शरीरपर कोयलकी कूक नमककी भाँति लगी। वह पारिजातपर लपकी। कोयल तो उड़ गयी पर नारीने उसका नीड़ उजाड़ फेंका। उसमें पड़े अण्डोंके शत-शत खण्ड कर डाले। जब इससे भी जी न भरा तब उसने वृक्षकी कितनी ही डालियाँ तोड़ डालीं, पासके फूल-पौधे उखाड़ फेंके। उसका जीवन डाँवाडोल हो रहा था। उसके छोटे-से हृदयमें प्रलयकी आँधी उठ रही थी।

आज उसने जाना—अब वह अपने कुटुम्बकी स्वामिनी नहीं रही। उसकी सत्ताका ह्रास वेगसे हो चला था। उसकी कामना और उसके अनियन्त्रित शासनमें बार-बार ठेस लगने लगी थी। फिर भी उसके लिए यह स्वीकार करना कठिन था कि जिस पुरुषपर वह आँख लगाये उसे उसीके शासनमें पली छोकरी सामनेसे उठा ले जाये। सारा शरीर जल उठा। क्रोध और क्षोभकी हृदयमें एक बाढ़-सी आ गयी। नारी उपत्यकामें दौड़ पड़ी।

कुछ अद्भुत रहस्य था उसके हृदयका – जब युवक और युवती गुहामें रहते वह उनसे ईर्ष्या और घृणासे जला करती, जब वे उसकी आँखोंसे ओझल होते उसके क्रोधकी सीमा न रहती।

तृष्णाका उन्माद लिये युवक-युवती वनमें खो गये थे, तृप्तिकी शान्ति लिये वे लौटे। नारीने मुँह फेर लिया।

निशीथकी वेलामें सर्वत्र नीरवताका राज था। रात्रिकी निस्तब्धताको और भी भयानक करता हुआ कभी-कभी दूरसे व्याघ्र दहाड़ उठता था। गुहाके प्राणी गाढ़ी निद्रामें निमग्न थे। केवल नारी जाग रही थी। उसके हृदयमें घातक भावोंका बवण्डर उठ रहा था, बेचैनी उसमें मूर्तिमती हो बैठी थी। वह कभी उठती, कभी बैठती। श्वास-प्रश्वाससे रह-रहकर उसकी छाती फूल उठती। कभी वह ऐसी गम्भीर, ऐसी स्तब्ध हो जाती कि उसके श्वासोंकी गति भी रुकी-सी जान पड़ती। सहस्रों कल्पनाएँ, प्रतिशोधकी भावनाएँ, उसके अन्तरमें उठतीं और वह झंझावातमें पड़ी नौकाकी भाँति कभी आगे कभी पीछे होने लगती।

धीरे-धीरे वह उठी। उसने देखा, युवक और युवती पास-पास सो रहे हैं। उनके केश आपसमें उलझे हुए हैं, उनके मुखपर बालकोंकी-सी सरलता खेल रही है। नारी लौटी और चुपचाप अपने स्थानपर बैठ कुछ सोचने लगी। धीरे-धीरे उसका विवर्ण मुख गम्भीर हो उठा। वह इस मुद्रामें घड़ियों कुछ विचारती रही। रह-रहकर उसके नथने फूल जाते, उसकी भुजाएँ फड़क उठतीं। सहसा उसके मुखसे एक हुंकार निकली जो चिरसोची कामनाके सम्बन्धमें निश्चय किये कार्यक्रमकी सूचना थी।

महीनों बाद आज नारी अपना कर्तव्य स्थिर कर सकी थी। सिरसे एक बोझ-सा उतर गया। धीरे-धीरे वह लम्बी हो गयी। आज-सी गाढ़ी नींद कदाचित् उसे जीवन-भर नहीं आयी थी। जब वह उठी, दिन चढ़ आया था और सूर्यकी किरणें गुहाको प्रकाशित कर रही थीं।

तीसरे पहर नारी आखेटसे अकेली लौटी। युवा कुछ उत्कण्ठित हो उठा। अनेक कुभावनाएँ हृदयमें उठीं, पर वह देरतक असमंजसमें नहीं रहा। नारी उसका हाथ पकड़ एक ओरको खींच ले चली। विपत्तिकी आशंका युवाको हो आयी थी और नीयमान अन्धेकी नाईं वह उसके सहारे चला जा रहा था। दोनोंके हृदय भावनाओंके रंगस्थल बन रहे थे।

एकका हृत्कमल विकसित हो रहा था, दूसरेका सम्पुटित।

लगभग तीन मील चलनेके बाद नारीने युवकको एक ऊँची चट्टानपर चढ़नेका संकेत किया। शब्दके अभावमें कल्पना और विचारोंका आधिक्य रहता है। उसका माथा ठनका और बहुत-कुछ उसने बिना सुने ही समझ लिया।

पहाड़ीकी दूसरी ओर सैकड़ों हाथ गहरे खड्डकी ओर नारीने उँगली उठायी। युवाने देखा, नीचे मानव-आकृतिवाले किसी अस्पष्ट पदार्थके अंग बिखरे पड़े थे। अब और कुछ जानना शेष न रहा। आँसुओंकी धारा बह चली और मानव-पशु अत्यन्त पीड़ासे कराह उठा।

मनस्विनी नारीने अपनी विजयपर अट्टहास किया। नग्न प्रकृतिने उसकी प्रतिध्वनि की। एकके चीत्कार और दूसरीके अट्टहाससे वनान्त प्रकम्पित हो उठा। क्षितिजने जैसे इस कृत्यसे अपनी भौंहें फेर दिशाओंके अंचलमें छिपा लीं। नारीका अट्टहास दिशाओंसे टकरा-टकराकर युवकके हृदयदेशमें गूँजने लगा। क्षण-भरमें एक घातक, भीषण भावना उसके हृदयमें उठी। उसके आँसू थम गये और उसकी मुद्रा कठोर, गम्भीर हो उठी। वह सहसा फिरा और उसने नारीको अपने हाथोंमें उसकी गरदन और पैर पकड़कर उठा लिया। नारी रक्षाके लिए छटपटाने लगी। परन्तु महिषकी भाँति बलसीम युवकने अपने हाथोंमें और कसकर उसे सिरके ऊपर उठा लिया। आत्मरक्षाके लिए हाथ-पैर फेंकती नारी एकाएक व्योममें चमकी और वेगसे नीचे जा रही—सैकड़ों हाथ गहरे मृत्युके हृदयखड्डमें।

युवा जब लौटकर एकमात्र आत्मीयाके समीप पहुँचा उसमें दम नहीं रह गया था। युवती उसे देख रो पड़ी। उसने नारी और अग्रजाको साथ जाते देखा था पर लौटते एकको देखा, फिर नारी और युवकको जाते साथ-साथ देखा था, लौटते एकको देखा!

युवकने उसका हाथ पकड़ लिया और ले चला खड्डकी ओर। चट्टान-

पर चढ़कर युवतीने नीचे खड्डमें दो मांसपिण्ड देखे। लौटकर वह युवककी गोदमें जा गिरी। युवकने उसे अंकमें भर लिया और दोनों गुहाकी ओर लौट पड़े। दोनों गम्भीर थे—निरश्रु, निःशब्द।

युवकने सहचरी युवतीमें जो खोया वह इस घटा-से उठते हुए यौवनके आश्रयमें पाया।

१४ दिसम्बर १९३६
प्रात: ४—६.३०

विन्ध्यकी उपत्यका

[पुरुषने स्त्री-जातिपर विजय प्राप्त कर ली थी। कालने करवट ली थी और वैज्ञानिकोंका पितृसत्ता-युग (पैट्रिआर्कल स्टेट) जगत्की मूर्धापर अभिषिक्त था। भाषाकी उत्पत्ति हो चुकी थी पर अभीतक पारिवारिक सम्बन्धसे प्रादुर्भूत आचारोंकी सृष्टि नहीं हुई थी। विवाह अज्ञात था, सास-ससुर, पुत्रवधू आदिकी कल्पना अनजानी थी। केवल दो वर्ग थे—पुरुष और नारी। जातियों और जनोंका संघर्ष सर्वत्र विद्यमान था। अधिकतर भूखण्ड जलप्लावित था। जलप्रलय (डेलूज) की स्मृति आर्य-अनार्य प्रायः सभी गाथाओंमें सुरक्षित है। कहानीका प्रारम्भिक अंश भूशास्त्र और मानव-विकासके सर्वथा अनुकूल न होकर भी उसी विज्ञानकी दिशामें संकेत करता है। जल-प्रलयका मूल स्थान दजला-फ़ारातके मुहानेपर अवस्थित सुमेरमें था।]

सारा उत्तरी प्रदेश सुविस्तृत जलराशि था। केवल वह स्थल, जिसे हम पंजाब कहते हैं, सूखा था। राजपूतानेकी मरुभूमिमें तब समुद्र लहरें मारता था। तब न राजस्थान था, न अरब, न अफ़्रीकाका सुदान। यह सारी मरुभूमि जलमयी थी। यदि कहीं पाँव टिकते तो केवल पंजाबके कुछ भागोंमें। पंजाब और विन्ध्य प्रदेशको एक पतला भूदण्ड मिलाता था। फिर विन्ध्य-शृंखलासे लगी दक्षिणकी प्रस्तरमयी भूमि सुदूर दक्षिणी महासागरके फेनिल तटको छूती थी।

इस विन्ध्यमेखलासे निकला भूप्रदेश घने आदिम जंगलोंसे ढँका था। अनेक जीवधारी—मनुष्य, पशु, पक्षी—इस वनपर्वत-प्रान्तमें निवास करते

थे। सिंह और मानव, व्याघ्र और मृग, मयूर और सर्प सभी अपनी रक्षा करते, अपना भाग पाते थे।

मनुष्य सार्थक शब्दों-द्वारा अपने भाव व्यक्त करने लगा था। क्रोध, विषाद और सन्तोष भाषा-वसन धारण कर चुके थे। कदाचित् मनुष्यने ज्ञान-वृक्षके स्वादु फल खा लिये थे। सर्पसे उसकी शत्रुता घनी हो चुकी थी और धीरे-धीरे उसने अपना तन ढँकना प्रारम्भ कर दिया था। मातृ-शक्तिका अब अवसान हो चुका था, पितृसत्ताका मध्याह्न था। मनुष्य फल और मांस खाता था—कड़े छिलकेवाले फलोंको छीलकर, मांसको राँधकर।

मनुष्य-जातिके विविध प्रान्तोंमें रहनेवाले अनेक जन थे। सबके भय भिन्न थे, आराधनाएँ पृथक् थीं। सबके अपने-अपने सांकेतिक नाम विशेष थे—नागपूजकोंका जातिलक्षण सर्प था, वृक्षपूजकोंका वृक्ष।

अपार जलवृष्टि हुई। दिनों, महीनों, वर्षों। घनघोर, निरन्तर। जल न थमा। व्योममें मेघ उमड़ते रहते। मनुष्य आश्चर्यसे चकित था। मेघ किस आधारसे, किस अक्षय निधिसे निकल-निकलकर गगनको ढँक लेते हैं?—वह पूछता। सूर्यके दर्शन दुर्लभ थे, रात्रि भयानक होती।

मेघोंका ताँता नहीं टूटता था। ऐन्द्रजालिकके पोलोंकी भाँति वे निकलते ही आते। पूर्वसे पश्चिम और पश्चिमसे पूर्व, उत्तरसे दक्षिण और दक्षिणसे उत्तर—सदा उनकी धारा बहा करती। मोटी, ठण्ढी धारा सदा आकाशसे टूटती पृथ्वीको सहस्रशः कूटती रहती। दिन रात्रि-सा काला हो जाता और रात्रिके अनुमानके लिए दृष्टि ही न थी। एकमें-से एक मेघोंकी परत-पर-परत निकलती और वायुके झोंके लगते ही बरस पड़ती।

वर्षाके साथ प्रचण्ड झंझावातका निरवच्छिन्न बन्धुत्व था। दिन-रात भयंकर आँधी चला करती। मेघोंके परस्पर टकरानेसे आकाश निरन्तर आग उगलता रहता, सदा बिजली कौंधती तड़पती रहती। भूखण्ड टूटकर बह चलते। वृक्षोंकी अनन्त श्रेणी जल-प्रवाहमें बहती रहती। अनन्त जीव

इस प्रलयंकर वृष्टिमें बह गये। सूखा स्थान नहीं था, जहाँ वे शरण लेते।

शीतके प्रकोपसे वनस्पति जल उठे, जीव अकड़ गये। सृष्टिका सबसे विचक्षण प्राणीमनुष्य विस्मित, चकित था। क्या करे? कहाँ जाये? कहीं पाँव नहीं टिकते थे। पंजाब और अन्तर्वेदके समीपसे वह भागा और निरन्तर भागता रहा। अन्तमें विन्ध्यकी उपत्यकामें ऊँचे पर्वतीय प्रदेश-में—उसके पग टिके। वहाँ पहुँचकर उसने साँस ली।

पर उसके लिए वहाँ भी स्थान कहाँ? बड़ी विपत्तिका सामना था। अपने ही-से पशु—अन्य मनुष्य, वहाँके प्राचीन निवासी—उसपर आक्रमण करने लगे। पर उत्तरी मनुष्यने संकल्प किया—अब यहाँसे जाना न होगा। वह यहीं रहेगा और आक्रमणका उत्तर देगा आक्रमणसे।

"पुक्कस! पुक्कस!"

पुक्कस 'ऊँ' करके चुप हो रहा।

रात्रिका तीसरा पहर था! उसकी निद्रा गम्भीर थी।

"पुक्कस! दर्दुर! बर्बर! उठो, उठो, नहीं आजकी नींद फिर न टूटेगी। शत्रुओंकी सेना समीप आ पहुँची।"

दर्दुर और बर्बर झट उठ बैठे। पुक्कस भी अँगड़ाता हुआ उठा।

दर्दुर और बर्बर अपने भाले और धनुष-बाण सँभालते हुए एक साथ बोल उठे, "शत्रुओंको कुमक? आग्नेयोंकी? क्या तुमने देखी पण्ढुर?"

"हाँ हाँ, मुख्य द्वारकी रक्षा करो, प्राणोंकी बाजी है। मैं औरोंको सजग करने चला।"

तनिक देरमें पल्लीके सारे स्त्री-पुरुष अपने भाले और धनुष-बाण लिये मुख्य द्वारपर आ पहुँचे। पुक्कस उनका सरदार था। उल्लूकी-सी उसकी छोटी, गोल आँखें अन्धकारमें दूरतक देख लेती थीं। क्षण-भरमें

उसने अपने वीरोंको स्थान-स्थानपर नियत कर दिया। मुख्य द्वारके ऊपर वह स्वयं चढ़ गया, उसके दायें-बायें खड़े हुए दर्दुर और बर्बर।

शत्रु आ पहुँचे। धीरे-धीरे सतर्क और भयानक। काले, छोटे-मोटे ये वन्य वीर अन्धकारमें वृक्षोंकी आड़में छिपते चुपचाप बढ़े आ रहे थे। सहसा पल्लीमें कुछ आहट मिली। सामने बढ़ते सरदारने पार्श्वके साथी-पर अर्थ-भरी दृष्टि डाली। उसने सिर हिला दिया—"कोई सन्देहकी बात नहीं, सब ठीक है।"

इसी समय पुक्कसका विष-बुझा बाण उसके वक्षमें लगा और वह 'आह !' कहकर लोट गया।

आग्नेयोंका सरदार सब-कुछ समझ गया। हाथका संकेत कर वह झाड़ियोंके बीच दौड़ा। आहटकी परवाह न कर दो सौ आग्नेय-वीर उसके पीछे दौड़ पड़े।

पुक्कस और उसके दोनों पुत्र मुख्य द्वारसे बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। पग-पगपर आग्नेय गिरने लगे, पर उनकी बाढ़ पुक्कसोंके रोके न रुकी। उन्होंने मुख्य द्वारपर भयानक आक्रमण किया। दर्दुर और बर्बर प्राकारके पीछे प्रांगणमें कूद पड़े।

सहसा दक्षिणकी ओर दीवार जल उठी और जबतक मुख्य द्वारके कुछ रक्षक उसकी ओर बढ़ें आग्नेयोंके प्रबल आक्रमणसे मुख्य द्वार टूट गया। पुक्कस अपने दलमें कूद पड़ा।

आग्नेयोंको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने सोचा था, पल्लीके निवासी निद्रामें ही मृत्युके घाट उतार दिये जायेंगे। पर उनका अनुमान निराधार सिद्ध हुआ। पल्लीके वीर सजग सोते थे। उनके नित्यके रक्षा-प्रहरी नियत थे जो सदा रक्षामें सतर्क रहते। नये देशमें रहते-रहते उन्होंने अपनी रक्षाके साधन प्रस्तुत कर रखे थे। फिर आग्नेयोंका यह आक्रमण पहला न था।

मुख्य द्वार तोड़ जब आग्नेयोंने पल्लीमें प्रवेश किया, वे चकित रह

गये। उन्होंने पुक्कसोंके एक-एक पुरुष, एक-एक नारीको रक्षार्थ सन्नद्ध पाया। भाला लिये वीर युवकोंकी एक दीवार-सी उनके सामने अड़ी थी। मिट्टी-लकड़ीकी दीवार उन्होंने तोड़ दी, पर इस मानवी दीवारको भेदना कठिन था। क्षण-भरके लिए आग्नेय किंकर्तव्यविमूढ़-से हो रहे, फिर शीघ्र उन्होंने शत्रुओंपर धावा बोल दिया। भालोंकी चोट भालोंपर पड़ी।

घमासान छिड़ गया। दोनों पक्ष मरणान्तक समरमें गुँथ गये। भल्लों-के ताम्रमुख और बाणोंके फलक दक्षिणकी ओर जलती अग्निके प्रकाशमें रह-रहकर चमक उठते। पल्लीकी झोंपड़ियोंकी छतोंसे बूढ़े और स्त्रियाँ पत्थर और वाण फेंकतीं और सामनेसे वीर घने वार करते। दर्दुर और बर्बर अपने साथियोंको लिये मृत्युसे खेल रहे थे। उनकी स्फूर्ति दर्शनीय थी, आक्रमणकी रीति प्रशंसनीय।

शवोंसे रणक्षेत्र पट गया। रक्तसे प्रांगण रँग गया। कहीं कोई कराह रहा था, कहीं कोई दम तोड़ रहा था। अग्नि बुझ चली थी और युद्धका वेग बढ़ गया था। शत्रु-मित्रकी पहचान कठिन थी। आग्नेयोंने विजयकी आशा छोड़ दी। वे जानपर खेलने लगे। उनका सरदार ललकार-ललकार उनको बढ़ावा देने लगा। अद्भुत शक्ति थी इस आग्नेय-में भी। कभी यहाँ, कभी वहाँ, वह सर्वत्र दिखाई पड़ता था। विद्युत्की भाँति कभी वह खो जाता, कभी भालेके साथ चमक उठता।

पुक्कसका लक्ष्य वही था। लड़ते-लड़ते वह टूटी दीवारके समीप आ गया था। पुक्कस एकाएक कूदकर प्राकारपर चढ़ गया और बिल्लीकी भाँति दीवारसे चिपका वह उधर बढ़ा जिधर आग्नेय सरदार उसके वीरों-को मृत्युके घाट उतार रहा था।

एकाएक पुक्कस उछला और भालेको तौलकर उसने वह चोट की जिससे उसका भाला सरदारका बायाँ कन्धा छेदता दाहिने पार्श्वमें निकल आया। सरदार कटे वृक्षकी नाईं गिर गया। पुक्कस अपने दलसे जा मिला।

सरदारके गिरते ही आग्नेयोंके पैर उखड़ गये। भागते-भागते वे अपने कितने ही वीर पुक्कस, दर्दुर, बर्बर, पण्डुर आदिके भालोंमें अटके छोड़ गये।

पर शत्रुओंने उनका पीछा न छोड़ा। वे उनके पुर तक चले गये। आग्नेय वहाँ न ठहरे। उन्होंने अन्यत्र वनमें शरण ली। उनके घर खुले, अरक्षित मिले। पुक्कसोंने लेने योग्य सारी वस्तुएँ ले लीं, पुरमें आग लगा दी, स्त्रियोंको पशुओंकी भाँति बाँध लिया।

लौटनेसे पहले आग्नेयोंके बच्चे-बूढ़ोंको उन्होंने आकाशचुम्बी अग्निमें डाल दिया। उनके चीत्कारसे पत्थरका हृदय भी दरक गया पर मानव-हृदय हिंस्र जन्तुओंसे कहीं बढ़कर कठोर था। जलते हुओंके चीत्कार पुक्कसोंके अट्टहासमें डूब जाते और जो अग्निसे भागनेका प्रयत्न करते उन्हें वे भालोंकी नोंकसे पुनः अग्निमें ठेल देते।

सारा गाँव जलकर भस्म हो गया। शत्रुओंने भुने मांसका कलेवा किया और वे स्त्रियोंको हाँक ले चले। पल्लीमें इनकी प्रतीक्षा हो रही थी। नारियाँ लूटकी सबसे मूल्यवान् वस्तु थीं। वे बाँट ली गयीं। सिंहभाग पुक्कसको मिला।

पुक्कसका परिवार सुखी था। उसकी छह स्त्रियाँ आग्नेय और नाग-पल्लियोंसे युद्धमें जीती हुई थीं। सातवीं उसकी ही युवती कन्या थी। समाजका वर्तमान रूप अभी सुदूर भविष्यके गर्भमें था। आचारोंकी अभी सृष्टि नहीं हुई थी। कन्या पिताकी और भगिनी भ्राताकी अभोग्या न थी। स्त्री-जाति मात्र पुरुपकी थी और एक पुरुपपर उसकी संख्या उतनी थी जितनी वह सँभाल सकता।

दर्दुर और बर्बरको भी स्त्रियाँ थीं—पिछले आग्नेय-युद्धके अवसरपर शत्रुओंसे छीनी हुईं।

पुक्कसकी स्त्रियोंमें कुछ पकानेके लिए पक्षी काट रही थीं, कुछ हालके मारे शूकर और मृग। कन्या आग जला रही थी। बेटे नीचे नालेसे जल निकाल रहे थे और उनकी स्त्रियाँ मिट्टीके सुन्दर चित्रित घटोंमें जल ढो रही थीं। पुक्कस अग्निके पास बैठा हाथ सेंकता उन्हें देख रहा था।

दर्दुरकी स्त्री सुन्दर थी। जब वह चलती उसके भारसे पृथ्वी मानो दबी जाती। उसके स्वच्छ मुकुरके-से वदनपर मुसकान सदा खेला करती। जनका एक-एक युवक उसका दीवाना था। अपनी विभूतिसे यह नारी उदासीन न थी। जब कोई युवक उसकी ओर देखता हुआ निकलता, वह मटककर क्षणभर रुक जाती, फिर हँसती हुई उसके उठते भावोंको मसलती चली जाती। पुक्कसकी कन्या उसे कुछ ईर्ष्यासे देखती और दर्दुर स्निग्ध सन्तोषसे निहारता। पुक्कस जब उसे देखता, मुसकराता। उत्तरमें वह हँस देती। एकके हृदयमें दाह था, दूसरीके हृदयमें उन्माद।

पुक्कस उसका जल ढोना देर तक देखता रहा। फिर जब वह जल रखकर लौटी, वह उठा।

उसने पुकारा, "घटी!"

घटी ठुमककर खड़ी हो गयी। साधका स्वर सुन उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। हृदय नाच उठा। लम्बी गरदन घुमाकर उसने उसकी ओर देखा। पुक्कस धीरे-धीरे उसके पास पहुँचा और उसे उसने अपनी सबल बाहुओंमें भर लिया। गद्गद नारीने एक बार उन भुजाओंकी शक्तिपर गर्व किया फिर अपनी मोहिनी मूर्तिपर। बर्बरकी स्त्री पास खड़ी हँसती रही। बाहुपाशसे छूट जब घटी दर्दुरके पास पहुँची प्रसन्नता और नवीन गौरवसे उसका मुख दमक रहा था। दर्दुरने उसके सदासस्मित वदनपर कोई विशेष अन्तर नहीं पाया।

जब घटी जलका घड़ा लिये फिर लौटी दुर्दर, बर्बर और उसकी स्त्री सभी साथ थे। पुक्कस अभीतक राहपर खड़ा था। जिस लालसाका स्वाद उसे अभी-अभी मिला था उसकी उमंगमें भरा वह भूखा मानव

तृप्तिके सम्भारका भिखारी बन राह रोके खड़ा था। उसने घटीको फिर पकड़ा और बगलमें दाव घड़ा स्वयं ले चला।

घटीका मुख गर्वसे चमक उठा। बर्बर और उसकी स्त्री दोनों हँस पड़े। दर्दुरकी भौहें तन गयीं। पुक्कसकी स्त्रियोंने एक बार इस दृश्यकी ओर देखा, फिर वे अपने कार्यमें लग गयीं। दर्दुरको एकाएक क्रोधने धर दबाया। वह पिताकी ओर बढ़ा। बर्बरने उसे पकड़ लिया पर उसने उसे झटका दिया। पुक्कसने अपने पीछे जो हलचल सुनी वह घूम पड़ा। पर दर्दुरने उसे अवकाश न दिया। दौड़कर उसके हाथका घड़ा उसने पृथ्वीपर पटक दिया और घटीको बलपूर्वक खींचकर अपने पार्श्वमें कर लिया।

पुक्कसके नेत्रोंसे अग्निकी चिनगारियाँ निकलने लगीं। उसने अपने हाथ कमरपर रख लिये, फिर तनकर वह खड़ा हो गया। उधर जनके सरदारको अपनानेकी आशासे घटी दर्दुरसे अपना हाथ छुड़ानेकी चेष्टा करने लगी। क्रोधमें पागल दर्दुरने उसे एक झटकेमें पटक दिया और स्वयं सामनेकी झोपड़ीमें चला गया।

पुक्कसने दौड़कर घटीको उठा लिया। उसके सिरसे रुधिर बह रहा था पर वह हँसती हुई फिर उसके बाहुपाशमें बँध गयी। बर्बर और उसकी स्त्री दोनों यह सारा काण्ड चुपचाप देखते रहे। दूरसे पुक्कसकी कन्या नटीने भी यह दृश्य देखा, और वह भाईके पास झोंपड़ीकी ओर दौड़ पड़ी। गृहकी वह एक प्रकारसे स्वामिनी थी। उसे कदापि यह मान्य नहीं था कि पुक्कसपर किसी अन्य नारीका अधिकार हो। उसने भाईका पक्ष लिया।

पुक्कस जब दर्दुरके पास पहुँचा तो दर्दुर मांके पास खड़ा था। नटी उसे आश्वस्त कर रही थी। उसका मुख तमतमाया हुआ था, नेत्र आरक्त हो रहे थे। पुक्कसने पहुँचते ही तीव्र स्वरमें कहा, "दर्दुर, घटी आजसे मेरी हुई। तुम्हें इसे छूनेका अधिकार न होगा।"

दर्दुरने उत्तरमें केवल एक हुंकार भरा।

माँको कुछ रोष आया पर पुक्कसकी मुद्रा देख वह चुप हो रही।

बदलेमें नटी बोली, "पुक्कस, यह अनुचित है। दर्दुरकी घटी उसे दे दो।"

पुक्कसने क्रोधपूर्वक उसकी ओर देखा। उसके शरीरमें बल था, वाणीमें दृढ़ता थी।

ओज-भरे शब्दोंमें उसने कहा, "दर्दुर, मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, पर पुक्कसोंसे आजसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध न रहा। जाओ, यदि प्राणरक्षा चाहते हो, इसी क्षण पल्लीसे बाहर निकल जाओ। नटी भी तुम्हारे साथ जायेगी। वह आजसे तुम्हारी हुई।"

दर्दुर सहसा घूम पड़ा। नटी भी उसकी ओर बढ़ी।

पुक्कसने फिर कहा, "और देखो, स्त्रियाँ यदि और चाहो, मेरी स्त्रियोंमें-से कोई, अथवा बर्बर की, ले लो।"

दर्दुर क्षण-भर रुककर चल पड़ा। नटीने उसका अनुसरण किया। दोनों सामनेके वनमें अदृश्य हो गये।

दर्दुर और नटीके योगसे जब नागोंने पुक्कसोंपर आक्रमण किया पुक्कस अपनी रक्षा नहीं कर सके। नागोंने सारी पल्ली जलाकर क्षार कर दी। पुक्कस, बर्बर, पण्डुर—पुक्कसोंका एक एक वीर—खेत रहा। आग्नेयोंके नाशका नागोंने प्रतिशोध किया। पुक्कसोंकी सारी स्त्रियाँ उनकी हुईं।

दर्दुरने पितासे बदला लिया पर वह स्वयं सुखी न रह सका। जिस जाति-द्वारा उसने अपने 'जन'का सर्वनाश कराया उसीने उसे मारकर उसकी नटी और घटी दोनों लूट लीं।

१६ दिसम्बर १९३९
प्रातः ४—६.३०

उदय

[इस कहानीमें भयके आधारसे धर्मका प्रादुर्भाव है। पात्र भारतके प्राचीन निवासी अनार्य हैं। पात्रोंके नाम भी अनार्य हैं। उनके उत्सव आदि छोटा नागपुरके मुण्ड और ओरावँ जातियोंके नित्य कृत्य हैं। संसारमें सर्वप्रथम प्रकृतिके ही अवयवोंकी पूजा आरम्भ हुई। जलस्रोतों, वृक्षों और शिलाओंमें देवत्वकी प्रतिष्ठा धर्मका प्रारम्भिक रूप था, मनुष्य बलि भावी मेधोंकी प्राथमिक अर्चना थी। पितृ-पूजा देव-पूजासे प्राचीन है। संसारका आदिधर्म पुरोहितोंके प्रयाससे पनपा और उन्हीं की सत्ताका पोषक बना।]

मुण्डोंमें हिडिम्बका बड़ा आदर था। उसमें कुछ वे बातें थीं जो जातिके किसी अन्य व्यक्तिमें न थीं। वह सोचता, विचारता। वृक्षके नीचे, नदीके तटपर, प्रपातके समीप बैठा घण्टों चुपचाप कुछ गुना करता। उसकी शान्ति और चुप्पीके कारण लोग उससे डरते भी।

हिडिम्बके अन्तरमें अशान्तिकी आँधी उठती। वह चलता-चलता, बोलता-बोलता, खाता-खाता सहसा चुप हो जाता। कुछ गुनने लगता। उसका यह व्यापार पहले तो लोगोंके कुतूहलका कारण बना, पश्चात् भयका—अकारण, अनियन्त्रित भयका।

हिडिम्ब और मुलना रातमें चले जा रहे थे। मुलनाको अन्धकारमें ठोकर लगी, वह गिर गया। अँगूठा कट गया, सिरमें चोट आयी—मुँहके बल गिरा था। अँगूठा दबाकर उसने रक्त बन्द कर दिया। फिर जब

उसने चलनेकी तैयारी की हिडिम्ब जमकर बैठ गया। मुलनाने जब उससे चलनेको कहा वह चुप था। वह कुछ सोच रहा था। मुलनाने उसे हिलाया, पर वह न हिला न बोला।

मुलना विस्मित था। अन्धकारपूर्ण वनमें दोनों अकेले थे—इसका भय उसे बिलकुल न हुआ, पर हिडिम्बकी चेष्टा देख वह व्याकुल हो गया, घबरा उठा।

हिडिम्ब सहसा बोला, "मुलना!"

मुलनाने जाना जैसे हिडिम्ब सोतेसे जागा।

उसने पूछा, "हिडिम्ब, क्या रात यहीं काटोगे? घर नहीं चलना है?"

हिडिम्ब, जो चुप हो गया था, फिर बोला, "मुलना, तुझे किसने मारा?"—जैसे उसने कुछ सुना ही नहीं।

मुलना बोला "मुझे किसने मारा हिडिम्ब? मुझे तो केवल शिलाखण्ड की ठोकर लगी।"

"आह मुलना! तू नहीं जानता"—हिडिम्ब कुछ सोचता हुआ बोला।

मुलना कुछ कहना चाहता था पर ठिठक गया।

"तू नहीं जानता मुलना, तुझे किसने मारा!"—हिडिम्बने बात पूरी की।

मुलना स्तब्ध था, कुछ घबराया हुआ। कुछ न बोला।

"इसमें कुछ है मुलना। इसने एक दिन मुझे भी मारा था, सो अन्धकारमें नहीं, चमकती धूपमें। अवश्य इसमें कुछ है जो ठोकर मारने-वालेको ठोकर मारता है।"—हिडिम्बने जैसे अपने-आपसे कुछ कहा।

सर्वत्र अन्धकारका राज्य था। चराचर निद्रामें निमग्न था। कहींसे शब्द नहीं सुन पड़ता था। केवल हिडिम्बके शब्द वातावरणमें गूँज रहे थे और मुलनाके हृदयमें घुमड़-घुमड़ उठ रहे थे। इस श्रव्य शब्द और

मुलनाके आभ्यन्तर अन्तर्मुख कोलाहलके बीच केवल दूर बहती पर्वती नदीका कलकल सुन पड़ता था।

मुलनाके हृदयमें एक भयानक प्रश्न उठा। उसमें हिडिम्बके भावोंकी प्रतिध्वनि उठने लगी। पर उसका आश्रय छोटा था, बोझ भारी—उसे सँभाल न सका। एक अनजाने अपूर्व आतंकने उसके अन्तर-बाहरको उद्विग्न कर दिया। अकल्पित त्राससे वह विचलित हो उठा। काँपकर वह उछला, फिर एकाएक दौड़ पड़ा, और शक्तिकी मूर्तिमान सीमा, सिंह-से समर लेनेवाले विशालकाय वह मुलना भागा—तीव्र गतिसे, श्वास रोके, नालोंको लाँघता, झाड़ियोंको फाँदता।

पहली बार मनुष्य भयसे भागा—कल्पित मिथ्या भयसे।

हिडिम्ब अपनी जिज्ञासामें स्वयं खो गया था। उसने नहीं जाना—ठीक तभी मुलना तीन मील दूर गाँवमें पिताकी गोदमें अपना दम तोड़ रहा था!

सारी रात वह वहीं बैठा रहा, सुन्न, विचारमग्न।

जब प्रातःकाल सारा गाँव मुलनाके बताये स्थानपर उसका शव लिये पहुँचा, हिडिम्बकी वह मुद्रा अभी नहीं टूटी थी। वह वहीं सारी रात बैठा था—इसका प्रभाव गाँववालोंपर पूरा पड़ा। मानवताके शैशवमें इसका अर्थ था—प्रचुर और गम्भीर।

जब मुलनाका शव हिडिम्बने देखा उसने जन-समूहसे पूछा, "मुलना कहाँ है?"

कोई न बोला। गम्भीर सन्नाटा था।

उसने फिर पूछा, "कहाँ है मुलना?"

किसीने शवका सिर घुमाकर हिडिम्बको दिखा दिया—"यह"।

हिडिम्ब हँसा।

"पर मुलना कहाँ है"—उसने प्रश्न दोहराया!

उसकी बातें उसके 'जन'को सदा पहले-सी लगतीं, आज भी कुछ वैसो

हो लगीं। उन्होंने सदाकी भाँति आज भी जाना—हिडिम्बके कहनेका कुछ तात्पर्य है, उसकी भाषाका कुछ अर्थ है। पर लोगोंके हृदयमें विकल्प-की जो बाढ़ उठी उसमें उठने लगीं त्रासकी तरंगें। अपने क्षुद्र मस्तिष्क-व्यापारसे सृष्टिका सबसे मतिमान प्राणी मृत्युका रहस्य खोलने बैठा। प्रकृतिके खुले अर्थमें भेद-भरे भावकी सृष्टि कर, उसके आवरणके छोरोंको एकत्र कर मनुष्यने उसमें आज प्रथम ग्रन्थि बाँधी और पश्चात् आनेवाली शृंखलाने उसमें अपनी अनोखी गाँठपर गाँठ लगा मुक्तको बन्दी कर दिया, प्रत्यक्षको प्रच्छन्न।

"पर मुलना कहाँ है ?"—प्रातः समीरने दोहराया।

"पर मुलना कहाँ है ?"—जलस्रोतने कलकल रवमें प्रतिध्वनि की।

"पर मुलना कहाँ है ?"—मनुष्यने मनुष्यसे पूछा, भीतर-बाहर भी। फिर दिशाओंसे पूछा—"मुलना कहाँ है ?"

मनुष्य अवाक् था, दिशाएँ निरुत्तर।

हिडिम्बने स्वयं नीरवता भंग की।

"इस शिलाखण्डसे पूछो—मुलना कहाँ है ?"—उसने कहा। सर्वत्र सन्नाटा था।

हिडिम्बने फिर कहा, "इस शिलाखण्डको मुलनाने ठोकर मारी थी। इसमें कुछ है जिसने उसे धर पटका। इसने मुझे भी एक दिन मारा था। यह देखो।"

हिडिम्बने हालके सूखे घावको अपनी उँगलीसे दिखाकर कहा, "इसमें कुछ है। जो इसे ठोकर मारेगा, इससे ठोकर पायेगा।"

भीड़में कुछ आहट हुई। एक सबल युवक निकला। उसमें सन्देहकी भावना जगी। शिलाखण्डमें उसने पाँवसे ठोकर मारी। चोट लगी, वह काँप उठा। लौटकर वह बोला, "इसमें कुछ है !"

दूसरा निकला। उसने शिलाखण्डको लक्ष्य कर बाण मारा। बाणकी नोंक मुड़ गयी। उसने दोहराया—"इसमें कुछ है।"

तीसरेने भाला फेंका। फलक टूट गया। विस्मित पुरुष चिल्ला उठा—“इसमें कुछ है।”

भीड़ने प्रतिध्वनि की—“इसमें कुछ है।”

हिडिम्बने शिलाखण्डके समीप माथा टेक दिया। सारी भीड़ लोट पड़ी; प्रत्येक जन, प्रत्येक जननी, प्रत्येक बालक, प्रत्येक शिशु।

प्राथमिक मानवकी यही प्रथम पूजा थी—भेद-भरी, भावभरी, कल्पित, असत्य। कौन जाने? कैसे कहे?

उठकर हिडिम्ब बोला, “मुलनाका शव शिलाखण्डपर रखो। वह इसका भोज्य है—अन्न।”

मुलनाका शव शिलाखण्डपर रख दिया गया। सबने शिलाखण्ड और मुलनाके शवको मस्तक नवाया।

शिलाखण्ड प्रथम मनुष्यका प्रथम देव था, मुलनाका शव प्रथम पितृ और हिडिम्ब प्रथम पुजारी।

प्रकृतिका ज्ञानकोश खुला था, पर द्रष्टाने देखा थोड़ा, गुना अधिक, कहा उससे भी अधिक। पुजारी ऋषि बना। दोनों अन्धे थे—कौन जाने?

जलप्रपातके समीप मुण्डोंका मेला लगा था। गाँवके गाँव उमड़ पड़े थे—बच्चे-बूढ़े, नर-नारी।

पासके जलस्रोतकी पूजा हो रही थी।

वृक्षके नीचे, शिलाखण्डके समक्ष, मनुष्य-बलि हो रही थी। तीनोंकी सपर्यामें—वृक्षकी, शिलाखण्डकी, मृतककी।

हिडिम्बने कहा था, “यदि जलप्रपातमें कुछ नहीं, वह गिरता कैसे है? उसमें ध्वनि कौन उत्पन्न करता है? अवश्य उसमें कुछ है।

यदि जलस्रोतमें कुछ नहीं, वह बहता कैसे है? समय-असमय कैसे, किस गतिसे वह जीवोंको उदरस्थ कर लेता है? अवश्य उसमें कुछ है।

यदि वृक्षमें कुछ नहीं, वह उगता कैसे है ? बढ़ता क्योंकर है ? सूखता कैसे है ? अवश्य उसमें कुछ है।"

प्रश्नमें शीघ्रता थी, उत्तर सकृत् उपलब्ध।

मृतकोंके भोज्य थे मृतक, इन मृतकोंके अन्य मृतक। एक अनन्त मृतक-समाजकी कल्पना उठी, एक पितृलोककी सृष्टि हुई।

हिडिम्बने कहा था।

हिडिम्ब गायक था—सामका प्रथम गायक।

नर-नारियोंके सम्मुख जब शिलाखण्ड, जलस्रोत और मृतकोंके प्रति उसकी कम्पित भारती मुखरित होती, जग ठमक जाता। चराचर जैसे उसीमें लय हो जाता। फिर उसकी वाणीका घोप मुण्डजाति प्रतिध्वनित करती, वाद्यके साथ, नृत्यकी सहायतासे।

प्रारम्भिक मुण्ड आजकी ही भाँति प्रसन्न था, निर्द्वन्द्व और रसिक। कदाचित् इससे भी। हिडिम्बके प्रश्नोत्तरने, शंका-समाधानने, अवश्य उसके शिशु-सरीखे दमकते वदनपर सोचकी श्यामताने अपनी छाया डाली तथापि उसका साधारण जीवन बहुत-कुछ वैसा ही बना रहा जैसा पहले था—संगीत-भोगी, रस-भोगी, काम-भोगी। और—सरल, उत्सुक, श्रद्धालु।

मुण्डोंका नृत्य हो रहा था।

स्त्री-पुरुषोंकी अनेक टोलियाँ गेहूँके खेतमें उठती लहरोंकी भाँति आगे-पीछे हिलती नृत्य कर रही थीं। कन्धेसे कन्धे मिले थे, घुटनोंसे घुटने। एक बार पुरुषोंकी पंक्ति नाचती आगे बढ़ती फिर स्त्रियोंकी। आनन्द और सुखकी सूचक मुसकान प्रत्येक मुखपर खेल रही थी।

नृत्यके साथ गानका समागम अद्भुत था। प्रकृतिकी सहचरी नारी अपने सखा नरको चुनौती देती, प्रमत्त, झूम-झूम। नर आनन्दके हिलोरोंके साथ उसे स्वीकार करता, विक्षिप्त, चूम-चूम। दोनोंके खुले कण्ठसे,

नगाड़ेकी चोटसे द्विगुणित हो जो अमृत वाणीके रूपमें झरता उसकी कल्पना कौन करे ? अनन्त कालिदास, असंख्य जयदेव इस रसके रागमें मन जाते, लोट-पोट हो जाते।

जब दलोंका नृत्य रुका एक-एक सखी मनचीते सखाका पाणिग्रहण कर पृथक् नाचने लगी। एक-एक जोड़ा एक-एक संसार लिये था—उठती साधोंका, अदम्य उत्साहका, अनियन्त्रित मादकताका।

आज वसन्तका प्रथम दिन था। प्रकृतिने काम-वसन धारण किये थे। निसर्ग नाचता था। सर्वत्र पराग बरस रहा था। फूल-फूलपर भ्रमर अटक-अटक गुंजार करता था, कुंज-कुंजमें कोयल कूकती थी। प्रत्येक पुरुष वेशको सँवारे था, भूषाको सजाये। वह अपने हृदयमें हुलास भरे था, प्रत्येक प्रमदा भृकुटियोंमें बाँकपन भरे थी, शरीरमें नवयौवन लिये। आसवने प्रचुर मात्रामें अल्हड़पन भर दिया था। आनन्दकी हिलोरसे दोनोंके हृदय उल्लसित झूल रहे थे।

इसी समय वायुमण्डलको चीरता हिडिम्बका तीव्र स्वर सुन पड़ा—मूर्ख मानव, आनन्दमें सत्ता भूल गया ? देख, क्षितिजपर आँधी उठ रही है। बन्द कर अपना कोलाहल, अन्यथा घने मेघोंसे बढ़ता हुआ अन्धकार सारे आकाशको आच्छन्न कर लेगा ? प्रकृति प्रलयके साधन बटोर रही है। खेल बन्द कर !

सर्वत्र आतंक छा गया। हृदयोंका स्पन्दन रुक-सा गया।

हिडिम्बका राहुल स्वर कुछ रुककर फिर सुन पड़ा—पूजाका शीघ्र आयोजन होना चाहिए। शीघ्र, नहीं तो देवताका क्रोध सबको निगल जायेगा।

सारा आनन्द आशंका और भयमें डूब गया। बलिके अर्थ निरपराध मनुष्य ढूँढ़ा जाने लगा। हिडिम्बने जिस अनन्त शृंखलाकी सृष्टि की, वह स्वयं उसकी प्रथम कड़ी था।

१७ दिसम्बर १६३६
प्रात: ४—६.३०



विध्वंसके पूर्व

[कहानीका आधार कल्पना है जो सिन्धुकी तलेटीमें बसे प्राचीन नगरोंके ध्वंसावशेषकी खुदाईसे उपलब्ध पुरातत्त्व-सम्बन्धी वस्तुओंपर अवलम्बित है। मोहनजो-देड़ो तभी भारतीय सभ्यताका केन्द्र था जब आर्योंके चरणोंमें संसार नहीं गिरा था, जब मिस्र, सुमेर और एलाम-की सभ्यताओंकी धाक थी। मोहनजो-देड़ो तब जगत्‌का क्रय-विक्रय केन्द्र था। समय—ताम्रयुग; ईसासे लगभग २५०० वर्ष पूर्व।]

पाँच सहस्र वर्ष पूर्व वर्तमान सिन्धकी विस्तृत मरुभूमिके बीच लहलहाती हरियाली थी। जहाँ आज सिकताके टीले खड़े हैं, रेत उड़ती है, तब हरे-भरे खेत लहराते थे, खलिहान हँसते थे। मोहनजो-देड़ो अभी मृतकोंकी समाधि, शवोंका स्तूप नहीं बना था। तब वह मनोरम नगर था, विश्वमें विख्यात, जगत्‌के नगरोंमें बेजोड़।

नगरके बीच चौड़े राजमार्गसे दोनों ओर कितनी ही वीथियाँ फूटी थीं और इन वीथियोंको कितनी ही समानान्तर उपवीथियाँ काटती थीं। राज-पथके दोनों ओर विशाल प्रासाद बने थे। इनके प्रकोष्ठोंपर नागरिक-परिवार निवास करते थे। नीचे बड़ी-बड़ी दूकानें सजी थीं।

बाज़ार लगा था। संसार अपनी छोटी-बड़ी आवश्यकताएँ क्रय कर रहा था। जगत्‌के श्रीमान् यहींकी वस्तुएँ व्यवहारमें लाते थे। दूर-दूरके सार्थवाह वस्तुएँ खरीद-खरीद बैलोंपर लाद रहे थे। सभी थे—एलामके

शान्त पुजारी, सुमेरके दुर्द्धर्ष सामरिक एवं भीमकाय श्मश्रुल असुर और मिस्रके पण्डे।

क्रय-विक्रयके कोलाहलसे वायु पूरित था। मार्ग पशुओंसे भरे थे, वीथियाँ नर-नारियोंसे आकीर्ण थीं। पंक्तिकी पंक्ति दूकानोंकी लगी थीं जहाँ सभ्य संसारकी प्रायः सभी वस्तुएँ बिक रही थीं—कोलारका सुवर्ण, रजत और हाथीदाँतके आभूषण, श्वेत और चित्रित वस्त्र, चिकने चमकते चित्रित भाण्ड, साचोंकी मुहरें, विविध मृण्मय मूर्तियाँ, खिलौने और प्रतिमाएँ—धौत, हरित, कृष्ण—सिन्धके दर्शनीय वृषभ।

कहीं ऐन्द्रजालिक अपने खेलोंसे लोगोंको चकित कर रहा था, कहीं नट अपनी कलाबाजियोंसे विस्मित। कहीं मल्ल अपने करतबोंसे लोगोंके पगोंमें स्फूर्ति भर रहा था, कहीं सँपेरा अपने नागोंके प्रदर्शनसे रोमांचित। बाजारके बीच ऊँचे स्थानपर सभ्यताकी प्रथम नर्तकी नाच रही थी। उसके दर्शनके लिए लोग उमड़े पड़ते थे। बदनसे बदन छिलता था। एलामका पुजारी हँसा, मिस्रके पण्डेने अपने सूखे होठ चाटे, सुमेरका सामरिक भीड़में जा धँसा।

जब सामरिक हँसता हुआ अपना दीर्घ शरीर नर्तकीकी भाँति हिलाता धीरे-धीरे उसके पास पहुँचा, भीड़में हँसीका एक ठहाका हुआ। प्रसन्न सामरिक नर्तकीके पास जा खड़ा हुआ और लगा उसके पार्श्वको सहलाने। नर्तकी अपना नृत्य बन्द कर हँसती हुई असभ्य बर्बरको देखने लगी। दोनोंका असाम्य हास्यजनक था लोग हँस पड़े। इसी बीच भीड़से एक विशालकाय असुर निकला और झूमता हुआ उन दोनोंके समीप पहुँचा। नर्तकीने उसे कुतूहलवश देखा और सामरिकने सरोष। असुरने सामरिककी कलाई पकड़ उसे खींचकर नर्तकीसे पृथक् कर दिया। सामरिककी भौंहें तन गयीं। उसका हाथ पट्टबन्धसे लटकती छुरीपर जा पहुँचा। असुरने उसकी कलाई मूलीकी भाँति तोड़ दी। पर ठीक तभी सामरिककी प्यासी छुरी खमककर असुरकी कोखमें घुस गयी। गिरते-गिरते दीर्घ-

काय असुरने सामरिकको बीचसे पकड़ अप्रयास उसे तोड़ डाला। टूटती अस्थियाँ चटक उठीं और दोनों साथ ही भूमिपर गिर पड़े। नागरिकोंने दोनोंको जकड़ लिया, पर उनका न्याय हो चुका था। वे अनन्त मार्ग तय कर रहे थे। उनके खच्चर अनाथ खड़े थे।

असुरदेशकी विख्यात नर्तकी सिन्धुकी उपत्यकामें महानदके तटपर इस नगरमें आ बसी थी। उसका शेष परिवार अब भी स्वदेशमें ही था। केवल एक सप्ताह पूर्व उसकी नवयौवना कन्या वणिकोंके साथ उसके पास आयी थी। नवागन्तुकाके रूपकी ख्याति सारे नगरमें फैल गयी थी। चारों ओर उसके सौन्दर्यकी धूम थी।

आज उसे नगर देखना था। यह कार्य उसकी माँने उसके नववयस्य धनकुबेरको सौंपा था। धनकुबेर नगरका प्रमुख सेठ था। पिताकी मृत्युके बाद ही वह उसकी अगाध सम्पत्तिका स्वामी बना था।

प्रातःकाल धनकुबेरने शयनकक्षसे दासीको पुकारा। दासीने प्रवेश कर मस्तक झुका लिया।

धनकुबेरने पत्रपर चित्रकी भाँति कुछ लिखा और स्वर्णमुद्रासे उसपर अपना नाम अंकित किया। नामांकके बीच उन्मुख मृगीका सुन्दर मस्तक उत्कीर्ण था।

धनकुबेरने दासीके हाथमें पत्र देते हुए कहा—शीघ्र जा, देवी प्रतीक्षामें बैठी होंगी। स्नानान्तर मैं उनकी राह देखूँगा।"

उसने पर्यंक छोड़ स्नानागारमें प्रवेश किया।

जब धनकुबेर स्नानागारसे बाहर निकला एक हँसती हुई नवयौवना दौड़कर उसके समीप आ खड़ी हुई। यह असुर नर्तकीकी कन्या थी। प्रसाधनकी छटा उसकी निराली छविपर बड़ी फबती थी। नीचे कटि तक

लहराते केशोंके ऊपर चौड़ा पट्ट बँधा था। श्वेत वक्षके सुपुष्ट गोलार्ध वस्त्रसे ढँके थे। कानोंमें मीनाकृत बालियाँ हिल रही थीं। बाहुओंमें नीचेसे ऊपरतक कितने ही वलय चमक रहे थे, नाभिके नीचे बँधा वस्त्र पिण्डलियों तक पैरोंको ढके हुए था। सुन्दर तुंगनासिका इसके बिम्बाधर-को जैसे चूमने झुक पड़ी थी।

युवती हँसती हुई जब धनकुबेरके समीप पहुँची, उसने अपनी खुली श्वेत बाहुएँ उसकी ओर फैला दीं। धनकुबेरने उसके उठे हाथोंको चूम लिया। फिर वह उसे अपलक निहारने लगा।

युवतीने पूछा—"क्या प्रसाधन दर्शनीय है, वयस्य ?"

"आः उसकी न पूछो, शुभे। नगरकी प्रमुख कलाकुशला नर्तकीकी तुम कन्या हो। उस चतुर प्रसाधिकाके प्रसाधनमें कहीं त्रुटि हो सकती है ?"—उसके कन्धेको धीरे-धीरे सहलाते हुए धनकुबेरने उत्तर दिया।

"सैन्धवोंने अपने प्रसाधनमें मेरी माँको दीक्षित किया है, वयस्य, और उनके चातुर्यको उसने उन्हींके अर्थ सँवारा है"—आचार-प्रतिबन्धसे रहित नवयौवना अपनी दमकती दन्तपंक्ति दिखलाती बोली।

'इस प्रसाधनसे सैन्धवोंका भला कौन-सा अर्थ सधेगा, सुन्दरि ?" धनकुबेरने युवाकी सारी अल्हड़ साधोंको एकत्र कर पूछा।

"जिस हितके साधनार्थ मेरी माँने सुदूर असुर-देशसे यहाँ आकर जीवन-भर प्रयास किया उसीके लिए वह अपनी एकमात्र कन्या भी न्यौछा-वर कर देना चाहती है।"—उसने उत्तर दिया।

"बड़े भाग्य सैन्धवोंके, देवि, बड़े भाग्य। इस नगरकी प्रमुख नर्तकी कलामें असाधारण, अप्रतिहत गति रखती है—यह सभी जानते हैं, पर प्रतिशोधकी मात्रा भी उसमें चरम और चिरस्थायी है—यह कोई नहीं जानता।"—धनकुबेरने कुछ अन्यमनस्क हो कहा। उसकी ईर्ष्या जग चली थी।

धनकुबेरकी प्रसन्न मुख-मुद्रा किसी अन्तर्भावनाके अलक्षित आघातसे

विवर्ण हो उठी। युवतीके कन्धेसे धीरे-धीरे हटकर उसका हाथ निरवलम्ब लटक गया।

युवतीमें जिज्ञासा जगी। वह धनकुबेरका वक्तव्य पूरा समझ न सकी। 'प्रतिशोध किससे ?'—वह विचारने लगी। उसकी कान्ति कुछ मलिन हो चली।

उसने कहा, "मैं न समझ सकी, सखे, तुम्हारी बात मैं न समझ सकी।"

"कैसे समझोगी, शुभे ? जिस रहस्यको कलाधुरीणा तुम्हारी विचक्षणा जननी एक सम्पूर्ण जीवन-कालमें भी न समझ सकी, यौवनकी मादकतामें विभोर, कलाकी देहलीपर ही तुम उसको समझनेका प्रयास क्यों करती हो, करके भी जान कैसे सकोगी ?"—धनकुबेर सावेग बोला।

युवतीके उत्साहको ठेस लगी। उसका खिला मुख-कमल मुरझा गया। उसकी हास्य-तरंगोंके विरोधमें भावनाकी आँधी उठी। हँसनेके लिए अब वह प्रयास करने लगा।

धनकुबेरने असुर-सुन्दरीके वदनपर चिन्ताके बादल घिरते देखे, और उसने जाना वह शिष्टाचारसे बहुत आगे बढ़ गया है। वह उसे प्रसन्न करनेके लिए बलपूर्वक हँसा, पर उसका जी बैठा जा रहा था।

उसने युवतीकी ग्रीवापर बिखरे बालोंको सुलझाते हुए कहा—"—लावण्यवती वयस्ये, मेरी रूक्षता क्षमा करना। मैंने आवेशमें कुछ अप्रासंगिक निवेदन किया है।"

"नहीं जानती, मित्र, मैं अब भी नहीं जानती—तुम्हारे हृदयमें किस भावनाने जन्म धारण किया है और मेरी प्यारी माँ किस प्रतिशोधकी भूखी है !"—युवती अपनी उसी सरल मुद्रासे बोली।

धनकुबेर विजित हो गया। उसने जाना, वह उसका दोषी है।

वह विचारता हुआ बोला—"कुछ नहीं, देवि, कोई बात नहीं, मैं केवल यही कहता था कि तुम्हारी माँकी अनुभूतिका लाभ तुम्हें होना

चाहिए। कलाका लाभ जाति और देशका लाभ है। गणिकाके सौन्दर्यका लाभ समाजके पतनोन्मुख प्राणियोंका !"

युवतीके चेहरेका रंग उड़ गया था। उसका हृदय किसी अनागत भयकी आशंकासे काँप उठा।

धनकुबेरने युवतीको फिर प्रसन्न करना चाहा। हँसते हुए धीरे-धीरे उसने उसका केशपट्ट खोल दिया। कुंचित केश वायुमें लहरा उठे। उनकी सुगन्धकी मादकतासे एक बार वह स्वयं प्रमत्त हो उठा। युवतीने धीरे-धीरे सिर उठाया। धनकुबेर आनन्दसे पुलकित हो रहा था। युवतीने देखा—युवकके होठ कुछ खिच गये थे, नेत्र हँस रहे थे। वह फिर हँस पड़ी। उसकी चेष्टा सहज थी।

धनकुबेर उसे धीरे-धीरे मुकुरके सामने खींच ले गया। उसने उसका केशपट्ट दीवारसे लगे शृंगार-फलकपर रख दिया। फिर धीरे-धीरे उसके बालोंसे खेलता हुआ-सा वह उन्हें गूँथने लगा। चिकुरराशिको दो भागोंमें विभक्त कर उसने उनकी वेणियाँ बनायीं और एक-एकको दोनों कन्धोंपर सामने लटका दिया। फिर उसमें प्रच्छन्न द्वारसे हाथीदाँतकी एक ऊँची मंजूषा निकाली और उसमें-से हिरण्यरागसे दमकते किरीटको लेकर युवती-के मस्तकपर रख दिया। गोरे शरीरकी आभा सुवर्णकी चमकसे दूनी हो गयी।

मुकुरमें जब युवतीने अपनी छाया देखी वह खिल उठी। अपने ही रूपपर वह मोह गयी। उसने जाना जैसे असुरोंकी देवी मानवी बन आकाशसे उतर आयी है। उसकी पीठपर हाथ रखे धनकुबेर दर्पणमें चुपचाप रूपसुधाका पान कर रहा था। युवतीने देखा—युवकका रंग रक्तके सावेग प्रवाहके कारण कुछ गहरा हो गया था। उसने आज पहले-पहल युवकके मादक स्पर्शका अनुभव किया।

वह सहसा लौट पड़ी। युवकको कुछ संकोच हो आया था, उसके नेत्रोंमें उन्माद छा गया था। उसका बायाँ हाथ अभी युवतीकी दाहिनी

ग्रीवापर था। युवतीने अपना मस्तक शृंगार-फलकपर रख दिया। धन-कुबेर उसपर झुका। लावण्यके भरे चषकोंके वह कितना सन्निकट था। युवतीके स्वस्थ कपोलोंमें सौन्दर्यकी किरणें प्रतिक्षण फूट रही थीं। जितना ही वह उसके निकट पहुँचता था इन किरणोंका चमत्कार उतना ही बढ़ता जाता। रूपकी यह घूर्णित दीपशिखा मेरे इतने निकट ?—उसने विचारा। प्रमत्त हृदय-शलभ ज्वालामें कूद पड़ा।

धनकुबेर और झुका। युवतीकी पुतलियोंमें तात्कालिक भाषाके चित्रांक बने थे। उनमें उसने अपना नाम पढ़ा। उत्तरमें युवकके नेत्रोंने युवतीको प्रतिबिम्बित किया। युवतीने देखा, उसके सबल अंग उसके स्वप्नदेशकी एकमात्र नर-विभूतिकी आकृति धारण कर रहे थे।

उसने अपना शरीर ढीला कर दिया। धनकुबेरने उसे अपनी सशक्त भुजाओंपर सँभाला। अतृप्त वासना लिये उसका मुख धीरे-धीरे युवतीके होंठोंसे जा लगा। युवतीने नेत्र मींच लिये। अल्हड़ नारी स्वप्निल थी, सचेष्ट पुरुष जागरूक।

युवतीने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। युवकने उन्हें अपनी खुली आँखोंसे ढँक लिया।

धनकुबेरके पास भाषा न थी, पर वह सप्रयास बोला, "देवि, तुम अपूर्व हो। तुम्हारा स्पर्श कर अतृप्त लालसा जाग उठती है।"

धनकुबेरके स्वरमें कम्पन था, नेत्रोंमें उल्लास। युवतीकी द्विधाभिन्ना वाणी झंकृत हो उठी—"अतृप्त लालसा अनर्थ करती है, सखे।"

"तुम्हारे इस कोमल शरीरका भार शक्तिशाली असुर ही सँभाल सकेगा, सखि।"—धनकुबेरने सशंक हो कहा।

"संख्यातीत असुर स्वदेशमें विक्षिप्त हो शक्ति खो बैठे हैं, मित्र। सैन्धव हृदय खोकर भी बुद्धि नहीं खोता।"—युवती हँसती हुई बोली।

"अनेक साधें उठती हैं, प्राणाधिके।"—धनकुबेरने साहसपूर्वक कहा।

"तो"—युवतीने उत्तरमें अर्थ-भरा प्रश्न किया।

"इस 'तो' की अमित, अनन्त मर्यादा है, सुन्दरि।"—धनकुबेरने प्रयत्न कर कहा।

युवती पुलकित हो उठी।

उसने उस दिन नगर नहीं देखा।

नगर देख जब वे बाहर निकले, रथपर बैठते हुए असुर-कन्याने धनकुबेरसे पूछा, "वयस्य, नगरके प्रत्येक गृहमें जो स्नानागार और रसोई हैं उनका जल कहाँ जाता है?"

"उनका जल सहस्रों प्रणालिकाओंमें होता हुआ नगरसे बाहर निकलकर उपवनोंकी परम्पराको सींचता है।"

"पर हमने तो एक भी नहीं देखी।"

"देखतीं कैसे, सुभगे? वे खुली तो हैं नहीं। हमारे स्वास्थ्यका ध्यान रखते हुए समितिने नगर-निर्माणके अवसरपर ही उन्हें ढँकी रखनेका प्रबन्ध सोच लिया था।"

"तुम्हारा नगर अद्भुत है, वयस्य। धन्य हैं तुम्हारे वास्तुविशारद जिन्होंने नगर-निर्माणके पूर्व ही उसकी सारी व्यवस्था, सम्पूर्ण प्रबन्ध, सोच लिये थे। अच्छा, नगरके वे विख्यात सरोवर कहाँ हैं जिनकी प्रशंसा मैंने स्वदेशमें ही सुनी थी।"

"उन्हें सन्ध्या-समय देखोगी शुभे, जब नागरिक स्नान करते होंगे। अभी हम मन्दिर चल रहे हैं।"

धनकुबेरने रथकी रास ढीली की और पुंगव वायुवेगसे दौड़ पड़े। कुछ देर बाद धनकुबेरने रास खींची। सामने नगरोपवनके मध्य मन्दिर खड़ा था। योगिराज समाधिमें बैठे थे।

सैकड़ों नर-नारी खड़े ऊर्ध्वरेतस् महादेव और योगिराजके दर्शन कर

रहे थे। रथसे उतर जब असुर-कन्या और धनकुबेर वहाँ पहुँचे, लोगोंने उनके लिए मार्ग छोड़ दिया।

योगिराजकी मुद्रा प्रशान्त और गम्भीर थी। अर्धनिमीलित नेत्र नासिकाग्रपर टिके थे। पद्मासनसे बैठे उनके घुटने पृथ्वीका स्पर्श कर रहे थे, चरणतल गोदमें चमक रहे थे।

योगिराजने नेत्र खोले। दर्शकोंके मस्तक झुक गये। नित्यकी भांति योगिराजने उपदेश किया—

"जीवन क्षणभंगुर है। नागरिकता तृष्णाकी उपासिका है, कला विलासकी पराकष्ठा। अपचार अपने कलारूपी आयुधसे मनुष्यपर आक्रमण करता है और सीधा मनुष्य उसका साधुवाद करता है। जिसकी उपासनामें सैन्धव आज प्रयत्नशील हैं वह कला ही उनके निधनका कारण होगी। विध्वंसका समय सन्निकट है। अब भी चेतो, अभी समय है।"

मस्तक झुके—कुछ भयसे, कुछ विकल्पसे। कुछ तिरस्कार पूर्वक हँसे। उदासीन योगीने नेत्र बन्द कर लिये।

"योगिराजके शब्दोंमें शक्ति है।"—असुर-कन्याने धनकुबेरसे रथकी ओर जाते हुए कहा।

"यही बात तीस वर्षोंसे वे नित्य कहते हैं। न जाने सैन्धवोंका भविष्य कैसा है।"—धनकुबेरने वृषभोंकी पीठ थपथपाते हुए उत्तर दिया।

नर्तकीके गृहके सामने रथ रुका। बाहर निकल उसने धनकुबेरका अभिवादन किया। कन्या दौड़कर उसके अंकमें भर गयी।

उसकी कन्या धनकुबेरकी वयस्या है—इसका नर्तकीको बड़ा गर्व था। दोनोंकी परस्पर चेष्टा और नागरिकोंकी चर्चासे उसने जान लिया था कि उनका स्नेह मात्र शिष्टाचारका नहीं प्रणयका है, अटूट है। उसने अपना कर्तव्य स्थिर कर लिया।

नगरके बाह्य उपवनके समीप सरोवरोंकी परम्परा थी। दूर तक

इनका विस्तार था। सब परस्पर मिले हुए थे। केवल नीची दीवार इनको एक-दूसरेसे पृथक् करती थी। सबोंमें एक ही जलस्रोतका प्रवाह था। बीच-बीचमें द्वार बने थे जिनसे होकर एकका जल दूसरेमें और दूसरेका तीसरेमें बहा करता।

ग्रीष्मके अपराह्णकी धूप धीरे-धीरे सन्ध्याकी अरुणिमामें परिणत होने लगी। सूर्यकी किरणें ईंटोंसे फिसल-फिसलकर जलकी सतहपर चमक रही थीं। नर-नारियोंसे पक्के घाट भरे थे। आजका समारोह कुछ विशेष था। सरोवरोंका जल ऊँची प्रणाली-द्वारा निकाल दिया गया था। आज वे फिर भरे गये थे। पूर्व और उत्तरकी ओर प्रणालिकाएँ अब भी अपने मोटे स्रोतसे जल उगल रही थीं। नये जलसे सरोवरोंकी निर्मलताने गहरा रंग धारण किया था।

स्नानके लिए आते मदमाते रसिक और सुस्मितवदना प्रमदाएँ अपने वस्त्र खोल उन्हें चतुर्दिक् दौड़ती वेदिकाओंपर लटका देतीं और अनियन्त्रित वेगसे सरोवरोंमें कूद पड़तीं। चारों ओर हँसीके स्रोत फूट रहे थे। नर-नारी एक-दूसरेको जलमें ढकेलते, जलके छींटोंसे सराबोर कर देते। प्रसन्न स्वास्थ्य उनके खुले अंगोंपर खेलता था।

सहसा पूर्वकी ओर कुछ हलचल हुई। स्वागत शब्दोंकी बाढ़-सी आ गयी। धनकुबेर अपनी प्रेयसीकी ग्रीवामें बाँह डाले सोपान-मार्गपर खड़ा था। सजीला युवक साँचेमें ढला था और उसके पार्श्वमें खड़ी युवती रूपकी पराकाष्ठा थी। दोनों जलराशिमें कूद पड़े। जब उन्होंने जलकी सतहपर सिर निकाला चारों ओर हँसीके ठहाके लगे। नीहारोंकी मारसे बचने वे फिर डूबे।

दोनों तैर चले। अनेकोंने उनका अनुसरण किया।

नगरके युवक असुर-कन्याके रूपपर मुग्ध, मर्माहत हो चुके थे। दर्शन-की लालसासे अनेकों उसके ऋद्ध भवनका चक्कर काटा करते। वह भी

एक-एकको देख सहज भावसे मुसकराती, अभिवादन करती। युवक नहीं जानते थे कि जिस बिन्दुकी अनन्त परिधियाँ होती हैं स्वयं उस बिन्दुका भी एक केन्द्र होता है। जहाँ सबके हृदय अटकते हैं उस हृदयका भी कहीं आकर्षण है।

सब जान गये थे कि असुर-कन्या धनकुबेरपर रीझ गयी है—उसके आकर्षक सौजन्यपर, उसके सुकुमार पौरुषपर, उसकी कला-चातुरीपर। और धनकुबेर बिका है—उसकी कमनीय मोहकतापर, उसके भोले व्यवहारपर, उसकी अनुपम परखपर। दोनों प्रसन्न थे, दोनों कमनीय। और नगर मुग्ध था उनके परस्पर स्नेहपर। उनका प्रेम, उनका भाव-बन्धन स्नेह, नागरिकोंका जैसे अक्षय धन हो चला था।

देहको पोंछते वे जलसे बाहर निकले। जल-विहारसे शरीरकी नसें फूल गयी थीं, रोमांच हो आया था, रोम-द्वार खुल गये थे। बरामदोंके भीतर बने शिशिरके गरम कमरे ग्रीष्ममें शीतलता प्रदान करते थे। जब वे उनसे बाहर निकले चन्द्रमा स्वच्छ आकाशमें चढ़ आया था, उसकी चन्द्रिका चराचरको अपनी रजत-धारसे नहला रही थी।

असुर-कन्याकी चिकुरराशिसे जल निचोड़ता हुआ धनकुबेर बोला, "प्रिये, नीलाम्बरमें चमकते चन्द्रबिम्बकी दीप्ति तुम्हारे इस कुन्तल केशजालमें दमकते मुखमण्डलसे मन्द पड़ गयी है।"

चतुरावली मेखलापर हाथ रखे युवतीने कहा, "तुम्हारा देश कितना सुन्दर है, धनकुबेर! गगन कितना निर्मल! कौमुदी कितनी कान्ति-मती...."

"और इन केशोंके भीतर चन्द्रकी आकार-रेखा-सी तुम्हारी ये स्वर्ण-बालियाँ रह-रहकर चमक उठती हैं"—धनकुबेरने अपनी कही।

"और इस देशके लोग कितने भले, कितने दर्शनीय हैं!"—युवतीने अपनी सुनी।

"फिर जब तुम्हारे केशोंकी श्याम घटा उमड़कर इन्हें ढँक लेती है

ये विद्युत्की भाँति कौंध अपनी स्वर्णिम छाया इन मुकुर-स्वच्छ कपोलोंपर डाल देती हैं"—धनकुबेरने उसके आवर्तशोभी कपोलोंको छू दिया।

"फिर चपलवाक् रसिक सैन्धव अपने रागसे भोले विदेशियोंको साट देता है...."

"तब निशाश्याम इन अलकोंके भीतर उस विद्युत्प्रकाशसे मैं अपना मुख छिपा लेता हूँ"—धनकुबेरने युवतीके बालोंमें अपना मुख छिपा लिया।

"तब उस रागसे छूटनेके लिए वे जितना ही प्रयत्न करते हैं उसके अनन्त सूचिमुखकरोंसे विद्ध असहाय पक्षीकी नाईं वे उतना ही जकड़ते जाते हैं।"—युवतीने धनकुबेरकी ओर मुड़कर कहा।

दोनों हँस पड़े।

रात्रिका समय था। लगभग दो बजे थे। घण्टोंसे पृथ्वीतलसे मेघगर्जन-सी गड़गड़ाहट सुन पड़ती थी। सिन्धुनदका जल खौल-सा रहा था। उसमें उत्तुंग तरंगें उठ रही थीं। नागरिक शिशिरकी सर्दीमें अपने गरम शयनागारोंमें पड़े बेसुध सो रहे थे।

पृथ्वीके भीतरकी गड़गड़ाहट और भयानक हो उठी। रह-रहकर नीचेसे बिजलीकी कड़क-सा शब्द होता और जगे लोग सन्त्रस्त हो उठते। उत्सुक नागरिकोंने बिस्तर छोड़ गलियों और सड़कोंपर चक्कर काटना प्रारम्भ किया—कदाचित् कारणका कुछ पता लगे। पर कारण न सूझा। पृथ्वीतलका घोष अधिकतर गम्भीर और डरावना होने लगा। सहस्रों, लक्षों बिजलियाँ-सी एक साथ तड़पने लगीं। पक्षियोंने नीड़ोंको छोड़ आकाशका सहारा लिया। वन्यजीव निरुद्देश्य दिशाओंकी ओर दौड़ पड़े। सिन्धुनदकी कुछ नावें जलमग्न हो गयीं, कुछ तटके ऊपर दूर जा लगीं।

प्रकृति प्रलयके उपकरण एकत्र कर रही थी।

एकाएक पृथ्वीमें कम्पन होने लगा। प्रासाद हिलने लगे। सोते

नागरिक जाग उठे। नववयस्कोंने प्रौढ़ोंकी ओर देखा, प्रौढ़ोंने वृद्धोंकी ओर। वृद्धोंने पृथ्वीकी ओर देखा, फिर आकाशकी ओर। पृथ्वी सनाद थी, आकाश स्तब्ध।

नर्तकीके प्रकोष्ठका एकान्त अट्ट टूट पड़ा। पृथ्वीका गर्जन और गम्भीर होता जा रहा था। दीवारें झुक-झुककर मानो एक-दूसरीसे कुछ कहतीं। अपने पाँवों खड़े रहना कठिन था। प्रलय आनन्दमें झूम रहा था और उसके टाँगे दोलमें बैठी स्वयं मृत्यु झूल रही थी, अपने आखेटको झुला रही थी।

नर्तकी भागी—उसके वाम करमें जीवनकी कमाई रत्नपेटिका थी और दक्षिणमें साथ भागती कन्याकी भुजा। कन्याके मुखपर भयका ताण्डव हो रहा था और माताके मुखपर मृत्युकी बिभीषिका नाच रही थी।

कन्या बोली, "योगिराजने कहा था!"

नर्तकीने अनजाने दोहराया—"योगिराजने कहा था!"

उसकी बात पूरी भी न होने पायी थी कि बायीं ओरकी दीवार टूटी, एक झटका लगा। वह एक ओर गिरी, उसकी कन्या दूसरी ओर। कन्या उठी, पर नर्तकी फिर न उठी। कन्याने देखा—माताका वाम भाग कुचल गया था, मृत्युसे उसका मुख विवर्ण हो गया था, भग्नपेटिकाके रत्न उसके वक्षपर बिखरे पड़े थे।

उसे देख कन्या मूच्छित हो गयी। क्षण-भर बाद संज्ञा-लाभ कर उसने देखा—सामने नगरके प्रासाद जोरसे हिल-हिलकर गिर रहे थे। पृथ्वीसे असंख्य नगाड़ोंकी ध्वनि निकल रही थी। ऊपर आकाशमें धुएँके बादल लहरा रहे थे और नगरके पश्चिम ओर प्रासादोंकी चोटी अग्नि अपनी ज्वालारूपी अनन्त जिह्वाओंसे चाट रही थी।

भयसे शक्ति मिली। असुर-कन्या प्रकोष्ठसे नीचेकी ओर दौड़ी। सोपान-मार्ग टूट गया पर उसी क्षण सामनेका कमरा ढेर हो गया और मृगी-सी छलाँग मारती वह नीचेकी देहलीमें उतर आयी। द्वार टूटा, पर

वह लकड़ीके भीमकाय बल्लोंपर गिरा और उनके संयोगसे जा ऊपर एक कोण बना उससे युवती बाल-बाल बच गयी।

वेगसे वह नगरकी ओर भागी।

धुआँ और गिरते प्रासादोंकी उठती धूलसे नगर अन्धकाराच्छन्न हो गया था। केवल पृथ्वीके भीतरसे भयानक गड़गड़ाहट सुन पड़ती थी। प्रकृतिका प्रकोप बढ़ता जा रहा था। युवती न रुकी। उसे जाना था उन गगन-चुम्बी अग्नि-शिखाओंकी ओर। धनकुबेरके धवल हर्म्यका ऊँचा कँगूरा अग्निकी लपटोंके मध्य चमक रहा था। उसीके सहारे वह बढ़ चली। क्षण-भर उसने सोचा—नगरके निवासी क्या हुए? भग्नप्रासाद-खण्डने पृथ्वीसे टकराकर उत्तर दिया। उसमें मानव-चीत्कार भरा था। वह आगे बढ़ी।

दौड़ पड़ी, जिस वेगसे सामने प्रलयका बवण्डर उठ रहा था उसी वेगसे। आगे पृथ्वी एक हाथ दरक गयी, जलका फ़व्वारा फूट पड़ा। हरिणीकी भाँति वह उसे एक क्षणमें लाँघ गयी—भीगती, सर्दीसे काँपती, नंगी।

मोड़पर पहुँची। पर राजमार्ग और वीथियोंको पहचानना कठिन था। प्रासाद गिर चुके थे, गिरे जा रहे थे। मकानोंकी पंक्तिसे सड़कों और गलियोंकी पहचान होती है। मकान मिटे जा रहे थे, गलियाँ खोयी जा रही थीं। फिर रात्रिका अन्धकार।

असुर-कन्या मुड़ गयी। मार्ग जाना नहीं था। अनजानी गलीमें मुड़ पड़ी। अग्निज्वालाओंके बीच अभीतक धनकुबेरके प्रासादका कँगूरा चमक रहा था। उसीके सहारे वह दम लेकर फिर दौड़ी। हतोंके हाथ-पाँव इधर-उधर बिखरे थे, आहत कराह-कराह जल माँग रहे थे। पर उसके पास समय न था। उसके संसारमें आग लगी थी, वह न रुकी।

पृथ्वीकी गड़गड़ाहट अभी जारी थी, पर भूकम्प कुछ थम गया था।

युवती चमकते कँगूरेके सहारे दौड़ी जा रही थी, एक मन, एक दम।

सहसा कँगूरा चमका और फिर टूटकर नेत्रोंसे ओझल हो रहा। सहारा जाता रहा। पथ खो गया। अन्धकारमें वह स्वयं खो गयी। फिर नेत्र मींच वह सामने दौड़ी।

कहाँ ?

धनकुबेरकी ओर !

पर वह कहाँ था ?

नहीं जानती।

असुरवेगसे वह भागी, आकाशमें कौंधती बिजलियोंके प्रकाशमें, ढूहों-के ऊपर, शवोंको लांघती, अंगोंको रौंदती। जहाँ इतने प्राणी वेगसे मृत्यु-के घाट उतर रहे थे कौन-सी अदृष्ट, अलक्षित शक्ति उसकी रक्षा करती उसे लिये उड़ी जा रही थी—वह नहीं जानती थी। उसने सोचा भी नहीं—समय न था।

वह अदम्य उत्साहसे फिर भागी। विद्युत्के प्रकाशमें उसने धनकुबेर-को सहसा मोड़पर सामने देखा। नेत्र मींच वह और वेगसे दौड़ी।

वह धनकुबेर ही था।

किसी प्रकार अपने जलते भग्नप्रासादसे वह निकल भागा था, परन्तु उसने नहीं जाना किस प्रकार स्मृति खो, मार्ग भूल वह इधर आ भटका। किसी अद्भुत नियतिसे दोनों एक ही खोये पथपर आ मिले!

धनकुबेरने भी असुर-कन्याको देख लिया था—अस्त-व्यस्त, नंगी, भागती। उसके पगोंमें पंख लग गये। वह उड़ चला।

वसुन्धरा काँपी। सामने पृथ्वी फट गयी। युवतीने विद्युत्के प्रकाशमें गहरे गर्तको देखा—मृत्युने मानो अपना मुखविवर खोल दिया था। आलोकको प्रतीक्षामें वह फिर रुकी। पृथ्वी फिर काँपी। साथ ही वह भी काँपी! आकाश चमका और वह विवरके उस पार हो रही।

भागी। मृत्युने उसका पीछा किया।

धनकुबेर बहुत समीप आ चुका था। सहसा पासकी ऊँची भग्न

दीवार टूटी और आगेके दृश्यकी भीम कल्पना कर असुर-कन्या मूर्छित हो गिर पड़ी। पर गिरी वह अपने धनकुबेरके सुखद अंकमें। फिर वे न उठे। न उन्होंने जाना—मृत्यु उनका पीछा कर रही थी और उसने उन्हें एक साथ जा पकड़ा।

पौ फट रही थी। अग्निका दहकता गोला पूर्वमें निकल रहा था। केवल ऊर्ध्वरेतम् महादेव और योगिराज बचे थे! सिन्धुनद उमड़कर नगरमें भर आया था। धधकती चिता ठण्ढी हो गयी थी।

जब संसार जागा सिन्धुतटका यह नगर 'शवोंकी ढेरी' बन चुका था। योगीकी भाँति नगर सोया पड़ा था। सभ्यताकी सन्ध्यामें क्या वह फिर जागेगा?

एकाकी योगिराजने अपने ऊँचे स्थानसे नगरकी ओर देखते हुए कहा, "कलाके अभागे उपासक, मैंने कहा था।"

सिन्धुकी लहरोंने सुना। मलयानिलने फूँककर मन्दिरका भस्म उड़ा दिया। दिनकरने कहा—जैसा कल था वैसा आज नहीं!



इन्द्र

[सिन्धुकी भारतीय सभ्यताके बाद ही, कदाचित् उसके उत्तरकालके समानान्तर ही, भारतवर्षमें आर्यसभ्यताका विकास हुआ था। इन्द्र शब्दका प्रयोग आत्माके अर्थमें ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमें कई स्थलोंपर हुआ है। वृत्र विलासादि वासनाओंका प्रत्यक्ष रूप है। ऋग्वेदमें सुरासुर-युद्धका अनेक स्थलोंपर संकेत और वर्णन मिलता है। अथर्ववेदमें जादू-टोने और ऐन्द्रजालिक रहस्योंके अनेक प्रसंग हैं। प्रस्तुत कहानीके आंशिक आधार ऋग्वेदके दसवें मण्डलके दो सूक्त १४५ और १५९ हैं। इनमें-से प्रथम उपनिषत्सपत्नीबाधन सूक्त है जिसका ऋषि इन्द्राणी है, और द्वितीयका ऋषि शचीपौलोमी है।]

"हाँ, मैं वही हूँ – आत्मतत्त्व।"—इन्द्रने फिर कहा।

"फिर तुम्हारा लाभ क्योंकर हो?"

"मेरे लाभका अर्थ तुमसे भिन्न कुछ भी नहीं।"

"नहीं समझ सकी, इन्द्र।"

"समझ लेनेके बाद जिज्ञासा नहीं होती। जानता हूँ—नहीं समझ सकी।"

"फिर कौन समझाये?"

"स्वयं समझो – मैं तुमसे पृथक् नहीं। मुझे अपने भीतर समझो। निजको जानकर मुझे जानोगी।"

"निजको जाननेकी न तो जिज्ञासा उठती है न तुमसे भिन्न ज्ञानकी अभिलाषा है। न उसका सुख है।"

"देखो, प्रिये, इन्द्रत्व एक परम्परा है और इस परम्पराका एक-एक, भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व है—वरुणका एक, विवस्वानका दूसरा, तुम्हारा तीसरा। प्रत्येक जीवधारीमें इन्द्रत्व है जिसका आवागमन पुरुष-शरीरीके रूपमें एक परम्परा है। यदि इस पुरुषको, जिसकी सत्ता तुमसे भिन्न, परे, नहीं, पहचानोगी, इन्द्र तुम्हारी ज्ञान-परिधिके भीतर होगा।"

"फिर यह सोम-गोवत्स क्यों ? आहार-विहार क्यों ? विबुध-वनिताओंका आकर्षण क्यों ? अप्सराओंके हाव-भाव-विलास क्यों ? वृत्रके प्रति प्रयास क्यों ? फिर इन्द्र क्यों ? तुम क्यों ?"—इन्द्राणी मचल गयी।

"ये सब इन्द्रत्वके परम्परागत अवलम्बन हैं। और ये सभी मेरे भी हैं, तुम्हारे भी, वरुण-विवस्वान्के भी, प्राणि-मात्रके। वृत्र भी परम्परागत है—मेरा भी, तुम्हारा भी। इसके प्रति प्रयास भी सनातन है, सदा रहेगा। वज्रप्रहारसे वृत्र असंख्य बार हत हो चुका किन्तु फिर उठता है, फिर उठेगा। हाँ 'फिर इन्द्र क्यों ? तुम क्यों ?' सार्थक है। पर इसका उत्तर कौन दे ? मैं स्वयं नहीं जानता, प्रिये, इन्द्र क्यों ?—मैं क्यों ?"

"अद्भुत पहेली है, इन्द्र। कहीं यह भी तुम्हारा छलावा तो नहीं ? मेरी समस्या इससे हल नहीं होती।"

"इन्द्रने मुसकरा दिया।"

इन्द्राणीको इन्द्रकी युक्तियाँ कुछ न जचीं। उसने अपनी बुद्धिका सहारा लिया।

"हे असुरविक्रम महौषधि, मैं तुम्हें अतीव श्रद्धासे खोदती हूँ, सपत्नीको बधो"—नन्दनके एकाकी छोरपर निशीथकी तमपूरित नीरवतामें पतिको सौतके प्रति उदासीन करनेवाली ओषधिको खोदते हुए इन्द्राणीने धीरे-धीरे 'उपनिषत्सपत्नी-बाधन' मन्त्र पढ़ा।

चितीने अग्निसे मुख हटाकर कुछ सस्वर गिना—'पाँच'—फिर वह

अग्नि प्रज्वलित करने लगी ।

"शुभे, सुपुत्रे, तुम शक्तिप्रसविनी हो, मुझे विजय दो । 'हे असुरविक्रम महौषधि, मैं तुम्हें अतीव श्रद्धासे खोदती हूँ, सपत्नीको बधो' "—इन्द्राणी-ने जड़ीकी परिक्रमा कर फावड़ेसे फिर खोदा ।

"छह ।"

"मेरा पति मुझे दो और 'उससे' उसे उदासीन करो । 'हे असुरविक्रम महौषधि, मैं तुम्हें अतीव श्रद्धासे खोदती हूँ, सपत्नीको बधो' "—इन्द्राणीने फावड़ा हटाकर ओषधि हाथोंसे उखाड़ ली ।

"सात ।"

चिती दौड़कर इन्द्राणीके पास पहुँची और उसका हाथ पकड़ उसे अग्निकी ओर ले चली । इन्द्राणीके नेत्र बँधे थे । उसके श्वेत शरीरपर श्याम वस्त्रके सप्तचीवर सात ही ग्रन्थियोंमें अटके थे । केश सात वेणियोंमें गुँथे थे । उनमें सात-सात फन्दे पड़े थे ।

चितीने इन्द्राणीको अग्निके समीप बैठाते हुए कहा, "देवि, पुत्तलिकाएँ अग्निमें डाल दो ।"

इन्द्राणीने नारीकी आकृतिवाली सात काली पुतलियाँ कटिभागसे निकालीं और अग्निमें डाल दीं । धुआँ उठने लगा ।

"देवि, परिक्रमा कर एक-एक बार महौषधिके सात-सात टुकड़े अग्निमें डालो और मन्त्रका मूक जाप करो"—चितीने समझाया ।

इन्द्राणीने अग्निकी सात बार परिक्रमा की, प्रत्येक बार महौषधिके सात-सात टुकड़े अग्निमें डाले और प्रत्येक बार उसने मन्त्र पढ़ा—"सपत्नीका नाश हो, इन्द्र मेरा हो !"

धुएँके बीच सात बार स्वर्णतारोंकी भाँति सात-सात ज्योतियाँ उठीं और अन्धकारमें विलीन हो गयीं । चितीने इन्द्राणीका हाथ पकड़ लिया । दोनों प्रासादकी ओर चल पड़ीं । इन्द्राणी सशंक थी, चिती निश्चिन्त ।

देवासुर-संग्राम छिड़ा था। वृत्रके आघातसे देवताओंमें भगदड़ मच गयी थी। इन्द्रने घोर गर्जन किया। भागती हुई देवसेना एक बार फिर लौटी।

हाथको हाथ नहीं सूझता था। वृत्रकी मायासे देवसेनापर अकस्मात् अग्निवर्षा होने लगती, फिर सहसा अन्धकार छा जाता। अग्निके प्रकाश-में आकाशके एक कोनेमें उसे देख जबतक इन्द्र उसपर वज्र-प्रहार करता, क्षण-भर बाद दूसरे प्रकाशमें आकाशके अन्य भागमें वह हँसता दिखाई पड़ता। उसकी सेनाके दुर्मुख असुर शक्तिकी सीमा थे। उनके अस्त्रप्रहार-से देवताओंकी सेना तितर-बितर हो जाती। वह स्वयं अपना विशाल मुख खोले विकराल दंष्ट्रोंसे पृथ्वीको कभी पातालकी ओर फेंक देता कभी दौड़कर उसे पकड़ लेता। उसके अनेक कर विकट प्रहार कर रहे थे और उसका सुदीर्घ अहिपुच्छ रह-रहकर ऐरावतके पृष्ठभागपर प्रचण्ड वेगसे आक्रमण करता। विशालकाय ऐरावत चोटकी व्यथासे चीत्कार कर उठता। उसके निरन्तर कर्णास्फालनसे इन्द्रके जघनोंका बुरा हाल था।

इन्द्रने गरजकर पूछा, "आदित्य कहाँ हैं? क्या उन्हें भी नहीं सूझता?"

आकाशके सुदुर भागसे उत्तर मिला—"यहाँ महाराज, यहाँ। मरुतों-के संघट्टसे हमारा मार्ग अवरुद्ध हो गया है।"

एक साथ द्वादश आदित्य बोल उठे थे।

सुरराजकी भुजाएँ फड़क उठीं। क्रोधसे भुजा पसारकर उसने पूछा, "पूषन्, तुम्हारे मरुत कहाँ हैं? देखो, कहीं उन्हींपर मुझे वज्रप्रहार न करना पड़े। कायर मरुतोंको सम्मुख समरमें भेजो।"

इन्द्रके शब्दोंका उत्तर आसुरी अट्टहाससे मिला। वृत्रकी हँसीसे आकाश हिल गया।

गगनके सुदूर भागसे पूषन्की दुर्बल वाणी सुन पड़ी—"देव, मरुतोंके साथ मैं बन्दी हूँ। वृत्र मेरे वक्षपर बैठा है। आदित्योंके सम्मुख दैत्योंके

माया-मरुतोंकी भित्ति खड़ी है।"

हँसीका एक ठहाका और लगा। इन्द्रने विभोर हो क्षण-भर अपने वक्षपर हाथ फेरा—वृत्र कहीं वहाँ भी तो नहीं बैठा है। इन्द्राणी असुर-के अट्टहाससे सन्त्रस्त हो उठी। अलकजालसे मन्दार-कलिका अधरमें जा गिरी। अशुभकी आशंकासे इन्द्राणी काँपी। हृदयपर हाथ रख उसने एक बार टटोला : इन्द्रने कहा था—वृत्र सबका है।

पूषन्‌के शब्दको लक्ष्य कर इन्द्रने वज्र मारा। मरुतोंका एक भाग मृत्यु-वेदनासे कराह उठा। आकाशके दूसरे छोरपर वृत्र गरजा। माया-मरुत भागे। द्वादश आदित्य चमक उठे।

आकाश रिक्त था, वृत्र प्रच्छन्न।

श्वेत मरुतोंके गमन-वेगसे प्रभंजन प्रचण्ड हो उठा। इन्द्रके नथने फूल रहे थे। उसने ललाटपर चमकते श्रमकण धीरे-धीरे पोंछ लिये। संघर्षकी सघनतासे फड़कती दक्षिण भुजाका दमकता केयूर-पट्ट टूटकर गिर पड़ा। थके ऐरावतने दम लिया। देवता इन्द्रको घेरकर खड़े हो गये।

"दैत्य भागे! दैत्य भागे!" के घोषसे दिगन्त पूरित हो उठा। इन्द्र-ने हृदयपर हाथ रख देवताओंके स्वरमें स्वर मिलाते हुए किंचित् अन्य मनस्क हो कहा, "दैत्य भागे!" इन्द्राणीको सान्त्वना देती हुई चितीने दोहराया—"दैत्य भागे!" इन्द्रके अभिन्नहृदय वृषाकपिने इन्द्राणीको प्रसन्न करनेके लिए अपनी मुखचेष्टा अनेक प्रकारसे विकृत की। परन्तु त्रासकी प्रचुरताके कारण उसका हृदय उद्वेलित हो रहा था सो वह न हँसी। वृषाकपिने चितीकी ओर देख अश्लील मुद्रासे संकेत किया।

अभी देवोंके निर्घोषकी प्रतिध्वनि विलीन न हुई थी कि दक्षिण आकाशमें घटा-सी उठने लगी। प्रतिक्षण उसकी सघनता बढ़ती जा रही थी, श्यामता गहरी होती जा रही थी। देवता नेत्र फाड़-फाड़ उधर देखने लगे। इन्द्र भी चिन्तित, सशंक हो उठा। उसके सारे मरुत समीप खड़े थे; फिर यह क्या?—वह चकित था। देवताओंके छक्के छूट चुके थे।

दिनोंके युद्धके बाद भी क्या दम लेनेका अवकाश न मिलेगा—सन्त्रस्त हो उन्होंने इन्द्रकी ओर देखा। इन्द्र मुन्न था।

घनघोर घटाने धीरे-धीरे बढ़कर सारे दक्षिण गगनको आच्छन्न कर लिया। दैत्योंका पुनराक्रमण जान देव समरके लिए फिर प्रस्तुत हुए। इन्द्रने सजग हो ललकारा। वज्रको उसने मुट्ठीमें कसकर पकड़ लिया। आदित्योंने अपने सारे नेत्र खोल दिये पर सामनेकी घनता न घटी। इन्द्राणीने दक्षिण आकाशकी उठती घटा देख नेत्र मींच लिये। उसके रक्षक द्वारोंपर तनकर खड़े हो गये।

इन्द्रने तौलकर अमोघ वज्रका प्रहार किया। घटा छिन्न-भिन्न हो गयी। किन्तु अद्भुत रहस्य था उस घटाका। उसका कहीं केन्द्र लक्षित नहीं होता था। वज्रके आघातसे उसमें-से टूटकर असंख्य टूक आकाशमें बिखर चले। देवताओंने देखा—आकाश-मार्गमें संख्यातीत पक्षधारी पर्वत अत्यन्त वेगसे उड़ रहे हैं। उनकी गतिकी तीव्रतासे प्रचण्ड आँधी बह रही थी। उसके मार्गमें पड़े कितने ही देवता पिस गये। सुरोंमें हाहा-कार मच गया। देवसेनाके पैर उखड़ गये। ऐरावतके मस्तकपर एक विशाल शिलाखण्ड टूट पड़ा। सुरगज भागा, मरुतोंको रौंदता, देवताओंको कुचलता। इन्द्रको भागते देख बचे-खुचे देवता भी मैदानसे भाग निकले। इन्द्र क्रोधसे तमतमा उठा। अकस्मात् राजप्रासादके अन्तःपुरसे हाहाकार सुन पड़ा। रानियाँ रो पड़ीं। उनके क्रन्दनसे भग्न प्रासाद गूँज उठा।

देवताओंने प्राणोंके डरसे भागकर दूर शरण ली थी। दैत्योंने इन्द्रके अवरोधपर आक्रमण किया था।

स्त्रियोंका रुदन सुन इन्द्रके क्रोधकी सीमा न रही। उसने ऐरावतके मस्तकपर तीक्ष्ण अंकुशका भरपूर हाथ मारा। विशाल पशु चिंघाड़ता हुआ लौटा। प्रासादके अट्ट और अलिन्द टूट गये थे, अवरोधके रक्षकोंने सुदूर आकाशमें शरण ली थी। नन्दनके पुष्प दैत्योंने मसल डाले और शचीकी कमनीय काया विक्रान्त वृत्रने जीर्ण कर दी। वह दैत्यराजकी

भुजाओंमें जकड़ी चिल्ला रही थी। वृत्र उसकी ओर कामलिप्सासे देखता पातालकी ओर उड़ा जा रहा था। दैत्यसेनाके वीर पातालके तमपूर्ण गह्वरोंमें जा छिपे। आकाश-मार्ग सूर्यकी किरणोंसे आलोकित था। देवता लौटे, इन्द्रकी ओर दृष्टि करनेकी उनमें क्षमता न थी।

इन्द्रने वृत्रका पीछा किया। विशाल पुच्छ फटकारता दैत्य तीव्र गतिसे भागा। मघवाके पीछे थे आदित्य और वरुण। महेन्द्रने वज्र मारा, लक्ष्य खाली गया। दानव अदृश्य हो गया। देवराज कुपित था, आदित्य अवसन्न, वरुण निष्प्रभ।

इन्द्रके पीछेसे ऐरावतके पृष्ठभागपर पुच्छ-प्रहार करते वृत्रने अट्टहास किया। देवराजने पीछे घूम वज्र सन्धाना किन्तु मायावी दैत्य दृष्टिसे पुनः अगोचर हो चुका था। इन्द्रने आदित्योंको धक्के देकर उसकी ओर फेंका। घटाओंका अवलम्ब टूट गया। सामने, दूर, धराके वक्षपर चमकती जल-राशिके तटपर वृत्र दिखाई पड़ा। उसकी भुजाओंके आवर्तमें पड़ी शची छटपटा रही थी। उसका अधिवास अधरमें वायुके सहारे उड़ा जा रहा था, नीवीबन्धके टूट जानेसे अधोवस्त्रका विशेष भाग दानवके पुच्छमें लिपट गया था और उसका वक्ष अहिपुच्छके गुंजलकसे प्रच्छन्न था।

सुरराजके नेत्रोंसे क्रोधाग्निकी लपटें निकलने लगीं। उसने अपने अमोघास्त्रको विफल होते देख ऐरावतके गण्डस्थल और मर्ममें एक साथ चोट की। देवराज प्रचण्ड वेगसे भागा। आदित्योंने कोटि करोंसे वृत्रको पकड़ना चाहा। वृत्रके गुंजलकोंके पीछेसे निकलकर दानूने उसे ललकारा। वज्र छूट चुका था। वृत्र महोदधिमें जा डूबा। वरुण सत्वर अपने राज्यमें घुसा। वज्रकी चोटसे दानूका वक्ष विदीर्ण हो गया। अग्निकी उष्णतासे सागरका अन्तर खौल उठा। बड़वानलने विकराल रूप धारण किया।

माँका निधन देख वृत्रने भयानक गर्जन किया किन्तु कोई चारा न देख वह फिर पातालकी ओर भागा। उसका मार्ग वरुणके राज्यसे होकर था। वरुणसे घोर युद्ध करता वह एक बार फिर जलसे बाहर निकला। उसकी

दाढ़ोंसे अग्निकी अनन्त ज्वालाएँ निकल-निकल आकाशको चूम रही थीं। भय-विगलित इन्द्राणी संज्ञा खो चुकी थी।

वृत्र फिर डूबा, किन्तु वरुणने अपने असंख्य पाशोंसे जकड़कर फिर उसे ऊपर फेंका। इन्द्रने वज्रको मन्त्रपूत कर उसे मारा। वह अमोघ अस्त्र अपनी प्रदीप्तिसे दिशाओंको आलोकित करता, आदित्योंके तेजको हरता वेगसे चला। वृत्रकी मारसे विह्वल वरुण जर्जर हो चला था। वज्रने दैत्यके वक्षके शिलाखण्डकी भाँति टूक-टूक कर दिये। 'वृत्रहा !' 'वृत्रहा !' के स्वरसे दिगन्त गूँज उठा।

मृत्यु-वेदनासे चीत्कार करता हुआ वृत्र जलपर लोट गया। उसके मुखविवरसे फेनके असंख्य स्रोत फूट पड़े। संज्ञारहित शची जब दैत्यके गुंजलकोंसे छूट जलपर गिरी वरुणने झट उसे सँभाला। देवराजने पत्नीको भुजाओंमें भर लिया। इन्द्राणीका सारा शृंगार मसल गया था। उसका मुख पीला पड़ गया था। जब उसने संज्ञालाभ कर स्वामीपर अपनी शंकित, चकित दृष्टि डाली, इन्द्र अपने ललाटसे स्वेदकण पोंछ रहा था। इन्द्राणीका अधिवास अभीतक वायुमें लहरा रहा था।

इन्द्रके विशाल सभामण्डपमें महार्ह आसनोंपर सुरगण आसीन थे। उनसे ऊपर देवराज इन्द्रका हिरण्यमय सिंहासन दमक रहा था। सुरराजका मस्तक मुकुट-वेष्टनसे मण्डित था और उसके वक्षकी पुष्टता ग्रावीसे छन-छन-कर निकल रही थी। जघनोंको ढँके हुए उसका अधिवास घुटनों तक नीचे लटक रहा था। अंग-अंगसे आनन्दके स्रोत फूट रहे थे। चतुर्दिक् हँसीके फव्वारे छूट रहे थे। महोत्सवमें देवसंसार भूला था। अप्सराओंके वाद्य और नृत्यसे दिन-रात समान हो रहे थे। उर्वशीके संगीतका माधुर्य शंका-रहित आनन्द जनन करता था। गन्धर्वोंके हृदय आतंकसे रिक्त थे।

देवताओंके आहार-विहारकी अवधि असीम हो गयी थी। उनके

भोजनालयमें पीवर गोवत्सोंकी पंक्ति भूखकी मात्राको द्विगुणित कर रही थी। नन्दन कानन एक बार फिर हरा हो गया था। देववनिताओंकी लाज फिर सुरक्षित हो चुकी थी।

उर्वशीकी किंकिणी जब कुछ शिथिल हुई, इन्द्रने प्रसन्न मुद्रासे उसकी ओर देखा, फिर रुकनेका संकेत किया। अजर यौवनका भार लिये उर्वशी मुसकराती, अंगोंको समेटती हुई रुकी। उसके पुष्पाभरण अब भी मस्तक और जघनोंपर, वक्ष और बाहुओंपर हिल रहे थे। सोमालससे अर्द्धनिमीलित नेत्र हँसते हुए ऊपर उठे और इन्द्रके दृष्टिपथमें जा अटके। ठीक इसी समय नवप्रासादके प्राचीरोंको भेदती हुई पौलोमीकी गर्वीली वाणी सुन पड़ी—"मेरे भाग्याकाशका सूर्य मूर्धापर अभिषिक्त है—आज इन्द्र केवल मेरा है।"

उर्वशीने व्यंग्य-भरी मुद्रासे हँसते हुए इन्द्रकी ओर देखा, फिर देवराजका मधुपात्र भर दिया।

"आज मैं स्वयं विश्वका केतु, ब्रह्माण्डकी मूर्धा हूँ। मैं सर्वथा विजयिनी हूँ, स्वामी आज मेरे अधीन हैं।"

उर्वशीने इन्द्रकी ओर अर्थभरी दृष्टि फेरी, फिर उसका चपक आसवसे भर दिया था। देवराजने मुसकराकर अप्सराका उत्तर दिया। देवनारीने अधर काटा।

नेपथ्यसे इन्द्राणीका स्वर फिर सुन पड़ा—"मेरे पुत्र शत्रुघ्न हैं, मेरी कन्या सम्राज्ञी है। मैं विजयिनी हूँ। स्वामीके स्वत्वोंपर मेरी सत्ता प्रतिष्ठित है। वह सोम, जिसका पान कर इन्द्र प्रचण्ड हुए, मैंने ही प्रस्तुत किया था। अतः, हे अमरगण, मेरा गृह सदा सपत्नीजनों-से रक्षित रहे!"

उर्वशी सशंक हो देवताओंकी ओर देखने लगी। अमरोंमें इन्द्राणीके प्रति समवेदना जगी। सुरराजका चपक उर्वशीने फिर मुँह तक भर दिया। उसका धैर्य उसे छोड़ चला था। एक भयप्रद भाव उसके हृदयमें स्पष्ट

आकृति धारण कर रहा था। उसकी चेष्टा फिर भी सस्मित बनी थी।

शचीका सशक्त स्वर फिर सुन पड़ा—"मैं सर्वथा विजयिनी हूँ। सपत्नीजनोंको मैंने कुचल डाला है और वीरपुंगव स्वामी और इस देव-समूहपर मेरा एकान्त शासन है।"

इन्द्रकी हँसोड़ मुद्रा आसवकी असंयत मात्रासे विकृत हो गयी थी, फिर भी उसने रिक्त चषक उर्वशीकी ओर बढ़ा दिया। सन्देह और भयसे उद्विग्न उर्वशीने मद्यपात्र उलट दिया। मधुपात्रका मुख अन्यत्र था, चषक-का अन्यत्र। धार नीचे पड़ती रही पर उसका शब्द नर्तकीने नहीं सुना। उसके कानोंमें इन्द्राणीका स्वर गूँज रहा था। इन्द्र खिलखिलाकर हँस पड़ा।

अमरोंने एकस्वरसे प्रार्थना की—

"जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिः—देव, गोवत्सोंके मृदुल मांससे उदर पूरित हो चुका, सोमके प्रभावसे भृकुटियोंमें बल पड़ गये। अब गृहोन्मुख हो। हे मघवन्, पत्नी ही गृहका स्वरूप है—अन्तःपुरमें पधारो।"

अनेक कण्ठोंसे विनिर्गत यह प्रार्थना प्रतिध्वनि-द्वारा इन्द्रको प्रिय सन्देश सुनाने लगी।

दक्षिण करसे गन्धर्वराज चित्ररथका सहारा लिये, वाम कर उर्वशीकी ग्रीवापर रखे जब इन्द्रने प्रासादकी ओर प्रस्थान किया, सोमकी अधिकतासे उसके पद स्खलित हो रहे थे, गति अस्थिर हो रही थी।

२ जनवरी १९४०
सायं ६—९

●

प्रलोभन

[ऋग्वेदके समयमें सगोत्र विवाहोंकी प्रथा वर्जित हो चुकी थी। परन्तु उनकी स्मृति अभी बनी थी और कदाचित् एकाध विवाह-सम्बन्ध इस प्रकारके हो भी जाते थे। यम-यमीके प्रस्तुत प्रसंगका आधार ऋग्वेदके दसवें मण्डलका दसवाँ सूक्त है। यम-यमी जुड़वाँ हैं। द्यावा—आकाश—और पृथिवी ऋग्वैदिक देवताओंके क्रमशः पिता और माता हैं। विवस्वान—सूर्य—वरुण, और इन्द्र द्यावा-पृथिवीके पुत्र हैं और यम-यमी विवस्वान् और सरण्यूके पुत्र-पुत्री। वरुण जगत्के नियमोंका पालक है।]

"देवि!"

"स्वामिन्!"

"विवस्वान् कहाँ है?"

"गगनपथपर, रथारूढ़।"

"वरुण?"

"वेधशालामें, व्यस्त।"

"इन्द्र?"

"आपानभूमिमें तन्द्रित।"

"बालक?"

"स्वर्गंगाके तटपर।"

पुरातन पुरुषने श्वेत दाढ़ीपर हाथ फेरते हुए फिर पूछा, "कब जागी, प्रिये?"

"नित्यकी भाँति, उषाने जब द्वार खोले।"––कक्षमें प्रवेश करते हुए शुक्लवसना वृद्धाने उत्तर दिया।

"क्या प्रासाद रिक्त हैं, सुभगे?"––स्वर्णके छोरोंवाले आस्तरणसे ढँके पर्यंकपर धीरे-धीरे बैठते हुए विशालकाय पुरुषने फिर पूछा।

"हाँ, प्रासाद तो रिक्त है सही, किन्तु वैसे ही जैसे वह इन शिशुओंके जन्मके पूर्व था। अब क्या विश्वजनकमें सृष्टिव्यापार सम्पादन करनेकी शक्ति नहीं रही?"––व्यंग्यपूर्ण भाषामें जगज्जननीने विहँसकर पूछा।

वृद्धने वृद्धाका चिबुक पकड़ उसे चूम लिया। फिर पृथिवी द्यावाके पार्श्वमें हँसती हुई जा बैठी।

"भला तुमने बालकोंकी क्रीड़ा देखी?" उसने द्यावासे पूछा।

"चलो देखें।"––द्यावाने कहा।

दोनों पुष्करावर्तक मेघपर बैठ गये। श्याम घनका सुखद वाहन नील गगनके बीच उड़ चला। उसके किनारे सूर्यकी किरणोंके प्रवेशसे स्वर्णकी दौड़ती रेखाकी भाँति चमक रहे थे। बालरविकी रश्मियाँ अभी निस्तेज, स्पर्शसुखद थीं। आकाशगंगामें दक्षिण वायु नन्हीं-नन्हीं तरंगें उठा रहा था। उसकी अरुण धारामें विशाल ऐरावत हस्तिनियोंके साथ क्रीड़ा कर रहा था। जहाँ प्रवाहकी गति मन्द थी और जल थमा-सा जान पड़ता था वहाँ प्रफुल्ल स्वर्णकमल ऊँची नालोंपर झूम रहे थे। जब बलदर्पसे मत्त ऐरावत प्रवाहको रोकता हुआ पिछले पदोंपर खड़ा हो सूँड़को ऊपर उठा चिंघाड़ता, फिर उछलकर हस्तिनियोंपर नीहारोंकी वर्षा करता, वे दौड़कर उसे कमलनाल प्रदान करतीं। ऐरावत अपनी सूँड़ उनके मस्तकपर रख देता।

आगे अप्सराओंके साथ गन्धर्व जल-विहार कर रहे थे। इनका आनन्द देवदुर्लभ था। सौन्दर्यकी ये बिखरी विभूतियाँ रसिक, कलाविद् गन्धर्वोंके स्नेहकी पुतलियाँ थीं। इनका संसार निराला था। पुष्करावर्तक ठिठक गया। उर्वशी जब स्नान कर बाहर निकली, उसके वस्त्र उसे नहीं मिले।

दौड़कर मन्दाकिनीके जलमें उसने अपना तन छिपा लिया। गन्धर्व हँस पड़े। द्यावाने पृथिवीको चुटकी काटी। पृथिवी हँसी।

उसने पूछा, "वृद्धकी चेष्टा क्या फिर जाग रही है ?"

"बालकोंकी क्रीड़ा देख वृद्धकी सोयी चेष्टा सत्य ही फिरसे जाग उठती है !"—द्यावाने स्वीकार किया।

पुष्करावर्तक आगे बढ़ा। सामने देवबालक स्वर्गंगाके तटपर कनक-सिकतासे खेल रहे थे। वे कई दलोंमें विभक्त थे। एक दल था रोदसी और मरुतोंका, दूसरा था सूर्या, सोम और अश्विनीकुमारोंका और तीसरा यमी और यमका। वे गृहनिर्माण खेल रहे थे। स्वर्णसिकतासे इनके प्रासाद बन चुके थे, अब क्या हो ?

अश्विनीकुमारोंने सुझाया—गृह खड़े हो चुके, अब उनमें प्रवेश और निवास होना चाहिए। पति-पत्नीकी कल्पना हुई। रोदसी चमक उठी, सूर्या लजा गयी, यमी उछल पड़ी। मरुत हँसे, सोम पुलकित हो उठा, यम सकुच गया।

रोदसी मरुतोंमें जा बसी। नतमस्तक हो सूर्याने सोमका पाणिग्रहण किया। केवल यम ठिठका। मरुत और अश्विनी-कुमार हँस पड़े। रोदसी-ने यमीकी ओर विजय-गर्वसे देखा। यमी झिझकी। यम झेंप गया।

यमीने कहा, "चल भाई, यह तो खेल है।"

यम टससे मस न हुआ।

यमीने सरोष कहा, "रोदसी और सूर्याके सहचर कितने अच्छे हैं, यम ?"

यम झल्ला उठा।

'तू जा उनके साथ !"—वह बोला।

द्यावा-पृथिवी खिलखिलाकर हँस पड़े।

शैशव थककर सोया। कैशोर भी धीरे-धीरे सिधारा। यौवनने शीश उठाया, साधोंकी आँधी लिये, कामनाओंका परिवार लपेटे।

यम-यमी जुड़वाँ थे। साथ ही जन्मे, साथ ही बढ़े, साथ ही खिले। पर दोनोंके स्वभावमें बड़ा अन्तर था—यम था तपोनिष्ठ, सरल, बीहड़; यमी थी तृषित, मायाविनी, अल्हड़।

फिर भी दोनों साथ-साथ रहते, खेलते, सोते। भाई बहनको प्राणोंसे भी बढ़कर प्यार करता और बहन भी भाईको हृदयसे चाहती। पर दोनोंके प्रेममें अन्तर था। एकका स्नेह अपार्थिव था, दूसरीका वासना-जन्य। यमीका हृदय कामनाका केन्द्र था। यमको देख उसके हृदयमें वासनाकी गुदगुदी उठती। जब इतर देवकन्याएँ यमको प्यास-भरी आँखों-से देखतीं यमीको ऐसा प्रतीत होता जैसे उन्होंने यमकी देहसे कुछ ले लिया हो और वह चाहती कि उनकी आँखोंमें समायी छवि वह छीन ले।

मर्त्यलोकसे लौटकर उषाने यमीकी ग्रीवामें बाँह डाल कहा, "अरी, वसुन्धरापर वसन्त बगरा है। वनस्थलियाँ पुष्पोंसे लदी हैं, तरु नवपल्लवों-से भरे। आसवपायी यक्ष और कामातुर किम्पुरुष प्रियाको चूमते हैं।"

यमीकी लालसा जगी। उसने प्रण किया, वह कन्दर्पकी सहायतासे यमकी विजय करेगी।

नन्दनमें माधव जागा। मधुमाससे वनश्री द्युतिमती हुई। सरोंमें कनकपद्म चमके, पुण्डरीक हँसे। कल्पतरु नये पुष्पोंसे लद गये। नव-कुसुमोंसे मकरन्द बरसने लगा और उसकी सुरभिसे बसा दक्षिण गन्धवह भृंगोंको मत्त करने लगा। रम्य दिवस निकला। नीहारपात रुक गया। नवमल्लिका सज उठी, प्रियंगु और माधवी कुसुमनिचयसे ढँक गयीं। किंशुक रँग गये। कुरबक और कर्णिकार झूमने लगे। रक्ताशोक दोहदकी लज्जासे लाल हो उठा। प्रियाल-मंजरियाँ जागीं। बौरे रसालपर भ्रमर गूँजने लगे।

यमीका असंयत हृदय थिरक उठा। स्वेदोद्गमसे वह काँपी। नारीमें कन्दर्प जागा। सोमसे उसने तृष्णा दवानी चाही परन्तु वह और भी शुष्क हो इसकी याचना करने लगी। यमीने विचारा—आज नहीं तो कभी नहीं। सारा निसर्ग उसके साथ है। आज वह अवश्य अपने हृदयकी चिर प्यास बुझायेगी, यमको जीतेगी। मधु और मदन उसके सहायक होंगे।

वह यमकी विजय करने चली। उसने अपनी मुक्त केशराशिको पराग-भरी मुट्ठीसे रगड़ दिया। दक्षिण मलयके संसर्गसे सुरभिकी तरंग उठी। उसका मन चंचल हो उठा। उसके किरीटका हिरण्य रह-रहकर अपने रत्नमय प्रकाशसे श्याम अलकोंपर हरित रेखा-सी खींच देता।

यमीका विश्व-विजयी प्रसाधन प्रारम्भ हुआ। कर्णोंमें उसने कनक-कमलकी रक्ताभपीत कलिकाएँ धारण कीं। निष्कहार उसके उन्मुख स्तनोंपर आ अटका। बाहुओंमें उसने तप्त कांचनके अंगद और वलय पहने। चौड़ी मणिमेखलासे अवलम्बित हेमरशना घुटनोंतक लटकते अधो-वस्त्रपर फबने लगी।

वासनाका उन्माद लिये यमी प्रासादसे निकली। आम्रांकुरके रसासव-से प्रमत्त पुंस्कोकिलने प्रियासे अकारण उलझ उसका मुख चूम लिया। गन्धर्व उद्दीपक राग गा उठे। अप्सराएँ संकोचसे नतमस्तक हो गयीं। सूर्याने सोमको ढँक लिया। रोदसीने मरुतोंको गगनके पश्चिम द्वारसे भगा दिया।

यमी नन्दन काननमें घुसी। द्वारके मन्दारस्तवकोंने झूम-झूम स्वागत किया। द्विरेफ नाच-नाच गाने लगे। सहकार-मंजरीके स्वादसे कषाय-कण्ठ कोकिल कूक उठा। मन्मथने मानो कूचकी दुन्दुभी बजायी।

यमी प्रकृतिके उपकरणोंसे अपना विभ्रम करने लगी। शिरीष और नवकर्णिकार पुष्पोंकी मालिकाएँ बना उसने कानोंपर लटकायीं। उनके बीच कनककमलकी कलिकाएँ चमक उठीं। बालकुन्दानुविद्ध अलकें वायुमें नागोंकी भाँति हिलने लगीं। पीछे केशको एकत्र कर उसने एक ही मोटी

ग्रन्थि बाँधी और चूड़ापाशमें नये कुरबक पुष्पोंको गूँथा। करमें उसने लीलारविन्द धारण किया। सामने फूलोंकी लड़ियाँ लटकायीं। उनसे वक्षदेश ढँक गया।

श्रोणिभारसे दबी, कन्दर्प-दर्पसे शिथिलगात्रा वह सकामा नारी सोमालस विभ्रम किये लोल नेत्रोंको पैना करती इष्टकी खोजमें निकली। कोकिल फिर कूका, मानो मनस्विनी प्रमदाके प्रोत्साहनार्थ स्मर स्वयं बोला।

नन्दनके रक्षक गन्धर्वराजने नतमस्तक हो कहा, "यम माधवी-मण्डपमें विराज रहे हैं।"

यमी माधवी-मण्डपकी ओर चली।

गन्धर्वराजने मुसकराकर निकुंजके भीतर देखा।

उर्वशीने आकुल हो कहा, "आज यमको कुशल नहीं!"

कनककदलीकी बाड़ोंसे घिरा विशाल माधवी-मण्डप फूलोंसे लदा था। बीचमें निर्मल जलसे भरा सरोवर हँस रहा था। वहीं शिलाखण्डपर बैठा यम जलमें पैरोंको डाले चुपचाप कुछ सोच रहा था। गलेमें निष्कहार पड़ा था। कानोंमें कुण्डल हिल रहे थे, प्रलम्ब भुजाओंमें अंगद कसे थे। ऊँचा मुकुट मस्तकपर रखा था, जिसके नीचेसे निकलकर केश स्कन्धदेशपर इधर-उधर फैले थे। कन्धेपर रखे उत्तरीयके दोनों छोर शिलाखण्डपर पड़े थे और सकच्छ धोती जघनोंको ढँके थी। सुन्दर तप्तकांचन-से दमकते शरीरपर अद्भुत पौरुष खेलता था। दक्षिण करपर चिबुक टिका था।

पंकज-रेणुकी मनोमोहक गन्धसे वातावरण गमक रहा था। लीला-कमलका लम्बा नालदण्ड हाथमें लिये विजय-वैजयन्ती फहराती-सी यमी पगध्वनि बचाती धीरे-धीरे यमके समीप पहुँची। द्वारके नमित बालमन्दार-से स्तबक तोड़ उसने यमको लक्ष्य कर मारा।

यमने चौंककर मस्तक उठाया ।

उसने देखा—हृदयमें युगोंकी बलवती कामना दबाये, हाथमें लीला-कमल धारण किये सस्मितवदना यमी खड़ी है ।

यमका मस्तक धीरे-धीरे फिर नत हो गया ।

यमी लीलारविन्द घुमाती क्रीड़ाशैलपर जा बैठी ।

यमने अब समझा—चारों ओर प्रलोभनके साधन लिये वसन्त क्यों विहँस रहा है । कुछ ही देरमें नन्दनकी कान्ति क्योंकर परिवर्तित हो गयी । चित्तकी वृत्तियोंको समेट, अन्तर्भावनाओंको दबा, धर्मभीरु यम जम-कर बैठा ।

यमीने अपने आसवघूर्णित नेत्रोंको फैलाते हुए कहा, "यम, मुझे कुछ कहना है ।"

उसका कण्ठ रुद्ध हो गया, जैसे आचार भाषाका तिरस्कार करने लगा । वह साँस रोके यमकी ओर देखने लगी ।

यमको जैसे बिच्छूने डंक मारा । उसने मस्तक उठाया, फिर कहा, "हाँ, सो तो समझता हूँ, स्वसे, बोलो ।"

"मेरी एक भिक्षा है ।"—यमी बोली ।

"आदेश करो, बहन, विश्वके शाश्वत नियमोंको छोड़ मुझे तुम्हारे लिए कुछ भी अदेय नहीं ।"—आकुल यम बोला ।

"माँगूँ यम, दोगे ?"—यमीने पूछा ।

"माँगो, यमी, क्या माँगती हो ? अमर जीवन अथवा इच्छामरण ? यदि मेरे अनुचरों-द्वारा मेरे लोकमें पहुँचाये किसी मर्त्यका निवर्तन चाहो तो उसे दूँ ।"—यमने सशंक हो कहा ।

"सो नहीं मागूँगी, यम । न तो मुझे अमर जीवनकी वांछा है, न इच्छामरणकी अभिलाषा और न मैं तुम्हारे अनुचरोंके हाथसे किसी मर्त्यका पुनरावर्तन ही चाहती हूँ....."

यमकी शंका पुष्ट होती जा रही थी । उसने यमीकी बात काटते हुए

कहा, "फिर माँगो, यमी—क्या है तुम्हारी वह याचना ?"

यमीकी मधुर वाणीने माँगा। युग-युगकी दबी साधें खुल पड़ीं—"सुनो, यम, मैं माँगती हूँ तुम्हारा वह अनुपम पौरुष, तुम्हारी उन अविजित भुजाओंकी शक्ति, तुम्हारे उस वक्ष-शिलापट्टका भार, तुम्हारी...."

यमका मस्तक झुक गया। उसकी शंका मूर्तिमती हो रही थी, भय भाषा धारण कर रहा था।

यमीकी युग-युगकी अभिलाषाको आज जिह्वा मिली थी। उसका प्रवाह अविच्छिन्न था—"तुम्हारी शक्तिकी छाया, तुम्हारे मनका मोह, अधरोंका अंकन...."

यम सुनते-सुनते व्याकुल हो उठा।

उसने उसे रोकते हुए कहा, "रहने दो, यमी, सुन चुका।"

यमीके होंठ फड़क रहे थे, वक्ष फूल रहा था।

उसने यमको घूरते हुए कहा, "पर मैं अभी कह न चुकी। सुनो यम, बीचमें न छेड़ो। मुझे कहने दो। युग-युगकी मेरी बात मुझे कह लेने दो। मुझे सारा कह लेने दो, नहीं हृदय फट जायेगा।"

यम चुप हो रहा।

यमीने फिर कहना प्रारम्भ किया, "और मुझे चाहिए निद्रालससे भरे तुम्हारे नेत्रोंका कटाक्ष, तुम्हारी साधोंकी लालसा, तुम्हारे स्वप्नोंका क्षेत्र...."

यमके कानोंमें तप्त घृतकी धारा पड़ रही थी। उसने सिर उठाया।

"तुम्हारी दृष्टिका पथ, बाहुओंकी दोला, श्वासोंकी सुरभि, नासिका-का स्पर्श...."

यमका मुख लज्जासे आरक्त हो उठा। तिरस्कारपूर्वक उसने मुँह फेर लिया।

"और तुम्हारे क्रोधका अभिशाप, प्यारका भार, तुम्हारी गतिका विश्राम, थकनकी पीड़ा...."

"बस, बस, यमी। प्रलाप बन्द करो। वह देखो—वरुणकी तुलाका पापवाला पलड़ा झुक गया!"—आँखें फाड़ते हुए आचारकी मूर्ति वह यम बोला।

वेधशालामें लटकती तुलाका पापवाला पलड़ा आधारपर आ टिका था। वरुणकी भृकुटी खिंच गयी थी।

"झुक जाने दो, यम। आज सारे ब्रह्माण्डको रुद्रके क्रोधमें लय हो जाने दो। पर देखो, मैं आज तुमसे कहूँगी और तुम्हें सुनना होगा।"—यमीने उत्तर दिया।

यमने धैर्यका सहारा लिया।

हृदयको संयत करते हुए उसने कहा, "कहो, यमी, मैं सुन रहा हूँ।"

बवण्डर थम गया था।

यमीने अपना मुख कुछ ऊँचा कर कहा, "यम, मैं चाहती हूँ तुम्हारा सख्य—वह बीज, जिससे विवस्वान्‌का वंश धरापर अक्षुण्ण बना रहे।"

"सखा तो मैं तुम्हारा वैसे भी हूँ, यमी, परन्तु मेरा सख्य सखी उसे मानता है जिसका रक्त मेरेसे भिन्न है। इस बातको न भूलो कि ऋतके रक्षक महाशक्तिमान् असुर वरुणके चरोंकी दृष्टिसे कुछ भी अदृश्य नहीं।"—यमने यमीका उत्तर देना ही निश्चित किया।

"आचारकी व्यवस्था अमरोंके लिए नहीं है यम। यह देवकन्या है जो एकमात्र मर्त्यसे प्रजाकी कामना करती है। देखो, हृदयोंका गुम्फन होने दो और पतिके अक्षय प्रेमसे अपनी जायाको भेंटो।"

यमीने चूड़ाग्रन्थि एक झटकेमें खोल दी। केश वायुमें लहरा उठे। समीर विश्वको विक्षिप्त करने वह उन्मुक्त सुरभि ले उड़ा।

संयत यम बोला, "क्या हम आज वह करें जो पुराकालमें कभी न किया? यमी, ऋत-मार्गके अनुगामी हम अनृतके उपासक क्यों बनें? गन्धर्व विवस्वान् हमारे पिता हैं, सरण्यू हमारी माता। वंशकी मर्यादा न भूलो।"

"परन्तु न तुम ऋत-मार्गका अनुगमन करते हो, न पिताकी इच्छाका अनुकरण। स्त्री और पुरुषके रूपमें स्वयं त्वष्टाने आदिमें ही हम दोनोंको एक साथ गर्भमें रखा। त्वष्टाके व्रतोंका अतिक्रमण करनेका कोई साहस नहीं करता, यम। फिर द्यावा-पृथिवी इस बातके साक्षी हैं कि हम त्वष्टाके बीज हैं।"—यमीने यमकी ही युक्तिका उसके विरुद्ध प्रयोग किया। अपनी विजयपर वह हँसी।

यम कुछ झल्ला उठा। रोषपूर्ण ऊँचे स्वरमें वह बोला, "वह आदि-दिवस किसका जाना है, यमी? किसने उसे देखा? कौन यहाँ आज उसकी घोषणा करेगा? वरुण और मित्रकी व्यवस्था सर्वमान्या है, पर, मायाविनि, पुरुषोंको प्रलोभित करनेके लिए तू उनसे क्या नहीं कह सकती?"

यमीने देखा यमको मित्रावरुणकी व्यवस्था और उसके भंजनके फलस्वरूप पापका भय बहुत है। संसारको साक्षी बनाते हुए उसने घोषणा की—

"मैं—यमी—यमकी कामना करती हूँ। पर्यंकपर हम दोनोंका सम्पर्क हो। मैं पतिके लिए जायाकी भाँति अपने शरीरको अर्पण करूँ और हम दोनों परस्पर मिलनेके अर्थ रथ-चक्रोंकी भाँति दौड़ पड़ें—"

यमका जैसे दम घुटने लगा। व्याकुल हो वह चिल्ला उठा—"हमारे चतुर्दिक् फिरनेवाले देवताओंके प्रहरी कभी स्थिर नहीं बैठते, पलक नहीं मारते। मुझसे नहीं, किसी अन्यसे तू रथचक्रोंकी भाँति दौड़कर मिल।"

यमीकी घोषणाका प्रवाह न रुका—"अम्बरमें, धरापर, सर्वत्र इस मिथुनकी क्रीड़ा हो—यमका अभ्रातोचित कर्म यमीपर हो और उस पापका फल यमी भोगे। यमको उसकी आँच न लगे। उसके मार्गमें सदाकी भाँति सूर्य अपनी किरणें फैलाता रहे।"

यमीकी कामातुरता सस्वर हो नन्दनके वातावरणको बेध बाहर निकल गयी। नारीके दुस्साहससे नर काँप उठा। आचार-नियमोंका रक्षक पश्चात्

होनेवाले पापोंकी कल्पना कर रो पड़ा—

"अवश्य उत्तरकालमें ऐसे युगोंका प्रादुर्भाव होगा जब सहोदर भ्राता-भगिनी घोर अपचारमें प्रवृत्त होंगे।"

फिर यमीको लक्ष्य कर उसने कहा, "देख, सुभगे, अन्य पुरुष खोज, उसके लिए अपनी भुजा पसार।"

यमीने एक बार और प्रयत्न किया, आँसू भरकर, बिलखती हुई—"हाय! यम, पतिके अभावमें वह भ्राता कैसा भ्राता है, निऋतिकी उपस्थितिमें—प्रलयके प्रकोपमें—वह भगिनी कैसी भगिनी है? कामाभिभूत मैं उच्च स्वरसे यह वक्तव्य करती हूँ—आओ, गाढ़ालिंगनसे मुझे बाँध लो।"

यमीने अपनी भुजाएँ फैला दीं, गात कम्पित कर दिया। पुष्पलड़ियोंके हट जानेसे वक्ष कुछ खुल गया। यम टससे मस न हुआ। वरुणकी प्रबल शक्ति उसकी रक्षा कर रही थी। जब यमीका पाप-स्वर वेधशालामें घोष करता तुलाके पापवाले पलड़ेको आधारस्थ कर देता, वरुणकी गम्भीर मुद्रा क्रोधसे विवर्ण हो जाती, फिर जब यमकी आचारपूत वाणीसे पुण्यका पलड़ा नीचे जा बैठता वरुणका मुख प्रफुल्लित हो उठता।

"मैं तुम्हें गाढ़ालिंगनसे नहीं बाधूँगा, यमी। सहोदराके सामीप्यको पाप कहा है। अतः शुभे, अपने आनन्दको किसी अन्यके लिए सुरक्षित रखो। तुम्हारा भाई तुमसे इसकी कामना नहीं करता।"—यमने उच्च स्वरमें उत्तर दिया।

नारीके क्रोधको सीमा न रही। उसने गाली दी—"आह! यम, तू क्लीब है, कापुरुष। तुझमें मन अथवा हृदयका अस्तित्व नहीं। आह! सोच पल-भर तेरे इस भुवनमोहन रूपका भोग कोई अन्य नारी करेगी। तेरे इस कमनीय शरीरका कोई अन्य आलिंगन करेगी, वैसे ही जैसे वनज्योत्स्ना तरुका करती है।"

"अन्यका आलिंगन कर, यमी—ठीक उसी प्रकार जैसे वनज्योत्स्ना

तरुका करती है। तू उसके मनको जीत और वह तेरे हृदयको जीते और तुम दोनों मिलकर एक भद्रलोककी सृष्टि करो।"—विजय-भरे स्वरमें यम बोला।

वरुणने मुसकरा दिया।

यमीके अन्तरमें क्रोधकी आँधी उठी। उसका सारा विलास-विभ्रम असफल रहा। किरीट उसने क्रीड़ा-शैलपर पटककर चूर-चूर कर दिया, आभूषण धूलमें बिखेर दिये, शृंगारके फूल मसल डाले।

जब क्रोधपूर्वक यमीने नन्दनकी ओर देखा, कन्दर्प भाग चला था, वसन्त अदृश्य हो गया था और हेमन्तका सर्वत्र साम्राज्य था।

२१ जनवरी १९४०
प्रातः ५—७.३०



विक्रमोर्वशी

[इस कहानीका कुछ अंश ऋग्वेदके दसवें मण्डलके ६५वें सूक्त-पर अवलम्बित है। कालिदासने भी इस सूक्तको अपने विक्र-मोर्वशी नामक नाटकका आधार बनाया है। पुरूरवाके राज्या-भिषेकका वर्णन-विस्तार वैदिक है जो ऐतरेय ब्राह्मणसे लिया गया है। कहानीका कथानक अधिकतर ऋग्वेद और कालिदास दोनोंसे भिन्न है।]

त्रिवेणीके संगमपर चन्द्रवंशी राजाओंके विक्रमका केन्द्र प्रतिष्ठान बसा था। आर्य-जगत्‌में तब इसके जोड़का दूसरा नगर नहीं था। कलाप्राण द्रविड़ोंकी अगाध सम्पत्ति और अद्भुत शिल्प-आदर्शोंकी लूटसे इस नगर-का मण्डन सम्पन्न हुआ था। रात्रिके समय इसके भवनोंसे असंख्य दीपोंकी छटा गंगाकी हलकी लहरियोंमें झिलमिल करती, सौध-प्रासादोंके कँगूरे जलकी गहराईमें काँपते। प्रतिष्ठानकी समृद्धि देखने स्वर्गसे देवता उतर आते। जब देवलोकमें गन्धर्व ऐलोंके ऐश्वर्यका गान करते, इन्द्रकी कान्ति मलिन पड़ जाती।

विशोंकी पंक्तियाँ खड़ी थीं। विदथ और सभाके प्रतिनिधि समितिमें बैठे थे। उन राजकर्तांका वैभव अद्भुत था, उनकी शक्ति अनियन्त्रित थी। विश और जनोंके प्रतिनिधिस्वरूप वे ही राजाका वरण करते थे।

प्रिय-दर्शन युवा राजा पुरूरवाको अभिषिक्त करते हुए उन्होंने कहा—

"चिर-प्रसन्न, तुम हमारे बीच आओ। इस आसनपर अचल बने रहो। अखिल विश तुम्हें निर्वाचित करता है। राष्ट्रसे तुम्हारा पतन न हो!

"इन्द्रकी भाँति, पर्वतकी नाईं, अचल हो। इन्द्रने इसे हविकी शक्तिसे धारण किया। सोम और ब्रह्मणस्पतिने इन्द्रका सम्बोधन किया, हम तुम्हारा करते हैं।

"द्यावा-पृथिवीकी भाँति ध्रुव, पर्वत-विश्वकी भाँति ध्रुव, विशोंके मध्य तुम्हारी ध्रुव स्थिति हो।

"राष्ट्रको धारण करो; राजा वरुण, देव बृहस्पति, इन्द्र और अग्नि तुम्हारी सत्ता इस राष्ट्रमें ध्रुव करें!

"स्वयं अस्खलित तुम अपने शत्रुओंका दमन करो, हे अच्युत, तुम अपने चरणों-तले उन्हें रौंदो। सारी दिशाएँ एक मनसे तुम्हारी पूजा करती हैं और समिति तुम्हारी सृष्टि करती है।"

नागरिकोंके समक्ष राजकृतोंके आदेशानुसार उल्लसित पुरूरवाने प्रतिज्ञा की—

"मन, कर्म और गिरासे प्रतिज्ञाका अधिरोहण करता हूँ—सदा भूमिको ब्रह्मस्वरूपिणी जानता हुआ उसका वर्द्धन करूँगा। नीति, युक्ति और दण्डनीतिसे अविरुद्ध जो धर्म है उसका अशंक पालन करूँगा। कभी स्वेच्छापूर्ण शासन न करूँगा। उच्छृंखल न होऊँगा।"

विश्व-जन, सेनानी, अक्षावाप, ग्रामणी, राजाओं और राजकृतों-द्वारा दिये पलाशदण्डके मणि-केयूरको राष्ट्रके नये स्वामीने उदारतापूर्वक स्वीकार किया। रत्नहवि, पर्ण, को हाथमें ले रत्नियोंके समक्ष उसने कहा—

"हे पर्ण, ये धीवान रथकार, मनीषी कर्मार और ये जन हमारे सहायक हों।

"हे पर्ण, ये राजा, राजकृत, सूत, ग्रामणी और ये उपस्थित जन हमारे सहायक हों।"

प्रातःकालकी शान्त सुषमामें सहस्रों कण्ठोंसे विनिर्गत स्वीकृति-शब्दोंसे दिगन्त व्याप्त हो गया। जनोंके स्वरमें जाह्नवी, अंशुमती और अन्तः-सलिला सरस्वतीने अपना निर्घोष मिलाया और पुरोहितने जयस्वरूप शंख फूँक दिया।

जब चामीकररागसे चमचम करते व्याघ्रचर्मसे आच्छादित सिंहासनकी ओर पुरूरवा बढ़ा, पुरोहितने मन्त्र पढ़ा---

"व्याघ्र हो, व्याघ्रचर्ममें आच्छादित इस सिंहासनपर विराजो। अपने विक्रमसे दिशाओंकी विजय करो। विश तुम्हारा वरण करते हैं।"

प्रसन्नवदन पुरूरवा अभिषेचनसे आर्द्र शातकुम्भसिंहासनपर जब बैठा उसकी श्री दर्शनीय थी। कुमारवयमें ही उसने पिता और जनोंके शत्रुओंको आक्रान्त कर दिया था। आज, जब वह पूर्ण राजत्वकी परम्परा लिये सिंहासनारूढ़ हुआ, शत्रुराष्ट्रोंमें आतंक छा गया। अनार्योंने वनप्रान्तरों और पर्वतमालाओंकी शरण ली।

नवनृपतिके शासनके कालान्तरमें देशकी शान्ति और समृद्धि बढ़ी। उसके प्रचण्ड पराक्रमके भयसे उद्दण्ड दस्युओंके साहस-उपक्रम लुप्त हो गये। यज्ञकर्मसे इन्द्रका आसन हिल गया। देशमें देवानुष्ठानोंकी बाढ़-सी आ गयी और पुरूरवाके निरन्तर आह्वानसे इन्द्राणीकी अलकें प्रिय-बिछोहमें शृंगार-रहित हो गयीं। हवि स्वीकार करता हुआ इन्द्र प्रतिष्ठानके सम्मुख स्वर्गकी विभूतियाँ तुच्छ मानता।

जब सन्ध्याकी स्वर्णिम आभा रजनीकी रजत रम्यतामें विनिमज्जित हो गयी, प्रतिष्ठानका प्रस्तर-प्रासाद ज्योत्स्नामें चमक उठा। शशिप्रभा धौत राजहर्म्यके तलोंको धवल धारसे धोने लगी। ग्रीष्मकी चाँदनी अपने प्रखर किरण-जालसे पुरूरवाकी प्रासादपरम्पराको शुभ्र रजततारोंसे ढँकने लगी।

उसके आलोकसे राजप्रासादके असंख्य प्रदीप धूमिल हो गये। नृपतिके वयस्य प्रमंदवनके निकुंजोंमें रमण करने लगे। उनके सुवासित वस्त्रोंकी मादक सुरभिसे लदा गन्धवह लता-प्रतानोंकी फुनगियोंको मत्त करने लगा, नीड़ोंमें प्रवेश कर विहग-दम्पतीको छेड़ने लगा।

प्रासादके एकान्त पृष्ठतलसे पुरूरवा प्रकृतिकी यह छटा देख रहा था। अपने ही प्रमदवनसे मणिशिलाओंपर अस्त-व्यस्त पड़े, मादक सोमसे मत्त सहचरोंका सकाम अभिनय देखता रहा। भागती प्रेयसीका पादानुसारी प्रणयी जब एक कुंजसे दूसरेमें प्रवेश करता राजर्षिका कोमल नवहृदय आनन्दसे थिरक उठता। फिर अपने एकाकीपनसे वह सर्वथा आक्रान्त हो जाता। नगरके प्रत्येक गृहसे जो प्रहृत्त पुष्करसे स्निग्ध-गम्भीर ध्वनि निकल-निकल पसरती वह पुरूरवाकी अन्यमनस्कताका कारण बनती। राजा कुछ चिन्तित, कुछ उद्विग्न हो उठता। देवराजकी विभूतिको भी विलज्जित करनेवाली उसकी समृद्धि उसकी उठती साधोंके निमित्त न्यून प्रतीत होती। किसी वस्तुकी कमी वह स्वयं अनुभव करता, रह-रहकर अपने हृदयके सूनेपनपर हाथ रखता, पर वह कमी क्या थी सो वह नहीं जानता था।

प्रमदवनमें प्रासादवासी सहचरों और लावण्यप्रभा प्रमदाओंकी केलि वह कुछ काल तक देखता रहा फिर जब उससे उसकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी हो चली, वह उस विलासक्षेत्रमें अपना स्थान ढूँढ़ने लगा। उसने जाना—उसकी इस स्वनिर्मित केलिभूमिमें स्वयं उसका कोई स्थान नहीं, किंचित् भी नहीं। वेदनाव्यंजक निःश्वास छोड़ता वह कुछ अवसन्न-सा हो रहा। नगरके प्रहृत्त पुष्करोंकी स्निग्ध, गम्भीर ध्वनि, प्रमदवनकी केलि-परम्परा, ज्योत्स्नाकी सुन्दर छटा, सब धीरे-धीरे उसकी दृष्टिसे ओझल हो गये। इस समय वह केवल अपनी ओर देख रहा था। जब संसार उसके दृष्टिपथसे दूर हट गया, एक मादक, मोहक, तन्द्रित मुद्राने उसकी कर्मेन्द्रियोंको ढँक लिया।

सहसा गगनमें एक वाद्यघोष होने लगा। पुरूरवाकी मोहनिद्रा टूट गयी। उसने आकाशकी ओर दृष्टि उठायी। दूर आकाश-पथमें एक आलोक-बिन्दु-सा दिखाई पड़ रहा था। आलोकबिन्दुका वाद्यघोषके साथ प्रतिक्षण विस्तार होने लगा। आश्चर्यसे चकित राजा नेत्र फाड़-फाड़ देखने लगा। वह बढ़ता हुआ आलोक-बिन्दु एक सुवर्णरेखा-सा मार्ग निर्मित करने लगा। विस्मित पुरूरवा दौड़कर ऊपरके पृष्ठतलपर चढ़ गया। अब उसने यानोंमें बैठी स्पष्ट देव-आकृतियाँ देखीं। उनका प्रभामण्डल क्षण-क्षण बढ़ता जा रहा था, वाद्यका नाद पल-पल स्पष्ट और तीव्र होता जा रहा था।

यानोंकी तीव्र गति धीमी हुई और वे राजप्रासादके सामने गंगाके उस पार सुविस्तृत सिकताभूमिमें उतरे। संगीत बन्द करते हुए गन्धर्व यानोंसे निकल पड़े। उनके साथ अप्सराओंकी रानी उर्वशी भी सखियों-सहित उतरी। राजा कुतूहलवश देखता रहा। स्वर्गका यह परिवार देख उसे समझते देर न लगी कि यह गन्धर्व चित्ररथका कुटुम्ब है जो पूर्णिमा-की निशामें प्रतिष्ठानके समीप त्रिवेणीमें जलक्रीड़ाके निमित्त पृथ्वीपर उतरा है।

प्रमदवनका आनन्द अब तिरोहित हो चला था। कुंज रिक्त हो रहे थे। राजा तन्मय हो अमरोंकी क्रीड़ा देखने लगा। सूने त्रिवेणी तटपर आनन्द-स्रोत फूटने लगे। पानभूमिके साधन साथ थे। थोड़ी देरमें ही तट चपकोत्तर हो गया। संगीतकी फिर मादक ध्वनि गूँजने लगी और नृत्यमें उर्वशीका अंग-संचालन राजाको विकल करने लगा। उसी समय गन्धर्व और अप्सराएँ नदीके संगममें कूद पड़ीं। जलसे प्रादुर्भूत अप्सराओंको गहराईका क्या डर! चित्ररथके दक्षिण स्कन्धपर पीछेसे आकर उर्वशीने अपना मुख रख दिया, दोनों धारके साथ चुपचाप बह चले। उर्वशी अग्नि-ज्वालाकी भाँति दूरसे ही चमक रही थी। उसका सिर और स्कन्धका कुछ भाग बाहर था, शेष जलमग्न। चित्ररथके शरीरसे उर्वशीके तनस्पर्श-

की कल्पना कर राजाको रोमांच हो आया। अट्टके अलिन्दपर वह झुका और निर्निमेष नीचे जलमें देखने लगा।

उर्वशी और चित्ररथ बहते हुए राजप्रासादके नीचे प्राचीरसे आ लगे। जलमें दूर तक फैले चबूतरेके समीप पहुँचते हुए चित्ररथने कहा, "उर्वशी, राजर्षि पुरूरवाका यह ग्रीष्म-प्रासाद है।"

"अद्भुत है, चित्ररथ, यह प्रासाद! चन्द्रमाकी रजत-रश्मियोंसे प्रभासित यह धौत हर्म्य बड़ा ही मनोमोहक है।"

"उर्वशी, तुम्हारा मन क्या इस प्रासादसे आकर्षित होता है? इसका सौन्दर्य यदि देखना चाहो तो भीतर प्रमदवनमें चलो"—उर्वशीको चबूतरे-पर अपने सहारे बैठाते हुए चित्ररथने कहा।

"क्यों नहीं, मित्र? प्रमदवन तो नन्दनसे भी आकर्षक है—यह स्वयं देवराज स्वीकार करते हैं। क्या उसे देखनेका अवसर मिलेगा?"—उर्वशी-ने बैठते हुए पूछा।

"अवश्य, वियद्गामी अमरोंके मार्गमें विघ्न कैसा?"

उर्वशीके शरीरकी छटा अमानवी थी। जलके कण उसके अंग-प्रत्यंग-पर चमक रहे थे। बड़ी-बड़ी बूँदें नासिकासे वक्षपर, वक्षसे जघनोंपर, जघनोंसे नीचे शिलापर लुढ़कती जा रही थीं। उसके शरीरका सारा भार चित्ररथके पार्श्वपर था। पुरूरवाके हृदयमें उर्वशीके रूपकी कितनी ही कमनीय मूर्तियाँ बन-बिगड़ रही थीं। अपनी अवशतापर वह अपनेको ही धिक्कारने लगा।

उसने सोचा—सुरराज इसी मोहक रूपका दास है। कौन इस मादकताको गरल जानकर भी स्वीकार न करेगा?

इसी समय चित्ररथके पार्श्वसे खिलखिलाती उर्वशी उठी। सनातन किशोरी अनिन्द्य सौन्दर्यकी अधिष्ठात्री चित्ररथके स्पर्शसे भागकर दूर जा खड़ी हुई। किन्तु वह न तो चन्द्रमाके करोंको अपवारित कर सकी न पुरूरवाके भावव्यंजित दृष्टिपथको। पुरूरवाके अंग-अंगमें अनोखी, अनजानी

बेचैनी भरने लगी। वह उस सौन्दर्यज्वालको अपलक निहार रहा था।

उर्वशीके गठे अंगोंपर सौन्दर्य नग्न नृत्य कर रहा था। चित्ररथ उठा, उसने पद्मपत्रके साधनोंसे बने हुए दूकूलसे उर्वशीके शरीरको पोंछना प्रारम्भ किया। ग्रीवासे नीचे जब चित्ररथका हाथ चला, उर्वशी हँसी। चित्ररथ अभ्यस्त प्रसाधककी भाँति अंगोंको हलके-हलके पोंछने लगा। पुरूरवा दौड़कर उनके सामनेवाले अलिन्दपर जा खड़ा हुआ।

चित्ररथका हाथ और भी नीचे हटा। उर्वशीने उसका चिबुक पकड़ ऊपर उठा लिया। चित्ररथ मुसकराता हुआ बोला, "उर्वशी, मैं तुम्हारी इस भुवनमोहन रूपराशिका रक्षक, प्रसाधक मात्र हूँ।"

शब्दोंमें कामना थी, रोम-रोममें याचना। पर कर्तव्यका दास था वह चित्ररथ।

उर्वशीने हँसते हुए कहा, "स्मरण है, चित्ररथ, देवराजकी उस दिनकी बात ?"

"वह भी भूलनेवाली बात है, उर्वशी ?"—चित्ररथका सात्त्विक स्वेद शरीरपर बहते जलकणोंके साथ मिल गया।

"देवराजकी कामना और उनकी कामचेष्टा दोनों अब शिथिल हो चलीं, चित्ररथ।"

"चित्ररथ देवराजका सेवक है, उर्वशी, उसकी कामना और चेष्टा भी जीर्ण हो चली हैं।"

"नहीं मित्र, संगीत तुममें नित्य नयी वासनाएँ जगाता है और तुम्हारी वाणीका कम्पन, झंकार, मेरे उरमें अमृत लालसा जगाते हैं।"—उर्वशीने अर्धस्फुट स्वरसे कहा।

चित्ररथ धीरे-धीरे उर्वशीके पदोंको पोंछ रहा था। पुरूरवा चित्र-लिखित-सा निर्निमेष देवकन्याकी रूपसुधाका पान कर रहा था। चित्ररथ पदोंको छोड़ चिकुरराशिका जल गारने लगा। मुक्तालोभी हंसने दौड़कर टपकती बूँदोंको मुखमें ले लिया। चित्ररथ कुछ हँसा।

उसने कहा, "हंस पारखी है किन्तु उसकी परख केवल तरल पदार्थों तक ही परिमित है।"

उर्वशी बोली, "यह व्यापार केवल उसीका नहीं, चित्ररथ, औरोंका भी है। मतिमान, कलाविद् गन्धर्व भी केवल तरल वस्तुओंमें ही रुचि रखते हैं। गानके तरल रस तक ही उनका ज्ञान भी परिमित है। न उनके नेत्र हैं, न हृदय। न उनमें औत्सुक्य है, न जिज्ञासा। न भाव, न प्रणय। न ग्लानि, न मत्सर। उनसे तो वे मर्त्य भले हैं जिनकी कामना आँधीकी भाँति उठती है और आधारको हिला देती है, चाहे उसकी अपनी क्षणिक सत्ताका सर्वथा विनाश ही क्यों न हो जाये।"

चित्ररथके अन्तरमें भावोंका संघर्ष हो रहा था। पुरूरवाके हृदयक्षेत्रमें चित्ररथके विचारोंकी छाया पड़ रही थी।

"अमरवनिताके लिए,"—उर्वशीने फिर कहा, "इन्द्रकी प्रणयप्राप्तिके अर्थ प्रयत्न कुछ स्वाभाविक नहीं, चित्ररथ। वृद्ध, वृत्रकी मारसे जर्जर, इस इन्द्रमें न तो मादकताका सौरभ है, न नवीन प्रयासका चातुर्य।"

"वृत्रके नये आक्रमणोंसे सुरराजका वैभव, उनका विलास सभी आक्रान्त हैं, उर्वशी।"—चित्ररथ बोला।

"और तुम सीधे हो, चित्ररथ, नितान्त भोले।"—उर्वशीकी नसें कुछ तनी जा रही थीं।

कचनिचयसे निचुड़कर कुछ जल-कण वक्षपर ढुलक पड़े थे। चित्ररथ उन्हें पोंछने लगा। अनजाने कारणसे खिझी अप्सरा गन्धर्वकी ओर भृकुटी चढ़ाकर बोली, "पाषाण हो तुम, चित्ररथ। तुम्हारा यह विशाल शरीर नन्दनकी क्रीड़ा-शैल है, तुम्हारी रूप-ज्योति नागका आकर्षण।"

"मैं इन्द्रका सेवक हूँ, उर्वशी, उनके विलास-कोशका रक्षक।"—चित्ररथ भयमिश्रित स्वरमें बोला।

"तुम अभागे हो, चित्ररथ, क्लीव"—रोमांचित उर्वशी अधर-दंशन करती हुई कुपित हो बोली।

"तुम अभागे हो, चित्ररथ, क्लीव"—ऊपर राजप्रासादके अलिन्दसे प्रतिध्वनि हुई।

विस्मित चित्ररथ और उर्वशी दोनोंने एक साथ ऊपर देखा—अर्ध-निमीलित नेत्रोंसे पुरूरवा उर्वशीकी रूप-छटा निहार रहा था। कब, कैसे अर्धसुप्त-सा विभोर हो उसने उर्वशीका वाक्य दोहरा दिया, उसने नहीं जाना। युवाकी अनन्त साधें लिये, अभिनव प्रणयके स्रोत खोले, सहचरोंकी कुंज-केलिसे प्रादुर्भूत, किन्तु संयत काम प्रतिशोध भावना जगाये अलिन्दके अग्रस्तम्भपर मस्तक टेके प्रतिष्ठानका प्रभु, मर्त्योंका राजा, खड़ा था। अनजाने, उच्चाटन-मोहनकी आधारभूता उर्वशीके शब्दोंकी प्रतिध्वनि राजाके हृदयमें गूँज उठी और अप्रयास उसीके शब्द अपने-आप निकल पड़े। इन स्वतः प्रादुर्भूत, प्रतिध्वनित शब्दोंमें चित्ररथके प्रति दया थी, निजके प्रति ग्लानि, उर्वशीके प्रति सहानुभूति।

चित्ररथकी ओर सविस्मय देखती हुई उर्वशीने अपने खुले अंगोंको समेट लिया।

चित्ररथ बोला, "उर्वशी, ये आर्यजगत्के अनन्य शासक ऐल पुरूरवा हैं।"

उर्वशी अपने दोनों कर मस्तकपर जोड़ती हुई कुछ सकुचाती-सी बोली, "देवलोककी नर्तकी, अप्सरा उर्वशी, का प्रतिष्ठानेश्वरको वन्दे!"

"नरलोकका पुरूरवा गन्धर्व-दुर्लभ उर्वशीको अपने प्रासादमें पाकर अपनेको अनुगृहीत समझता है, देवि।"—पुरूरवा उर्वशीका प्रत्यभिवादन करता हुआ बोला।

चित्ररथको राजाके शब्दोंमें व्यंग्यका आभास हुआ। किन्तु निश्छल पुरूरवाके व्यवहारसे वह परिचित था। हँसते हुए उसने उसका अभि-वादन किया।

उर्वशी पल-भरमें इच्छा-मात्रसे अप्सरोचित प्रसाधनोंसे सज प्रासादके

पृष्ठतलपर पुरूरवाके समीप जा पहुँची। राजाके भरे शक्तिपरिचायक अंगोंपर नवयौवन खेल रहा था। उसके मुकुटसे निकली मुक्ताकी लड़ियाँ ललाटके ऊपरसे होती हुई कानोंके पास लटक रही थीं। रत्नहारोंसे प्रशस्त वक्ष कुछ-कुछ ढँका था। कठिन भुजाओंपर पड़े केयूरपट्ट जड़े पत्तरोंसे दिखाई पड़ते थे। उर्वशी वह रूप देख स्तब्ध रह गयी। इन्द्रकी प्राचीन भुजाओंसे भागकर नये बलसे पूरित इन बाहुओंके पाशमें बँध जानेकी असंयत कामना उसके हृदयमें उठने लगी। इन्द्रकी तुलनामें पुरूरवा कितना ऊँचा था, कितना मनोरम! उसका स्पर्श कितना सुखद होगा, विलास कितना मादक! उर्वशीकी कल्पनामें लालसाओंकी अटूट श्रृंखला बँध गयी। असरताको वह कोसने लगी।

"अमरता कितनी नीरस है, राजन्!"—उसने प्रत्यक्ष कहा।

"अमरताकी प्रार्थना मर्त्य करता है, ऐसा क्यों कहती हो, देवि?"—पुरूरवा बोला।

"आह! मानव, मृत्यु नित्य नवीन उपकरणोंकी जननी है, अमरता तन-वसनोंकी जीर्णोद्धारकर्त्री। उसका प्रार्थी मर्त्य अनन्त दुःखकी कामना करता है, विनष्टप्राय है।"

"फिर मानव रूपकी आँधीके समक्ष कैसे टिके देवि?"—आलापके प्रसंगको किंचित् दबाते हुए पुरूरवाने हृदयकी बात पूछी।

"अपने देव-दुर्लभ विक्रमसे वह उस आँधीके आधारको बाँध सकता है, राजन्।"—उर्वशी अपनी भुजाओंको वक्षपर बाँधती हुई बोली।

चित्ररथ चुपचाप सुनता रहा।

"आँधी कहीं उसे उड़ा तो न ले जायेगी, शुभे?"—पुरूरवाको कुछ सूझने-सा लगा, पर उसने उर्वशीका उत्तर उसीकी भाषामें दिया।

"आँधी वृक्षोंको उखाड़ फेंकती है, राजन्, परन्तु पर्वतकी चेरी हो उसपर चँवर झलती है।"—चिकुरके एक भागको उँगलियोंसे उछालती हुई उर्वशीने कहा।

"और यदि कहीं स्वामी अपनी वस्तुका उपभोग अन्यको न करने दे ?"—पुरूरवाने पूछा ।

"तो अधिकार उस वस्तुको, जो स्वयं स्वामीसे उसके अव्यवहारके कारण खीझ चुकी है, छीन ले ।"—उर्वशीने सहज स्वभावसे हँसकर शरीर ढीला कर दिया ।

अनेक भावनाएँ उठ-उठ पुरूरवाको आक्रान्त करने लगीं । उसकी फड़कती भुजाएँ कुछ हिलीं, नेत्र आशासे चमक उठे । चित्ररथ सतर्क हो गया । उर्वशीने चित्ररथकी गम्भीर मुद्रा देखी और वह सहम गयी । पुरूरवाने भी गन्धर्वराजका परुषभाव देखा और उसकी भौंहें तन गयीं ।

चित्ररथने कुछ उद्विग्न हो कहा, "राजन्, आपने देखा – चित्ररथ अन्यकी धरोहरपर स्वाधिकारका अनुचित लाभ नहीं उठाता, और जिस प्रकार वह अपनी अन्तर्भावनाओंका दमन कर सकता है, उस धरोहरकी अन्य साहसिकोंसे रक्षा भी—फिर उसके अनेक अमर-लक्षण मर्त्योंको अप्राप्य हैं ।"

पुरूरवा रोषसे भर गया । क्रोधकी उठती हुई बाढ़को संयत करता वह बोला, "गन्धर्व, मुझे दुःख है, तुम मेरे प्रासादमें हो ।"

उर्वशी डर गयी । चित्ररथका अमर शौर्य उसका जाना था, पुरूरवा-का दुर्दान्त विक्रम उसका सुना । उसने चतुरतासे दोनों ओरके उठते समरमेघ वायुसे बहा दिये ।

फिर बोली, "राजन्, तुम्हारे पराक्रमसे इन्द्रका कार्य सधेगा और इन्द्रका प्रसाद तुम्हारी प्यास मिटायेगा ।"

उर्वशी चित्ररथका सहारा ले आकाशमें उड़ चली । सिकताप्रदेशके यानोंने उनका अनुकरण किया । पुरूरवा आनन्द, सन्देह और आशाकी दोलामें अर्द्धसुप्त-सा झूलने लगा ।

जब उर्वशीने पुरूरवाके शौर्यका इन्द्रसे बखान कर उसे दैत्योंके ध्वंसके निमित्त निमन्त्रित करनेको कहा तब पहले तो उसने अपनी अमर्यादा समझ अनसुनी कर दी, परन्तु जब दानवोंके आक्रमणका वेग बढ़ गया और वज्रपाणिकी देवसेना उनके प्रहारोंसे जीर्ण-शीर्ण हो गयी, तब उसने आग्रह-पूर्वक पुरूरवाके आनेका अनुरोध किया।

पुरूरवाके विकट पराक्रमकी छाप दैत्योंकी पीठपर लगी। उसके बाणोंकी मारसे व्याकुल दानव पातालके तमपूरित गह्वरोंमें जा छिपा और इन्द्र एवं सुरगणोंको पुनः एक बार प्रतिष्ठा मिली। इन्द्रने अपने विष्टरका अर्धभाग पुरूरवाको सौंपा और उर्वशी उस बलोत्कर्षमय ओजस्वी युवाको सुरराजके पार्श्वमें बैठा देख अघा गयी। कलाकी सारी ग्रन्थियाँ ऐलके स्वागतमें उसने खोल दीं। प्रमत्त, शलभप्राय उसका हृदय पुरूरवाकी रूपज्योतिपर जा टूटा। बड़ी कठिनतासे उसने अपने वियोगके दिन काटे थे।

पुरुहूतध्वजको पुरूरवाके लिए आज कुछ भी अदेय नहीं था। जब प्रतिष्ठाननरेशने उससे उपहारमें उर्वशीको माँगा तो उदार, उपकृत इन्द्र अनुगृहीत-सा लक्षित हुआ। पुरूरवाको उसने देवलोककी अप्रतिम सुन्दर उर्वशी प्रदान कर दी। देवोंपर पुरूरवाकी कृतज्ञताका भार था। वे कुछ न बोले, परन्तु उर्वशीके अभावमें स्वर्गका आनन्द कितना नीरस, कितना अरुचिकर हो जायेगा यह विचार कर वे विचलित हो उठे। उन्होंने गन्धर्वोंको उकसा दिया। गन्धर्व अड़ गये। इन्द्रका रोष उमड़ पड़ा। उस कोपको कौन सह सकता था? चित्ररथ सहम गया, उसके अनुचरोंने जिह्वा रोक दी। इन्द्रने उनका सकारण उद्वेग देखा।

उसने उन्हें समझाया—"अमरवनिता मर्त्यलोकमें सदाके लिए नहीं जाती। एक अवधि तक ही प्रतिष्ठानमें प्रवास कर उर्वशी देवलोकको लौटेगी। वह अवधि गन्धर्व प्रदान करें।"

मत्सरमथित चित्ररथ बोला, "पुरूरवा उर्वशीके साथ उसके प्रिय

मेमने भी ले जायें। उर्वशी उनके साथ तबतक निवास करे जबतक उनका नग्न शरीर उसे दृष्टिगोचर न हो।"

पुरूरवा काँप गया। उसने प्रतिज्ञा की, उर्वशीको अवधिकी परिसमाप्तिके अनन्तर लौटा देनेकी। परम सुन्दरी उर्वशी और अपनी कामनाओंकी आँधी लिये राजा प्रतिष्ठानपुरी लौटा।

पुरूरवा और उर्वशीके आमोद-प्रमोदसे प्रतिष्ठानका वातावरण व्याप्त हो गया। नगर और जनपद में उन्हींके प्रेम और विलासकी चर्चा होती। नागरिक उनको अपना आदर्श मानते और रसिक उनके प्रणयकी सौगन्ध खाते। आर्यजगत्‌का संगीत इन्हींके स्नेह-सम्बन्धी पदोंसे मुखरित होता। ज्ञानकी अक्षयनिधिको ऋषियोंने इस प्राणी-युगलकी भावनाओंसे सरस किया। ब्रह्मज्ञानी महर्षि पुरूरवाकी इसी उर्वशीका गान उषाकी ऋचाओंमें कर उठे। उसीके छलिया, वंचक रूपको उन्होंने उषाकी विमोहक, अस्थायी, आकर्षक सुषमामें देखा। पुरूरवा सर्वथा उदासीन था इन बाह्य उपकरणोंसे। उसके उद्दीपनके अर्थ इन सरस, साधक, संगीत-मुखरित उपकरणोंकी आवश्यकता न पड़ती। उर्वशीका मादक रूप उसके विक्षेपके लिए पर्याप्त था।

उसके प्रमदवनमें, वासन्ती और अतिमुक्तके निकुंजोंमें अब सहचर केलि नहीं करते थे। सोमकी मात्रासे कुछ चढ़े सालस नेत्र मूक भाषामें उर्वशीसे उसकी अतुल रूप-छवि माँगते और उर्वशी अपना सर्वस्व पुरूरवाको अर्पण कर देती। परन्तु इससे उस सनातनके तृषित पुरूरवाकी प्यास न मिटती, और बढ़ती ही जाती। कुछ अद्भुत अदेय वस्तु फिर भी उर्वशीके अघट रूपसाम्राज्यको छलकाती रहती। पुरूरवाका हृदय कभी पूर्णताकी भावनासे तृप्त न होता। मानव-शक्तिकी तृष्णाके काम्य उपकरण स्वयं उस तृप्तिके अभिशाप बन गये क्षणिक आनन्दकी अपारतासे

थककर जब पुरूरवा उर्वशीकी ओर नेत्र उठाकर देखता सीमाओंमें न आनेवाले व्यापक सौन्दर्यकी रूपरेखा पीछे हटती हुई-सी लक्षित होती और थकित, चकित प्रणयीकी बलवती कामना उस अदेय, अप्राप्त वस्तुकी याचनामें फिर घुटने टेक देती। जब विहारकी क्लान्तिसे विजित पुरूरवा थककर उर्वशीके अंकमें सो जाता तब नयी वासना, नवीन साध, जैसे उसे विलास-दोलामें झुलाती, और जब वह अंकगत ऐल अनिद्रित हो अप्सराको देखता, उसकी चेष्टा फिर नयी, अतृप्त हो उठती। क्षण-भर बाद कामातुर प्रणय-शक्तिसे धर्षित लोलित नलिनीकी भाँति उसके शरीरसे जब वह विलग होती, वह भले प्रकार देखता, मसली कमलिनी कामान्ध अभिसारिकाका उत्साह, अतृप्त यौवनकी उमंग और राग-भरे आकर्षणके पूर्णपात्र लिये पूर्ववत् खड़ी उसका आह्वान कर रही है। पुरूरवा नेत्र फाड़-फाड़ उसकी ओर देखता फिर दौड़कर उसे ढँक लेता।

फिर, और फिर।

वसन्तके साधनोंसे प्रमदवन उमग रहा था। सहकार-मंजरियोंका सायकदण्ड और द्विरेफमालाकी ज्या बनाये कन्दर्प विश्वविजयको निकला। तरु पुष्पोंसे लद गये। पद्मोंसे सरोवर ढँक गये। वायु गन्धवाही हो उठा। दिवस दिव्य और रजनी रमणीया हुई। कामके अतिरेकसे नर-नारी झूमने लगे। पुरूरवाका मानस कूजते भ्रमरों और कूकते पिकोंके संसर्गसे विकल हो उठा। उर्वशी भी उसे अभूतपूर्व विलासका आस्वादन करानेके निमित्त प्रस्तुत हुई। इन्द्रको भी ठगने योग्य, उसका भी अनजाना, विभ्रम उसने सम्पन्न किया—स्वयं अपना और पुरूरवाका भी। कुसुम्भरागसे चर्चित दुकूल धारण कर स्तन-मण्डलोंको कुंकुमरागसे रँगा, फिर विजित प्रेमीको साथ लिये वह रात्रिकी बिखरती कौमुदीमें पुष्करिणीमें घुसी। कमल-वनको चीरती उसकी नौका जलके जहाँ-तहाँ खुले वक्षपर नाचने लगी।

मन्त्र-मुग्ध पुरूरवा उन्मत्त हो उठा। उर्वशीका यह देवदुर्लभ रूप

उसने कभी नहीं देखा था । नयी उमंगोंके साथ नयी साधोंका जन्म हुआ । अंशुकसे छन-छनकर वक्षके गोलार्धोंकी आकार-रेखाएँ रह-रहकर स्पष्ट होने लगीं । पुरूरवाने विचारा आज उर्वशी मेरी भी साध मिटायेगी, अपनी भी, वसन्तकी भी ।

उत्सुक हो उसने माँगा—"उर्वशी, मुझे अपने रहस्यमय भागका वह रूप दो जो आजतक सदा छलनाकी भाँति मुझे दूरस्थ करता रहा है, जिसको पाकर फिर कुछ पाना शेष न रहे और तृष्णाका एक बार शमन हो जाये।"

"वही दूँगी, प्रिय, वही दूँगी । वह रहस्यमय प्रलोभन, इन्द्रादिको विमुग्ध करनेवाली प्रणय-प्रक्रिया, उपाके शाश्वत यौवनका आदि-बिन्दु आज मैं तुम्हें दूँगी"—उर्वशी बोली ।

फिर वायु-द्वारा उठती पुष्करिणीकी लहरियोंपर नाचती नौकाके बीच खड़ी होकर उसने अँगड़ाई ली । सौन्दर्यकी अनन्त मर्यादा स्थान-स्थानपर ग्रन्थिबद्ध थी । ग्रन्थियोंके सहसा टूट जानेसे मानो उसका प्रवाह सीमाओंको भी अपने साथ बहा ले चला । चकित पुरूरवा चुपचाप देखता रहा ।

उर्वशीने टूटे बन्दोंवाला स्तनांशुक उतार फेंका । वक्षके ऊपर अनन्त मृणाल तन्तुओंका जाल अब भी झिलमिल कर रहा था । नीचे दुकूलका केवल एक महीन चीर नीवीके सहारे जघनोंके ऊपर कटिपर अटका हुआ था । सारा जघन-प्रदेश हिलती पुष्पलड़ियोंसे आच्छादित था । पुरूरवा काँप गया । विलास और आनन्दकी आशासे उसकी आँखें चमक उठीं । अमरप्रार्थिता यह उर्वशी आज पहले-पहल उसका, केवल उसका, अपने अनजाने सौन्दर्य-रहस्यसे, चपक भरेगी । गर्वसे उसका माथा उन्नत हो गया ।

उसकी तृष्णाका वेग बढ़ता गया । उर्वशीकी विमोहक मुद्रा प्रतिक्षण आकर्षक होने लगी । हारकर पुरूरवा बोल उठा, "उर्वशी, क्या यह तुम्हारा अद्भुत रूप मैं देखता ही रहूँ ?"

"नहीं, पुरूरवा, शयनकक्षमें चलकर इस रूपको भोगो।"—उर्वशीने नौकापर उठते हुए कहा।

पुरूरवाको उतावली थी। उठा, प्रियाको अंकमें भर शयनकक्षको ले चला।

शयनकक्षका दीप निर्वाण करते कुछ देर लगी। सत्वर युगल प्रणयी परस्पर अंकमें बँध गये।

बाहर गगनमें मेघ छा रहे थे। सारे आकाशको क्षण-भरमें बादलोंने फैलकर ढँक लिया। चित्ररथके गन्धर्व, क्षोभके सकारण, सयत्न तस्कर पुरूरवाके हृदयमें हाथ डाले उसकी स्नेहमणि—उर्वशी—हर रहे थे।

सुवासित सोमकी मादकता जब उर्वशीने अपने दृगोंसे पुरूरवाके नेत्रोंको ढँककर, अपने अधरोंसे उसके होंठोंको छूकर द्विगुणित कर दी, विकल नर उठा। उसका राग-रंजित दुकूल आसव और प्रेमातिरेकसे कटिसे छूट पड़ा। आतुर करोंसे उसने उर्वशीका नीविबन्ध खोल दिया।

परन्तु पुरूरवाके कर ज्यों ही उर्वशीकी कामलिप्साकी तृप्तिके निमित्त सचेष्ट हुए, दिव्यांगनाके प्रिय मेमने आकाशमें बोल उठे। पुरूरवा अपने प्राणोंसे भी बढ़कर इन मेमनोंकी रक्षा करता था। उर्वशीके ये एकमात्र धन थे, प्रिय और सुखद। गन्धर्व उन्हें चुरा ले चले थे। पुरूरवा कामकी वेगवती प्रक्रियाको अन्तिम, अमूल्य क्षणोंमें छोड़ मेमनोंके पीछे बाहर दौड़ा। उसके प्रासाद-प्रांगणमें निकलते ही चपला चमकी और उसका नग्न शरीर उर्वशीके नेत्रोंमें झलक गया। 'आह!' कर उर्वशी शय्यापर गिर पड़ी, परन्तु दूसरे ही क्षण वह आकाशमार्गमें प्रध्वनित वाद्योंके साथ गन्धर्वोंमें जा मिली थी। पुरूरवाने तब जाना—उसके सुख-का अन्त करनेवाले छद्मवेशी गन्धर्वोंका यह भयानक षड्यन्त्र था। आर्त कामुक वेदनासे तड़प उठा।

उर्वशीने पुकारकर कहा, "पुरूरवस्, अवधि पूरी हो गयी। मैं चली।"

पुरूरवा बोला, "आह! उर्वशी, पाषाणहृदये, ऐसा तो कभी नहीं

किया। तनिक तो रुक जा।"

"लौट जाओ, पुनर्वसु, पूर्व प्रभातकी भाँति मैं चली। लौटना सम्भव नहीं। लौट जाओ। मैं वायुकी भाँति स्वच्छन्द हूँ।"

उर्वशी हँसी। गगनमें गन्धर्वोंकी हँसीका ठहाका लगा।

'आह! ऐश्वर्यके मारे बाणकी भाँति चोरोंके संकेतानुकूल विद्युत्का प्रकाश हुआ। गन्धर्वोंने आक्रान्त मेमनोंका माया-स्वर किया।"—पुरुरवा-का रुदन अरण्यका था।

आकाशवाणी कुछ देर तक प्रतिध्वनित होती रही, फिर धीरे-धीरे विलीन हो गयी।

९ जनवरी १९५०
मध्याह्न १२-१-३०

मुरा

[कथानक सम्पूर्णतया कल्पित है। आर्य-अनार्योंके संपर्कके बाद जब विजित दास आर्योंके सेवक बने, दोनोंमें वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे थे। कक्षीवान् पज्रिय ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंके द्रष्टा हैं। उनके पिता पुरोहित और माता अनार्या थीं। मुरा यहाँ कल्पित अनार्या है।]

महर्षि पज्रीका गृह वैभव और समृद्धिसे परिपूर्ण था। उनकी गोष्ठीमें सैकड़ों गौएँ और भेड़ें बँधी रहतीं, अश्वशालामें कितने ही तुरग असंयत हो उछला करते। गृहके पृष्ठ-प्रांगणमें दासोंके कितने ही परिवार बसे थे। ब्राह्मणोंके उत्कर्षका समय था -- यज्ञहोमकी प्रचुरतासे, यजमानोंकी श्रद्धासे, पुरोहितोंका हित सधता था। महर्षि भी पुरोहित थे, विप्रोंके मान्य, राजाके विश्वस्त।

गृहके कार्य बँटे थे। दास-परिवारके स्त्री-पुरुष सभी किसी-न-किसी दैनिक कार्यमें नियुक्त थे। कुछ गृह-कार्यमें योग देते, कुछ पशुओंकी देख-रेख करते, कुछ महर्षिकी पाठशाला, यज्ञशाला आदिकी पवित्रतापर ध्यान रखते। दास चुमुरिका कुटुम्ब उनकी वैयक्तिक सेवामें विशेष रूपसे संलग्न रहता। चुमुरि और उसका पुत्र दोनों महर्षिकी परिचर्या करते। उसकी स्त्री पाठशाला, सत्र आदिको नित्य लीपकर स्वच्छ रखती। उसकी कन्या मुरा पूजाके निमित्त पुष्प-पत्र चयन कर उनके समक्ष रखती। महर्षिको अपने दासोंकी प्रवीणता और साधुतापर बड़ा गर्व था, विशेषकर

मुराके शुचिपूर्ण व्यवहारपर ।

मुरा सदा अपने कार्यमें व्यस्त रहती । ब्राह्ममुहूर्तमें उठती, स्नानादिसे निवृत्त हो पुष्प-चयन कर यज्ञ-मण्डपमें आ उपस्थित होती । उसका श्याम वर्ण चमका करता । कृष्णकाया इस दासकन्यामें असाधारण आकर्षण था । उन्नत ललाटपर प्रायः चिन्ताकी रेखाएँ खिची रहतीं । छोटी आँखोंके बीच नीची नाक उसके अनार्य रक्तका परिचय देती । प्रयाससे सँवारे काले कुंचित केश कानोंपर होकर पृष्ठ-भागपर लोटते और सामने बिखरी अलकें वायुसे खेलतीं । कानोंपर यवांकुर लटकते । वक्षपर प्रवाल और वन्यबीजोंके अनेक हार खेला करते । उनके भीतरसे पुष्ट स्तनोंके मुखाग्र अधरोंके सुवाससे प्रमत्त हो रह-रह, लुक-छिप, उन्मुख हो झाँक लेते । नीचेका भाग घुटनोंतक वस्त्र-मण्डित रहता ।

मुरामें अनियन्त्रित मनस्विता थी । क्षोभ और गर्व उसकी मुखचेष्टाको प्रायः विकृत किया करते । सम्पुट होठोंसे दृढ़ता और बाँकी भृकुटियोंसे विश्वके प्रति तिरस्कार प्रकट होता । हृदयपर घृणा और ईर्ष्याका सम्मिलित साम्राज्य था, जिसके कारण उसके अंग-प्रत्यंगमें हलचल-सी मची रहती । उसमें प्रकट सौन्दर्य न था पर उसके लावण्यका एक अत्यन्त अरूप रूप स्पष्ट लक्षित होता । कहाँतक उसके इस रूपको सौन्दर्य कहना उचित होगा यह कहना तो कठिन है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी गति-विधिमें, आचार-व्यवहारमें, उद्दण्ड भावुकतामें एक प्रकारका आकर्षण था जिससे क्या आर्य क्या अनार्य सभी खिंच आते ।

आर्य सुन्दरियोंके हृदयमें उसकी पैनी बाँकी दृष्टिसे अनोखी ठेस लगती जिसका कारण उनकी समझसे परे था । महर्षिकी पत्नियोंमें उसके आगमनसे एक प्रकारकी भीति छा जाती । मुराकी दासता उसकी स्वामि-नियोंको खलती । जान पड़ता जैसे उसमें उनके वैभवसे कहीं बढ़कर ऐश्वर्य छिपा हो । कदाचित् घृणा और क्षोभ, मनस्विता और अहंकार,

ग्लानि और ईर्ष्याने ही उसके बाह्य इंगितको भी आकर्षक बना रखा था।

महर्षिने मुराका शरीर-गठन नित्यप्रति देखा था। तीस वर्षकी इस युवतीका मधुर स्वर उनके कानोंमें एक अनोखी चेतना जगाता। उसके आरम्भके पन्द्रह वर्ष उनके अनजाने-से थे। सोलहवें वर्षमें वह उनकी सेवामें नियुक्त हुई थी। दस वर्षतक उन्होंने उसकी ओर आँख तक न उठायी। इधर पाँच वर्षोंसे उसके प्रति उनके हृदयमें कुछ श्रद्धा-सी हो आयी थी।

स्नानके पश्चात् महर्षि जब उच्च स्वरसे मन्त्रोच्चार करते नदीसे निकलते मुरा भी कदली-पत्रमें नये पुष्प लिये अपनी कुटीसे निकल पड़ती। जब वे यज्ञमण्डपमें पधारते, मुरा नतमस्तक हो उनका स्वागत करती। फिर धीरे-धीरे बढ़कर फूल यज्ञकुण्डके समीप रख देती। पृथ्वी-पर मस्तक टेक महर्षिको प्रणाम करती, फिर उन्मादका भार लिये धीरे-धीरे हटकर अपनी कुटीकी ओर चल देती। महर्षिके लिए वह एक पहेली थी।

पावस के दिन थे। प्रकृति हरित वसन पहने थी। तुरन्तके जुते खेतोंसे सोंधी सुगन्ध उठ रही थी। मेघ मँडरा रहे थे और उनके गम्भीर घोषसे प्रमत्त पुंगव दहाड़ते हुए वप्रक्रीड़ा कर रहे थे। तीसरा पहर था परन्तु जलवृष्टिके कारण सन्ध्या-सी हुई जान पड़ती थी। धीरे-धीरे जल थमा पर प्रकाश न हुआ, अम्बरमें बादल घुमड़ते ही रहे। गृहशिखी नाच उठा, उसके स्वरकी प्रतिध्वनि करती-सी प्रमदवनकी ओरसे वंशीकी ध्वनि सुन पड़ी।

पर्णकुटीके द्वारपर बैठे महर्षि मृगोंको चारा दे रहे थे। निर्भय मृग-मृगी मुँह उठाये उनके हाथसे तृण छीन-छीन खा रहे थे। पक्षी अत्यन्त विश्वास

पूर्वक भूमिपर बिखरे दाने खाते, फिर महर्षिकी ग्रीवापर, कन्धोंपर जा बैठते। वंशीध्वनि सुन महर्षिने मस्तक उठाया। बादलोंके दल आकाशमें दौड़ रहे थे, कहीं पूर्ण मण्डल खोले थिरक रहा था, वंशी टेर रही थी।

महर्षि उठे, मृगोंके मस्तकपर हाथ फेरा। कुछ पक्षी नीड़दण्डपर जा बैठे, कुछ आकाशमें उड़ चले। महर्षि टहलने लगे। पूर्वकी ओर कोई वंशी फूँक रहा था—स्वतः उधरको पाँव उठने लगे। थोड़ी ही दूरपर कदलियोंके पीछे गृहवनके विशाल सप्तच्छदकी शाखासे दोला लटक रही थी। उसमें दासोंका एक जोड़ा बैठा था। समीप खड़े दास धीरे-धीरे उसे झुला रहे थे। चतुर्दिक् नर-नारियोंकी सम्मिलित टोलियाँ झूम-झूम गा रही थीं। इनकी ओटसे रह-रहकर वेदना-भरी रागिनी किसी एकान्त मुरलीसे प्रस्फुटित हो उठती। महर्षिको वंशीका आश्रय यहाँ नहीं मिला। इस वेदना-भरी रागिनीके स्रष्टाको जाननेके लिए उनका रोम-रोम सयत्न हो उठा। ध्वनिको लक्ष्य कर वे दाहिनी ओर बढ़े।

गृहवनके बाहर काननके द्वारपर बृहदाकार छायातरु था। उसकी वेदिका माधवीकी घनी शाखाओंसे आच्छादित थी। उस निभृत कुंजसे किसीका आर्त हृदय पुकार-पुकार अपनी व्यथा सुना रहा था—मुरलीकी करुण स्वरलहरीसे वनप्रान्त प्रतिध्वनित हो रहा था। ऋषिका प्रसुप्त मन जागा। हृदय सहानुभूतिसे कराह उठा। विश्वका कौन अभागा इस प्रकार दुखी है? महर्षि कुंजके द्वारपर जा खड़े हुए। सहसा वंशीध्वनि रुक गयी और करमें वंशी लिये मुरा निकलकर कुंजके द्वारपर खड़ी हो गयी। उसके सुपुष्ट गात्रमें शीतल समीरके स्पर्शसे रोमांच हो आया था। पलकोंपर जलकण खेल रहे थे, भींगी अलकोंसे टपकते जलबिन्दु वक्षपर अटक जाते थे।

महर्षिको देख मुरा स्तम्भित हो गयी। स्वभावसे सम्पुट होंठ कुछ खुलकर अवाक् हो रहे। उसने दृष्टि धीरे-धीरे महर्षिके मुखसे हटाकर नीची कर ली। फिर मन्थरगतिसे वह प्रमदवनकी ओर बढ़ी। महर्षि

ठगे-से खड़े रहे। उनके हृदयमें आज मुराने घर किया।

निशीथमें महर्षि पत्नीकी नींद एकाएक उचट गयी। आँखें खुलीं तो देखा—कनिष्ठा पत्नी पास पृथ्वीपर बैठी उनके बालोंको सहला रही है।

पूछा, "रमा, तू सोयी नहीं ?"

रमाने कुछ उत्तर नहीं दिया।

महर्षिने फिर पुकारा, "रमे !"

रमाने गम्भीर धीमे स्वरमें कहा, "आर्य।"

महर्षिने मुँह फेर रमाकी ओर देखा—

कौमुदीमें उसका निर्दोष मुखमण्डल दमक रहा था। सौन्दर्यकी किरणें उससे फूट-फूट निकल रही थीं। विशाल नेत्रोंसे निकल वारिधाराएँ प्रशस्त कपोलोंपर सूख रही थीं। केशपाशके खुल जानेसे मुरझाये पुष्प इधर-उधर बिखर गये थे। रमाकी रम्य छटा कुमुदबन्धु सहस्र नयनोंसे निहार रहा था। महर्षि आन्तरिक चोटसे विह्वल हो गये। रमाको खींचकर उन्होंने चूम लिया। उसने उनके वक्षस्थलपर अपना सिर रख दिया और लगी उसे अश्रुओंसे भिगोने। महर्षिको उससे कुछ पूछनेका साहस न होता था।

अत्यन्त कष्टपूर्वक, अनजाने-से बन, महर्षिने रमाके ललाटपर मुख रखते हुए पूछा, "रमे, क्या कष्ट है तुम्हें ? इस विस्तृत काननकी तुम सर्वथा स्वामिनी हो। दास-दासी तुम्हारी परिचर्यामें कटिबद्ध हैं, फिर भी तुम्हारा मुख मलिन क्यों रहता है ?"

"यह तो नहीं जानती, स्वामी, पर पीड़ा जानती हूँ। उसकी कसक होती है और मैं कराह उठती हूँ। अनजानी टीस हृदयमें उठती है, सारे शरीरमें फैल जाती है। आशाएँ टूक-टूक हो जाती हैं। अपनी सत्ता अपने ही सेवकोंके समक्ष तुच्छ जँचती है। क्रोध नहीं, मनमें दारुण कल्पना उठती है, साधोंपर वज्रपात हो जाता है। मनको चारों ओरसे बटोरकर

जब अन्तर्मुख करती हूँ, अनजाने त्राससे काँपकर मुँह ढँक लेती हूँ। अपने ही मुझसे लाज लगती है। नन्दन-सा कानन अपना है, पर जान पड़ता है वह कल्पवृक्ष जिसका आश्रय कर अतिमुक्तलता फूलती, किसी कृत्याके अभिशापसे, उसकी किसी क्रूर तृष्णाकी तृप्तिके अर्थ, समूल जलकर नष्ट हो गया है।"—रमाने भरे हृदयसे कहा।

महर्षि चुप थे। हृदयमें तस्कर भावना प्रबल हो चुकी थी। कुछ कहते न बना। हृदयको बल प्रदान कर वे रमाके सम्मुख आते पर उनका हृदय उन्हें धिक्कार उठता। इसी कारण सप्ताहों वे उससे पृथक् रहने लगे थे। परन्तु एकान्तमें हृदय अपनी कहता है और मन उसे सुनता है, बुद्धि गूँगी बन बैठती है। इस हृदय और मनकी कहा-सुनीमें शरीरमें उथल-पुथल मच जाती है और मानव छिन्न-भिन्न हो जाता है। वृत्तियाँ बलपूर्वक एकान्तका सहारा ले दुर्बल मानवतापर आक्रमण कर उसे मार डालती हैं। काननके मुखद्वारपर माधवी-निकुंजसे निकल जिस कीटने महर्षिके शरीरमें प्रवेश किया था, एकान्तकी नीरवतामें सर्वत्रसे मन बटोर प्रकृति उसके गठनमें दत्तचित्त हुई थी और अब उसका भार महर्षिकी शक्तिसे बाहर था। इसी बीच जब दुर्बल सरल मानवताने रमाके रूपमें उपस्थित हो उनके चरणोंपर मस्तक रख दिया, महर्षिका चित्त डाँवाडोल हो उठा। हृदय उनके वसका नहीं रहा, पर आत्मा धिक्कार उठी। महर्षि मानवताकी याचना वर्जित न कर सके। रमाके अनुरोधसे आज वे उसके पास आये और अवसन्न हो सो रहे थे।

रमाकी करुणाने प्रश्न किया था। महर्षिके पास उसका उत्तर न था। हृदयकी दुर्बलता उन्हें अपनी ओर घसीट रही थी और रमाकी सरलता अपनी ओर। कर्तव्याकर्तव्यकी प्रबल भावना रह-रहकर मनमें उठने लगी। मनको संयत कर उन्होंने रमासे पूछा, "भय किसका है, रमे? वृथा अनागत भयकी कल्पना मत करो। गृह-कार्योंमें मन लगाओ, चित्त स्थिर हो जायेगा।"

रमाका सरल मुख सहसा गम्भीर हो उठा। किन्तु विवशताने गर्वको चूर्ण कर दिया। स्वाभाविक मुद्रा फिर अंकित हो गयी और करुणाकी मूर्ति रमा बोली, "भय किसका है, देव ? भय है मुझे अपनी ही छाया-का। जिसे गोवत्स समझ मैंने पाला, बड़े होकर उसीने मानो मुझे सींग मारी। जानती नहीं, पर स्वप्नके प्रेत-सरीखे उन सींगोंसे भाग जब अपने—सर्वथा निजके—स्थान, स्वामीके वक्षमें, त्राणकी आशासे प्रवेश करती हूँ, वहाँ भी वे ही सींग मुझपर आक्रमण करते हैं। जान पड़ता है मानो मेरी रक्षाका आश्रय स्वयं उस नाशकारिणी कृत्याका साधन बन मेरे सर्वनाशके अर्थ प्रयत्नशील हो उठा है। किधर भागूँ ? गृहके कोने-कोनेमें, वस्तु-वस्तुमें, उन सींगोंने घर कर लिया।"

महर्षि काँप उठे। हृदय मसल गया। उन्होंने रमाका मुख बन्द कर दिया, अपनी आँखें मींच लीं। दूरपर उलूक-ध्वनि हुई। रमामें अशुभकी भावना जगी।

हृदयको जीतनेका महर्षिने प्रयास किया। मुराका कार्य उसकी माँको सौंपा। मुरा बछड़ोंकी देख-रेख करने लगी।

पावस बीता, शरद भागा, हेमन्त भीगा। महर्षिका हृदय संयत रहने लगा था। कल्पनाओंकी बाढ़ बल लगाकर उन्होंने रोक दी थी। अनुष्ठान साधनमें लगा चित्त मुराको भूला-सा प्रतीत होने लगा था। पत्नियोंने जाना मुराकी लगायी बेलि महर्षिके हृदय काननमें रस और देख-रेखके अभावमें सूख गयी। केवल रमाको इसमें कुछ सन्देह था। अग्निपर राख जम गयी थी पर नीचे क्या उसका सर्वथा अभाव था ? कहीं अनुकूल यत्न पाकर वह फिरसे सुलग न उठे, कहीं भीतर-ही-भीतर वह अब भी सुलग न रही हो—वह सोचती, फिर भी उसे कुछ सन्तोष-सा होता और वह विचारती—कदाचित् काननके साथ-साथ ही हृदय भी न झुलस जाये।

फिर जिस हृदयको अपनानेके लिए उसने मुराको लगायी बेलि उखाड़ फेंकी उसीको नीरस पाकर वह क्या करेगी ? एक बार एक अद्भुत भावना उनके हृदयमें उठी। उसने सोचा, क्या यह सम्भव नहीं कि मुरा भी उनमें-से एक होकर रहे ? हृदय काँप गया। आर्याकी मर्यादा अनार्याकी कैसे होगी ? रमाने हृदय थाम लिया।

उसने फिर सोचा—काननमें एक नहीं अनेक वनस्पतियाँ उगती हैं। वहाँ उद्यानलता भी पनपती है, वनज्योत्स्ना भी। प्रियंगु भी बढ़ती है, माधवी भी। क्या कानन सूख जाता है ? क्या काननका स्वामी एकको छोड़कर दूसरेको प्यार करने लगता है ?

इस अन्तिम प्रश्नपर रमा कुछ ठमकी—क्यों नहीं, वासन्तीकी सघनता देख जहाँ काननके स्वामीका मन थिरक उठता है, नीरस गुल्मका प्रसार देख वहीं क्या वह शिथिल नहीं पड़ जाता ?

पर क्या उसी काननमें अनेक छोटे-बड़े पौधे नहीं उगते ? क्या अशोक-की छायाके नीचे शाद्वलका प्रसार नहीं होता ? अब भी तो हम महर्षिके गृहकाननमें खड़ी हैं, क्या वहीं एक और नहीं टिक सकती ? टिकेगी और हमें उसके लिए स्थान करना होगा। महर्षिका हृदय भी तब हमारे प्रति कृतज्ञतासे भर जायेगा और हम उनके हृदयको तभी जीत सकेंगी।

रमाने नहीं सोचा कि हृदयका मूल्य हृदय है, कृतज्ञता नहीं; उसने महर्षिके हृदयमें मुराके प्रति प्रेमकी अग्निको कुरेदना आरम्भ किया। चिनगारियाँ अभी ठण्डी नहीं हुई थीं। सहारा पाकर फूट पड़ीं। रमाने उनपर रुई धर दी।

रमाकी एकमात्र दासी मुरा है। वह उसकी दासी ही नहीं अनुचरी है—उसके हृदयकी एकमात्र सखी। रमाकी सरलता और उसके अनुग्रहसे मुराकी कठोर चेष्टा भी कुछ मृदु हो चली। रमाके अनुग्रहने धीरे-धीरे प्यारका स्थान लिया। मुरा अब हँसती, श्रद्धापूर्वक महर्षिकी पत्नियोंसे

मिलती। जब कभी महर्षि रमाके पास आते, मुराको उसके पास बैठी पाते। मुरा उन्हें देख मुसकराती हुई किसी ओर चल देती। महर्षिके हृदयमें गुदगुदी होने लगती, वृत्तियाँ छिन्न-भिन्न हो जातीं।

महर्षिकी फिर जनमती भावनाको रमा अपने प्यारसे सेंकती। इस अग्निकी आहुतिमें जब अपने हृदयको घृतकी भाँति डाल रमाने ज्वाला उठायी तब प्रकृति भी उसकी सहायताको लपकी। उसने ज्वालाको वायुका सहारा दिया।

शिशिर बीत चला। वसन्त वायु चलने लगी। तरु नव-पल्लव धारण करने लगे। मध्याह्नसे सूर्यकी किरणें प्रखर हो उठीं, परन्तु प्रातःकाल अभी उनका आकर्षण बना था।

गोधूलिमें गौओंको लिये मुरा नदी-कूलके समतल ऊँचे कगारपर चली जा रही थी। सुन्दर-पुष्ट गायें खेलती-खाती बढ़ी जा रही थीं। बछड़े उछल-कूद मचा रहे थे। पुंगव बीच-बीचमें मुँह उठाकर डकार उठते थे। एकाएक दो पुंगव लड़ गये। उनकी सींगें चटाचट बजने लगीं। गायें चारों ओर बिखर गयीं। दो-चार इधर-उधर लड़ पड़ीं। मुरा गायोंको इकट्ठा करने लगी। एक और साँड़ लड़ते साँड़ोंकी ओर झपटा। युद्ध ठन गया। पूर्वकी ओर आकाशमें उजाला हो चला था।

साँड़ दौड़-दौड़ एक-दूसरेपर आक्रमण करने लगे। युद्धका कारण वहाँ नहीं था—झगड़ेकी गाय भाग गयी थी, किन्तु प्रतिद्वन्द्वी अपना क्रोध ठण्डा कर रहे थे। इसी बीच एक छोटा-सा बछड़ा गायोंके झुण्डसे उछलकर उनके बीच जा पड़ा। चिल्लाती हुई मुरा उसे बचाने दौड़ी।

महर्षि स्नान कर नदीके कूलपर चढ़ रहे थे। मुराकी चिल्लाहट सुन ऊपर दौड़े।

मुरा डण्डा लिये साँड़ोंपर पिल पड़ी। एक उसपर झपटा। वह भागी। दूसरेने बछड़ेको जोरसे सींग मारी। बछड़ा कगारसे नीचे जा

रहा। मुरा मग्न हो गयी। सोचा—कहीं मर न गया हो। फिर वेगसे उसे बचाने दौड़ी। बछड़ेकी माँने भी अपने बच्चेको कगारके नीचे गिरते देखा था, वह भी उसके पीछे दौड़ी। आगे मुरा, पीछे गाय। गायोंके बीच दोनों दौड़ पड़ीं। मुरा आगे पड़ी। गाय उसके ऊपरसे निकल गयी। मुरा लोट गयी! क्षण-भरमें यह सब हो गया। ठोकरसे जो मुरा कगारसे नीचे गिरी तो लुढ़कती हुई, ऊपरकी ओर दौड़ते महर्षिके चरणोंपर, जाकर रुकी।

महर्षिकी साँस रुक-सी गयी। मुराका संज्ञाहीन शरीर उठाकर उन्होंने गोदमें रख लिया। बैठ गये। उसके हृदयपर उन्होंने हाथ रखकर देखा—अभी जीवन था। उन्होंने भीगे वस्त्रोंसे उसके स्वेदको ललाटसे पोंछा। उनके शीतल वक्षसे लगी मुराकी उष्ण देह उन्हें रोमांचित करने लगी। दबी कामना जागी। हृदय कुचल गया।

पल-भरमें महर्षि और मुराका सारा परिवार तटपर आ उमड़ा। रमाने मुराको ऋषिकी गोदसे अपनी गोदमें ले लिया। चुमुरि और उसकी स्त्री पास खड़े कन्याकी दशापर आँसू बहा रहे थे। मुराकी एक भुजा कुचल गयी थी।

जब लोग मुराको उठाकर घर ले चले, उसने आँखें खोलीं और महर्षिको उपचारमें संलग्न पाया। थोड़ी दूरपर गाय अपने बछड़ेको वक्षसे ढँके रँभा रही थी। मनुष्यने अपने कष्टमें पशुका कष्ट भुला दिया।

दासोंके परिश्रमसे गृहवनमें जब महर्षिका नया कक्ष बना, वसन्त अपने यौवनपर था। मुरा पूर्ण स्वस्थ हो गयी थी, पर उसकी एक भुजा अब भी बेकार थी। चुमुरि और मुराकी माँ फूले अंग नहीं समाये जब उन्होंने जाना कि महर्षिका प्रसाद उनकी कन्याका शृंगार है। अपने परिवारको ले वे गृहवनकी नयी पर्णकुटी बनानेमें सन्नद्ध हो गये।

बड़ी उमंगसे महर्षिने मुराको स्वीकार किया। अपने आनन्दमें नवदम्पतिने रमाके प्रति अपनी कृतज्ञता न भुलायी। अगले वसन्तमें जब प्रकृतिने नयी कोंपल प्रसूत की, महर्षिके गृहमें एक नया अंकुर जनमा।

आर्यकी निष्ठा और दासकी भक्ति लिये जिस बीजने अंकुरके रूपमें धीरे-धीरे पनपना शुरू किया, समय पाकर उसके छत्रका वृहत् प्रसार हुआ और कक्षीवान्की ऋचाएँ आर्यजगत्में सर्वप्रिय हो गूँज उठीं।

४ जनवरी १९४०
प्रातः ५—८

●

कविकी भीख

[कहानीका आधार ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके तीन मन्त्र हैं। श्यावाश्वका पिता रथवीतिका पुरोहित है। लोमपाद कवि श्यावाश्वका मित्र है। दो कथाओंके प्लॉट इस कहानीमें सन्निहित हैं, इस कारण कि दोनोंका एक-दूसरेसे घना सम्बन्ध है। 'समिति' और 'विदथ' ऋग्वेदकालीन राजनैतिक संस्थाएँ थीं।]

"अभी उस दिन देखी थी उषाको लज्जित कर देनेवाले कपोलोंकी रक्ताभ शुभ्रता। सूर्यकी आभा, यदि उसे देख ले, सहम जाये। जब स्वर्ण-जटित रथमें विद्युत्की चपलता और वायुकी गतिवाले अश्वोंकी रज्जु हाथमें ले तनकर वह रथपर खड़ी होती है, सविताके तुरग ठिठक जाते हैं। राज-कन्यामें हिरण्यकी दमक है। सप्तसिन्धुमें कौन-सी सुन्दरी है जो सौन्दर्यमें उसकी छाया तक छू सके? कुभूकी उपत्यका और गन्धर्वप्रदेशके सुडौल, रूपमण्डन, पराक्रमी राजन्य उसके कृपा-कटाक्षके भिखारी हैं, फिर मुझ दरिद्र कविकी क्या सत्ता?"

राजा रथवीतिके पुरोहितका पुत्र श्यावाश्व कवि और युवा है। राज-कन्याको बचपनसे ही देखनेका अभ्यासी है। दोनोंकी वय समान है। श्यावाश्वका पिता सप्तसिन्धुका विख्यात ऋत्विज है। उसके कुलमें कन्या देकर अपनेको धन्य माननेवाले ऋषि और राजन्योंकी संख्या थोड़ी नहीं, परन्तु श्यावाश्वका हृदय रथवीतिकी कन्याके चरणोंमें लोट रहा है। चन्द्रभागाके तटपर उदास मन बैठा नदीकी फेनिल तरंगें गिन रहा है।

रुक-रुककर अपनी शोचनीय स्थितिपर वह करुण राग अलापता है। समीपकी शिलापर बैठा उसका अभिन्नहृदय वयस्य विकंकतका पुत्र लोमपाद बैठा उसकी बातें सुन रहा है। मित्रका दुःख उसका है। श्यावाश्वके शीलाचार और उसकी प्रतिभाका वह एकान्त भक्त है। कुछ देरतक चुपचाप वह कथा सुनता रहा, फिर धनुषको कन्धेकी ओर सरकाता हुआ बोला—

"श्यावाश्व, तुम्हारी व्यथाका विशेष कारण नहीं है। तुम्हें अधिक कष्ट इस कारण है कि तुम्हारा हृदय कविका है जो कल्पनामें दबा है। माना, वह मनस्विनी है और उसको प्राप्त करनेमें तुम्हारे मार्गके काँटे कुभू और सप्तसिन्धुके प्रचण्ड राजन्य हैं। पर तुम्हारा ब्रह्मतेज क्या किसी राजन्यके पराक्रमसे कम है? तप्त कांचन-सा यह तुम्हारा दमकता तेजस्वी तन जब अग्निशिखापर स्रुवाकी हविके साथ झुकता है, जब सोमकी मस्तीसे तुम्हारे अर्धनिमीलित नेत्र अपनी विशालतामें जगत्की संसृति मापते हैं, जब काव्यकी माधुरीसे प्रमत्त, घूर्णित, कम्पित तुम्हारा सामस्वर दिगन्तमें व्याप्त हो गूँजता है, तब हविर्भुज अग्निदेव ललक-ललक तुम्हारे स्पर्शको बढ़ते हैं और उनकी ज्वाल-जिह्वासे तुम्हारी छटामें जो आकर्षण उत्पन्न होता है, उसकी शक्ति तुम नहीं जानते, श्यावाश्व, मैं जानता हूँ, और जानते हैं वे राजन्य जिनका तुम्हें भय है। श्यावाश्व, सत्रकी शालामें उपस्थित किस सुन्दरीका हृदय आशा और सन्देहकी दोलामें नहीं झूलने लगता, बोलो?"

लोमपादकी बात काटता हुआ श्यावाश्व बोला, "रहने दे वयस्य, रहने दे। इन सारे हृदयोंका उपहार मैं उस देवीके चरणोंमें कर दूँ। उसके समक्ष इनका मूल्य क्या है? सामगानके समय जब कभी दृष्टि चुराकर रथवीतिकी कन्यापर डालता हूँ, उसे सदाकी भाँति शान्त, निश्चल, निष्कम्प पाता हूँ—कैसे जानूँ?"

"श्यावाश्व, प्रणयी स्वार्थी होता है। तिसपर तुम कवि हो। शब्दमें गाँठ देकर बोलना तुम्हारा व्यवसाय है, तृणको पर्वत बनाकर कहना

तुम्हारी कला है। सोचो तो सही, राजन्या मनस्विनी है, फिर राजाकी कन्या, और उसपर अनेक राजन्योंका प्रेमभार। कहो, क्योंकर सँभाले ? तुम्हारे जितने प्रतिद्वन्द्वी हैं, श्यावाश्व, सभी छायाकी भाँति उसका अनुसरण करते हैं, उसके पिताके दास बननेको उद्यत हैं, स्वर्णपत्तरोंसे मण्डित सींगोंवाली सहस्रों गाएँ देनेको तत्पर हैं, पर मनस्विनी किसीकी ओर आँख तक उठाकर नहीं देखती। एककी ओर देखे और दूसरे उसपर टूट पड़ें, फिर चन्द्रभागामें रक्तप्रवाह प्रारम्भ हो जाये। इसी कारण वह तुमसे भी बाह्यतःसे उदासीन रहती है। धीरज धरो, श्यावाश्व।''

श्यावाश्वके नेत्र आशासे चमक उठे। वह उत्तरीयका किनारा चुन रहा था, उसे उसने छोड़ दिया। चन्द्रभागाके शीतल समीरके स्पर्शसे शुभ्र उत्तरीयका कनकछोर लहरा उठा। सन्ध्या प्रतीचीको सँवार रही थी—सुदूर आकाशमें कूँचीसे मेघमालाका स्वर्णरंजन कर रही थी। उसके मेघ और श्यावाश्व उत्तरीयके छोर समान थे। कविहृदय छलक पड़ा, उसके मुखसे रूपमयी प्रतिभा मरुतों और अश्विनीकुमारोंकी प्रशस्तिमें चू पड़ी। अश्विनीकुमार ही सोम-सूर्या-विवाहके अवसरपर वर बने थे, क्या वे श्यावाश्वके सहायक होंगे ?

लोमपादका मुख सन्ध्याकी आभामें दमक रहा था। अंगद और वलयका सुवर्ण उसके ताम्रवर्णको रक्ताभ कर रहा था। सामने क्षितिजको छू जब वायु उसके ओजस्वी शरीरको स्पर्श करता, भुजाओंमें अजेय शक्ति भर जाती, अंगोंमें अथक स्फूर्ति नृत्य करने लगती। सुगठित शरीरके एक-एक मोड़में शत-शत नसें रज्जुकी नाईं तन जातीं। सहसा निषंगमें रखे चमकते भल्ल-मुख बाणोंके फलकोंसे काले लम्बे केशको पृथक् कर हाथमें धनुष ले दृढ़तापूर्वक उसने कहा—

''श्यावाश्व, राजन्या तुम्हें वरेगी, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यदि ये राजन्य अपने दुर्दान्त विक्रमके गर्वसे अन्धे हो तुम्हारे मार्गमें आ अटकें, तो मैं अपना कर्त्तव्य पालन करूँगा। सामने सविताके अर्द्धतिरोहित मण्डल-

को देखा। उस अग्निदेवकी शपथ ले प्रतिज्ञा करता हूँ—यदि कहीं शर-सन्धानकी आवश्यकता पड़ी, तो मेरा धनुष भी प्राचीन है, मेरे अंगुष्ठमें ज्याकी गहरी रेखा है, मेरी भुजाओंमें बल है। यदि दुर्द्धर्ष पक्थोंको आगे कर पंचजन भी सामने आये, तो पुरुलोमपाद उनके रक्तसे पितरोंका तर्पण करेगा, राजन्याको जीत तुम्हारे सम्मुख ला रखेगा।"

शब्दकी अजेय शक्तिसे तेज और स्फूर्तिसे लोमपादका कम्पित गात्र मकरकुण्डलोंको हिला रहा था। उन्नत ललाट और वृषभस्कन्धपर उसके केश बिखर रहे थे। कवि श्यावाश्वका सुन्दर मुखमण्डल आशा और आनन्दसे दमक रहा था। ललाट और वक्षका श्वेत चन्दन सन्ध्याकी सुनहरी आभामें चमक रहा था। खुली बाहुओंसे लोमपादके ओजस्वी शरीरको पकड़ उसने हृदयसे लगा लिया।

फिर बोला, "आदित्यविक्रम पुरुवंशावतंस भोले लोमपाद, मदनके राज्यमें तुम निरे बालक हो। क्या समझते हो धनुषके बलसे जीती राजन्याको पाकर मेरा प्रेम निहाल हो जायेगा? नहीं, सुनो, राजन्य—चाहता हूँ, जिस प्रकार मैं तड़प-तड़पकर उठता और काँपता हूँ, आन्तरिक अग्निसे शमीकी नाईं दग्ध होता हूँ, वह भी व्याकुल हरिणीकी भाँति कामशरसे विद्ध व्यथासे काँप-काँपकर उठे, घूम-घूमकर गिरे। चाहता हूँ, उसे वह व्यथा हो जिसकी ओषधि रथवीतिके मूर्ख चिकित्सक न बता सकें। और चाहता हूँ, उसके हृदयमें कामज्वालाका प्रवेश हो और उसमें सारे सप्तसिन्धुके पद्मलेप और उशीरांगराग शीतलताकी जगह अग्निका संचार करें।"

धीरे-धीरे सन्ध्या रात्रिकी गहराईमें घुल गयी।

राजा रथवीति रत्नियोंके साथ सभामें बैठे थे। पुरोहित ऋषि, श्यावाश्वके पिता, भी कुशासनपर बैठे मन्त्रणामें योग दे रहे थे। दर्भकी पौत्री पिताकी

राजसभामें इलाकी भाँति दमक रही थी। दासोंकी सेना उत्साहपूर्वक रथवीतिके राज्यपार्श्वपर आक्रमण कर रही थी। अंशुमती (यमुना) के तटपर दस सहस्र कृष्णोंकी सेना लिये दासराज कृष्ण आर्योंकी प्रतीक्षामें था। आर्योंका पूर्वाभिमुख प्रसार यमुनाके दक्षिण तटपर कृष्णने रोक रखा था। 'समिति' और 'विदथ' में दी गयी श्यावाश्वकी वक्तृताएँ लोगोंके कानोंमें गूँज रही थीं और रत्नी उपस्थित युद्धके कार्यक्रम—रन्ध्रप्रहारकी सुविधा—पर विचार कर रहे थे। एकाएक युवा श्यावाश्वने प्रवेश किया। विचारोंके संघर्षसे उसके प्रशस्त ललाटकी रेखाएँ गहरी हो गयी थीं। मांसके अभावसे भौंहोंका चढ़ाव कुछ उतर गया था, तेजस्वी मुखमण्डलपर चिन्ताकी छाया थी।

राजन्याका हृदय उछलने लगा। भावोंकी बाढ़ आ गयी। कमलवदन खिलकर मुरझा गया। दृगोंने जी-भर श्यावाश्वको देखा फिर पिताकी मुद्रा गम्भीर देख नीचे झुके।

श्यावाश्वने अभिवादन कर कहा, "राजन् ऋषिकुमारकी एक भिक्षा है।"

उमड़ते विचारोंको दबाता राजा बोला, "बोलो, ऋषिकुमार, क्या लोगे?—स्वर्णमण्डित सींगोंवाली गौएँ अथवा गन्धर्वदेशकी ऊर्णाप्रसविनी भेंड़ें? अथवा निष्कभूषित अश्वयूथ? अथवा क्षौम-दुकूलके उत्तरीय और अधोवस्त्र? बोलो श्यावाश्व, क्या दूँ?"

राजकन्याका उद्वेलित हृदय क्षण-भरके लिए थम गया। आशाकी रेखा चपलाकी भाँति अन्तरमें कौंध गयी। उसने आशापूर्वक पिताकी ओर देखा, और उत्कण्ठासे श्यावाश्वकी ओर।

कामनाकी सिद्धि किंचिन् गोचर हुई और कविका अन्तर्नाद मुखरित हो उठा—"राजन्, न मुझे स्वर्णमण्डित सींगोंवाली गौएँ दो और न गन्धर्वदेशकी ऊर्णाप्रसविनी भेंड़ें। न निष्कभूषित अश्वयूथ और न क्षौम-दुकूलके उत्तरीय और अधोवस्त्र।"

श्यावाश्व अपनी याचनाके भारसे दब पल-भर रुक गया। सभा स्तब्ध थी, पुरोहित शान्त गम्भीर। रथवीति एकटक श्यावाश्वको देख रहा था और उसकी कन्या अपने पदनखोंको।

आशा और सन्देहकी क्रीड़ाभूमि, हर्ष और विषादसे रोमांचित, उस श्यावाश्वकी मुद्राने समभाव धारण किया। सहसा सम्मुख चन्द्रबिम्बके आकर्षणसे सागर उद्वेलित हो उठा, जलराशिमें आवर्त बनने लगे, उथल-पुथल मच गयी, तल चमक उठा। रोम-रोमको वाणी प्रदान करते हुए, सबाष्प नेत्रोंको ऊपर उठा, रुँधे कण्ठसे कुछ अटकते, कुछ सहमते याचकने माँगा—

"बालपनकी सहचरी, यज्ञार्थ सोमवल्ली ढूँढ़नेमें सहायिका, मेरे हृदयाकाशकी सूर्या इस राजकन्याको दो।"

राजकन्या लीलाकमलकी पंखड़ियाँ गिन रही थी। रथवीतिकी भौंहोंमें बल पड़ गये। याचनासे वह पूर्वपरिचित था। अवसरसेवी, अनागत भयके विधानमें दक्ष राजा बोला—

"सप्तसिन्धुमें सुन्दरियोंकी कमी नहीं है, श्यावाश्व, और तुम्हारी कोमल पदावलीके आघातसे विभोर कितनी ही आर्य-कन्याएँ तुम्हारी कामना करती हैं—यह मुझे ज्ञात है। आर्य-जगत्में चाहे जिस लावण्यवतीको अभिलाषा करो, लाकर प्रस्तुत कर दूँ। दासोंके ऐश्वर्य-भरे नगरोंकी लूटसे प्राप्त द्रविणराशियोंसे कोश भरा है, उन्हें लो और आनन्दके दिन व्यतीत करो।"

रथवीतिने मदमत्त मृगपर शिला-खण्ड रख दिया। श्यावाश्वका हृदय कुचल गया। राजकन्याकी प्रभापर रजनीकी छाप लगी। रत्नी शान्त थे, पुरोहित उदासीन।

दरिद्रके गर्वको ठेस लगी।

वह बोला, "मुझे द्रविणराशियोंकी आवश्यकता नहीं, राजन्। मेरी तो उषाकी स्वर्णराशि अपनी है, सन्ध्याकी प्रतीचीका सारा रजतप्रसार

अपना है, जिसे मैं आर्य-जगत्के श्रीमानों और दरिद्रोंको लुटाता हूँ। मैं तो उस प्रकृतिका एकान्त सहचर और पुजारी हूँ जिसके गर्भसे तुम्हारी द्रविणनाथियाँ प्रसूत हुई हैं।"

लालसा-भरे हृदयको जैसे पसार कवि कहता जा रहा था—

"मेरे सर्वथा भरे विश्वका हृदय सूना है, उसे भरनेके लिए इस दिव्य मूर्तिकी याचना करता हूँ। दे दो, राजन्, दे दो। सारी कोमल पदावली उसके चरणोंपर न्योछावर करूँगा। मेरे अगाध कल्पना-सागरमें तुम्हारी कन्याकी कामनाएँ लहरें बनकर बसेंगी। उसके स्पर्शसे काव्यकला चमत्कृत होगी और अखिल विश्व अक्षर शब्दघोषसे व्याप्त हो उठेगा। उस रतिकी कमनीय मूर्तिको वसन्तकी विभूतियोंसे सजाऊँगा, सोमवल्लीके रससे उसकी प्यास मिटाऊँगा, जगत्की सारी कामना एकत्र सामबद्ध कर उसके सम्मुख बिखेर दूँगा—वैभवशाली दास और महेन्द्र-विक्रम आर्य उसकी श्रीको अथक नेत्रोंसे निहारेंगे, मैं निहाल हो जाऊँगा। दे दो, राजन् भ्रमरका यह पुष्प उसे दे दो!"

अमृत बरस रहा था, राजकन्या सिहर-सिहर नहा रही थी। श्यावाश्व चुप हो रहा, पर उसके शब्दोंका नाद देर तक गूँजता रहा। एकाएक सुन पड़ा—

"असम्भव, श्यावाश्व, असम्भव। आर्यजगत्के सारे युवक जूझ पड़ेंगे। गृहदाहकी आशंकासे तुम्हारी याचना अस्वीकृत करनी होगी। पार्श्वमें अनार्योंका ताण्डव हो रहा है, उनके दमनार्थ राजन्योंका प्रसादन आवश्यक है।"

"आयुष्मान्, राजन्!"—कहकर जब श्यावाश्व चला, राजन्याका हृदय टूक-टूक हो रहा था। निष्कम्प दीपशिखाकी भाँति वह अपलक श्यावाश्वके पृष्ठभागको देखती रही।

गन्धर्वदेशकी राजकन्या कुभूके राजा पुरुमिल्हके एकमात्र तनयपर आसक्त थी। कुमार भी शशीयसीपर रीझ गया था, पर उसके प्रेमका रहस्य नहीं जानता था। शशीयसीने श्यावाश्वसे कहा—

"श्यावाश्व, तुम्हारी और मेरी दशाएँ समान हैं। मुझे विश्वास है, यदि तुम मेरा दौत्य स्वीकार कर पुरुमिल्हके पुत्रके पास प्रेम-सन्देश वहन करो, तो मैं अवश्य सफल होऊँगी। तुम कवि और प्रेमी हो, हृदयका रहस्य जानते हो। जाओ, मेरा प्रणय-सन्देश राजपुत्रसे कहो।"

श्यावाश्वने राजपुत्रसे कहा—

"कुमार, अनूपरूपा वह शशीयसी भारतीकी नाईं विदुषी, रतिकी भाँति सुन्दरी है। उसकी विशद प्रभासे झर-निर्झर आलोकित हैं। उसकी मुसकानसे चपला अपना चमत्कार पाती है, उसकी गतिसे राजहंसिनी अपनी गति। उसकी अलकोंमें शत-शत नागिनें सोती हैं, कमलनेत्रोंके कटाक्षमें अटूट अलि-अवली बसती है। नासिकाकी शोभा शुक अनवरत निहारता है, दन्तपंक्तियाँ दाड़िमकी लड़ियों-सी दमकती हैं। बिम्बाधरकी छवि सहस्रों राजन्य निरखते हैं, परन्तु शशीयसीकी दृष्टि उनकी ओर नहीं उठती। वह एकमात्र तुम्हारी कामना करती है। इन्द्र-वरुण, अग्नि-सूर्यके होमयाग बन्द हैं। केवल तुम्हारी कामनामें निरत वह देवी क्रूर कामके आघात सहती है। कुमार, उसे स्वीकार करो।"

श्यावाश्वका दौत्य सफल हुआ। उसका गृह दम्पतिके दिये धन-धान्यसे भर गया। पर हृदय-कमल सूखता रहा। वेदनासे व्याकुल वह पुकार उठा—

"शशीयसीके रथों, अश्वों और गौओंसे गृह भरा है—किस कामका ?"

"नारियोंसे भिन्न शशीयसी दान और सहृदयतामें पुरुषोंसे बढ़ गयी। पुरुषोंमें देवोंके प्रति अश्रद्धा और लोभकी घनताने घर किया।"

सहसा उसका ध्यान अपनी आन्तरिक स्थितिपर गया। रात्रिकी नीरवतामें नाद-कम्पन उत्पन्न करता वह गा उठा। निशाके प्रति संसारका प्रथम विरही यक्ष बोला—

"रजनी, तू जाग, मेरी सजनीको जगा। मेरा सन्देश वहन कर। देवि, उस दर्भतनयके समीप याचनाका रथ बनकर जा।"

"रजनी, स्पन्दनहीन तुम्हारे राज्यमें केवल दो व्यक्ति अनिद्रित हैं—अभागा श्यावाश्व और भोली रथवीतिसुता। देवि, मेरी याचनाकी अनन्त व्याख्या राजाको सुना।"

"रजनी, मेरी दशाका रथवीतिसे वर्णन कर। जब प्रातः यज्ञशालामें अग्निमें वह होम करता हो, उससे कह—ठीक इसी भाँति श्यावाश्व भी अपनी सरस कामना तेरी कन्याके प्रेमांकुरपर उँड़ेल रहा है।"

युद्धमें आर्य जयी हुए। दास भागे। कुटिल कृष्ण गोवर्धनकी कन्दराओं और वृन्दाके वनोंमें जा छिपा। विजयका श्रेय श्यावाश्वकी ओजस्विनी वाणी और लोमपादके उद्यत कार्मुकको मिला। कविकी साधना सफल हुई, वासना तृप्त—राजसुता अब उसकी है।

श्यावाश्व और उसकी राजन्या आनन्द-भ्रमणके निमित्त शुतुद्रुके तटपर आये हैं। सिंहचर्मपर राजन्या बैठी है और वह स्वयं आसीन है मृगनाभि सुगन्ध शिलापर।

राजन्याने पूछा, "श्यावाश्व, यदि मैं तुम्हें न मिलती ?"

"शुतुद्रुकी लहरोंसे पूछो, यदि उन्हें सिन्धु न मिलता ?"—श्यावाश्व बोला।

"तो मैं जानती हूँ—तुम तड़प-तड़प रोते।"

"और यदि कहीं तुम उस श्मश्रुल पक्थराजको वरतीं, तो मैं कूद-कूद हँसता।"

श्यावाश्व हँस पड़ा। राजन्याकी मान-भरी भृकुटी तन गयी, किन्तु प्रत्यंचापर चढ़ा बाण समीपसे निकलते लोमपादपर गिरा।

१५ मार्च १९३९
प्रात: ३—५



समनोत्सव

[इस कहानीका आधार भी ऋग्वेद है। 'समन' एक प्रकारका मेला होता था जिसमें अधिकतर कुमार-कुमारियाँ अपने लिए कन्या-वर चुनते थे। कई सूक्तोंमें समनोंके प्रसंग आये हैं। सूर्याके विवाह-सूक्त (१०, ८५)में रथचालन-प्रतिद्वन्द्विताका संकेत मिलता है। लोपामुद्रा और घोषा ऋग्वेदके ऋषि हैं। घोषा कक्षीवान्की दूसरी पत्नी थी जिसको उन्होंने वृद्धावस्थामें ग्रहण किया था। वह राजपुत्री थी।]

समनकी तैयारीमें जगत् व्यस्त था। देवताओंका स्वयंवर समनके ही अवसरपर होता था। सूर्याके स्वयंवरकी आज ही तिथि निश्चित थी। तीसरे पहर देवताओंके समनमें आकाश-गंगाके तटपर सुविस्तृत मैदानमें अमरोंका जमघट हुआ। सूर्यने कन्याके विवाहके लिए जो देवलोकमें घोषणा की थी उससे चारों ओर हलचल-सी मच गयी थी। सूर्याके प्रदीप्त सौन्दर्यका एक-एक सुर शलभ था, एक-एक विबुध भिखारी। सूर्यके प्रासादप्रांगणमें स्पर्धाशील देव सूर्याकी पाणिप्राप्तिकी अभिलाषासे खचा-खच भरे थे। सूर्यने जब इतने विवाहार्थियोंको देखा वह कुछ घबरा उठा। उसने घोषणा की—उपस्थित देवोंमें-से जो रथकी दौड़में सबसे आगे निकल जायेगा वही सूर्याके पाणिग्रहणका अधिकारी होगा। उसी स्वयंवरके सम्भारमें समनमें सुरोंका जमघट लगा था। रथोंकी दौड़में भाग लेनेवाले सभी देवता उपस्थित थे। चपल तुरगोंकी आतुरता कठिनतासे रुकती थी।

सूर्य और सरण्यू सूर्याके साथ ऊँचे मंचपर आसीन थे। देवता अपने-अपने रथोंकी रास पकड़े मैदानमें संकेतकी प्रतीक्षामें दम साधे खड़े थे। बहुतेरे लोकपाल, वसु और अन्य सुर अपने अश्वोंको मन्त्रबलसे साध चुके थे, कुछ भीतर-ही-भीतर ब्रह्मको सुमिर रहे थे। एकाएक सूर्यने संकेत किया। रथ दौड़ चले। आकाशमें स्थानकी कमी न थी। दूरतक मार्ग-की व्यवस्था थी। सीमा दूर थी पर सूर्य और अन्य आदित्योंकी प्रखर किरणोंसे मार्ग चमक रहा था। सैकड़ों रथोंकी एकबारगी दौड़से अम्बरमें प्रचण्ड वायुका बवण्डर-सा उठ खड़ा हुआ।

दौड़की गति बढ़ती जा रही थी। कुछ आरम्भमें ही तीव्र गतिसे चले, कुछने रास खींचकर रखी जिसमें अन्य रथोंका वेग शिथिल हो जाने-पर उनसे मैदान मार लें। अपनी-अपनी सुविधासे सुरोंने अपने रथ तीव्र अथवा धीमी गतिसे हाँके। मार्ग सुविस्तृत होनेपर भी रथोंके सामीप्यसे घटा-सी उठती जान पड़ती थी। सूर्यका परिवार कुतूहलपूर्वक यह असा-धारण रथ-धावन-प्रतियोगिता देख रहा था। सूर्य गम्भीर हो दौड़की ओर दृष्टि गड़ाये था। सरण्यू बारम्बार कन्याकी चेष्टाओंपर दृष्टि डालती—उसके भीतर उठते भावोंको उसके मुखमण्डलपर पढ़ लेनेकी चेष्टा कर रही थी। और सूर्या? सूर्याके भाग्यका इस प्रतियोगितामें निपटारा था। उसके लिए यह रथोंकी दौड़ विशेष अर्थ रखती थी, केवल कौतुकका साधन न थी। उसकी और सखियाँ—उषा, यमी, रोदसी—जब रथोंके वेगपर साधुवाद करतीं, सूर्या केवल चुपचाप अपने भीतर उठते विचारोंको भीतर ही दबा निश्चल दृगोंसे केवल देखती रहती।

सूर्या अपना हृदय सोमको दे चुकी थी। प्रातः-सायं प्रतिदिन वह सोमका प्रेम सन्देश अश्विनीकुमारोंके मुखसे सुनती और अपनी प्रणय-वेदना सोमके पास उनके द्वारा भेजती। सूर्यने जब देवताओंमें सूर्याके करग्रहणके निमित्त बड़ी हलचल देखी तब गृहयुद्धके भयसे उसने इस स्वयंवर-प्रति-योगिताकी घोषणा की। पर यह घोषणा सूर्याके हृदयमें विकट समस्याके

रूपमें उठी। उसके हृदयमें क्षण-क्षणमें अनिष्ट चेतना-सी होने लगी। कहीं कोई और न अपना रथ आगे निकाल ले जाये, इस घबराहटसे उसके भीतर भी आँधी-सी उठ रही थी।

प्रचण्ड वेगसे प्रतिस्पर्धी रथ भगा रहे थे। रथोंकी गड़गड़ाहट मेघों-की गम्भीर गर्जन-सी प्रतीत होती थी। कुछ देरके बाद बहुत-से रथ पीछे छूट गये। तब भी अनेक रथ एक साथ बड़े वेगसे दौड़ रहे थे। दूरीके कारण रथके स्वामियों और सारथियोंको पहचानना कठिन था। वृत्ताकार गगनमण्डलमें सूर्यको केन्द्रीभूत कर दौड़ना था। तीन चक्कर पूरे करने थे। एक चक्कर काट जब देवता सामनेसे निकले, सूर्याने देखा, अभी दसों रथ बराबर-बराबर समान गतिसे दौड़ते जा रहे थे। एकाएक अग्नि और पर्जन्यके रथोंकी धुराएँ टकराकर टूट गयीं। रथ उलट गये। कितने ही पीछे आनेवालोंने आगेवालोंको रौंद डाला, फिर वे स्वयं उलटकर अपने पीछेवालोंसे कुचल गये। सर्वत्र हाहाकार मच गया। सूर्याने हृदयपर हाथ रखा, नेत्र मींच लिये। किसके रथ थे ये?—उसने सोचा। कहीं सोमका रथ भी उनमें न रहा हो। रथोंकी तीव्रताके कारण रथियों-की ध्वजाओंको पहचानना कठिन था। रथ सूर्याके दृष्टिपथसे बाहर हो गये थे। उद्विग्न हो उसने माताकी ओर देखा। सरण्यूने सूर्यसे पूछा कितने रथी दौड़ रहे हैं? सोम कहाँ है? सूर्यने किंचित् आगे झुककर देखा, फिर कहा, "केवल पाँच, सोमके दोनों पार्श्वमें।"

सूर्याकी जानमें जान आयी।

धावनकी गति और भी तीव्र होती जा रही थी। स्वयं रथियोंको अश्वोंके मस्तककी कलँगी नहीं दिखाई पड़ती थी और न दर्शकोंको रथ-चक्रोंकी गति। सूर्या सोमकी शुभकामना कर रही थी। दर्शक देवता सोम, पूषन्, मरुतोंका नाम ले-ले अपने-अपने स्वजनको बढ़ावा दे रहे थे। इसी समय दूसरा चक्कर समाप्त हुआ, सूर्याके सामनेसे वायुगतिसे पूषन् और सोमके रथ निकल गये। सूर्याने स्पष्ट देखा—पूषन्का सारथी तुरगों-

पर कशाओंकी वर्षा कर रहा था। पूपन् स्वयं दाँत पीसता कभी अश्वोंको पुकारकर बढ़ावा देता कभी सारथीको अधिकतर वेगसे हाँकनेके लिए कुवाच्य कहता, कभी सोमको ललकारता। सोम मुसकरा देता और उसके युगल सारथी अश्विनीकुमार रथके अग्रभागमें खड़े शान्तिपूर्वक अश्वोंका संचालन करते। कभी-कभी वे पूपन्की ललकारोंका उत्तर उसकी ओर घृणाकी दृष्टि फेंककर देते। सूर्या इष्टकी कामना करती साँस रोके बैठी थी।

मरुतोंका दम फूलने लगा। उनके तुरग पीछे छूटने लगे और तीसरे चक्करके आरम्भमें वे सर्वथा अतिक्रान्त हो गये। केवल दो प्रतिस्पर्धी मैदानमें उड़े जा रहे थे। दोनों समीप-समीप, एक-दूसरेके पार्श्वमें युगल-रथोंकी भाँति बढ़े जा रहे थे। एक बार देवमण्डलसे शब्द होता—"विजयी सोम, आगे बढ़ो! अश्विनीकुमार, तीव्रतर भागो!" दूसरी ओरसे ध्वनि होती—"पूपन्, वेग बढ़ा दो! सूर्या सौरमण्डलकी सर्वसुन्दरी है!" एक शब्दसे सूर्याका हृदय उछल उठता, दूसरी ध्वनिसे बैठ जाता।

धीरे-धीरे पूपन्के रथका वेग द्रुततर होने लगा। सूर्याकी कान्ति धूमिल पड़ने लगी। सूर्यका तेज मन्द हो चला। सरण्यू कभी स्वामी, कभी कन्याकी ओर देखती और काँप जाती।

पूपन्का रथ जब सोमसे आगे निकल गया, उसने सोमको ललकारा। सोमने उसकी ओर देखकर मुसकरा दिया। पूपन्के पक्षवाले तुमुल जय-ध्वनि करने लगे। सोमपक्ष चुप हो चला था। अश्विनीकुमारोंने रास ढीली कर दी। रथ कुछ बढ़ा परन्तु वह पूपन्को न पकड़ सका। पूपन्के अश्व उड़े जा रहे थे। और उसका रथ सोमसे लगभग दो रथ आगे हो गया था। सूर्याकी मुखमुद्रा निस्तेज हो चली थी। वह कभी रथोंको देखती कभी लक्ष्यको। लक्ष्य धीरे-धीरे दूरके रथोंके समीप होता जा रहा था। रथ प्रतिक्षण उसके पास होते जा रहे थे। लक्ष्य सूर्यके सामनेका अर्द्धवृत्त था। सूर्याने नेत्र मींच लिये। कुछ क्षणोंमें उसके भाग्यका वारा-

न्यारा था. उसकी चिर अभिलाषाओंकी समाधि खुदनी थी।

सहसा एक ओरसे कानोंको बहरा करनेवाली ध्वनि सुन पड़ी— "आश्चर्य ! आश्चर्य ! अश्विनीकुमार, तीव्रतर, तीव्रतर, !"

सूर्याने मस्तक उठाया। उसने देखा—सोमका रथ पूषन्के रथका पृष्ठ भाग छू रहा था। आशाकी एक हलकी ज्योति विद्युत्की भाँति नेत्रोंके सामनेसे निकल गयी। सरण्यूके होठोंपर मुसकान झलकी। सूर्यका मुख गम्भीरतर हो उठा।

सोमके अश्वोंने अद्भुत वेग धारण किया था। क्रोधकी ज्वालासे पूषन् जलने लगा। कुवाच्य कहते हुए उसने सोमको आगे निकल जानेको ललकारा। सोमने उत्तर नहीं दिया। उसका रथ अब पूषन्के रथके पार्श्वमें आ गया। उद्विग्न सूर्या अपने आसनपर आगे-पीछे हिलने लगी। शीलने उसको रोका, नहीं कदाचित् वह भी अश्विनीकुमारोंको बढ़ावा देनेके लिए पुकार उठती।

अद्भुत वेगसे दोनों स्यन्दन गगनपथपर उड़े जा रहे थे। साथियोंकी दृष्टि अपने-अपने अश्वोंपर थी परन्तु पूषन् और सोमकी एक-दूसरेपर। दर्शकोंकी जिह्वा अब बन्द हो चुकी थी। शब्द करके ललकारनेकी न तो उन्हें इच्छा थी, न समय था। रथोंकी गतिने हृदयकी गति बन्द-सी कर दी थी। लोग अपलक मैदान देख रहे थे। सोमका स्यन्दन पूषन्से लगभग आधे रथके आगे जा रहा था और पूषन् अपने आसनपर खड़ा हो गया था। उसके कुवाच्योंकी प्रतिध्वनि ही उसका उत्तर देती थी। अश्विनी-कुमारोंको अपने कर्तव्यका व्यसन था, सोमको अपने उठते विचारोंसे छुट्टी न थी।

सहसा पूषन्ने अग्रभागमें कूद सारथीसे कशा छीन ली और उसे एक ओर ढकेल दिया। बेचारा सारथी नीचे मरुतोंके संघट्टपर जा गिरा। सोमके रथका पृष्ठभाग दक्षिणकी ओर पूषन्के वाम अश्वकी कलँगीको धर्षित-सा करने लगा। कौतुकवश अश्विनीकुमारोंने अपनी गति धीमी

कर दी। सूर्या घबरा उठी। पूषन्‌के पक्षवाले प्रसन्नतासे चिल्ला उठे। कुछ क्षणों तक दोनों रथ बराबर-बराबर समानगतिसे दौड़ते रहे। सहसा सरण्यू चिल्ला उठी—"अश्विनीकुमार, सावधान!" अश्विनीकुमारने जो फिरकर देखा तो कुपित पूषन्‌की लम्बी कशा उनके दक्षिण भागपर भर-पूर पड़ी। फिर दूसरी, फिर तीसरी। तीसरा आघात होते-न-होते अश्विनी-कुमारोंने पूषन्‌की कशा छीन ली, दूर फेंक दी। पूषन् 'अन्याय! अन्याय!' कहकर चिल्ला उठा। अश्विनीकुमारोंने अपनी कशा भी फेंक दी। और दूसरे ही क्षण उनका स्यन्दन सूर्यके समक्ष अर्द्धवृत्तमें प्रविष्ट हो गया। सूर्यके मुखपर सहज मुसकान खेलने लगी, सरण्यू उछल पड़ी, सूर्याने कपोलोंपर सूखते श्रमकणोंको पोंछ लिया।

सोम और अश्विनीकुमारोंके प्रति उल्लास-भरे सुरोंके विजय-शब्दोंसे आकाशमण्डल गूँज रहा था। सूर्याने नेत्र नीचे कर सोमकी नत ग्रीवामें वरणमाला डाल दी।

नीचे पृथ्वीपर भी समनोत्सवके साधन सज रहे थे।

सन्ध्या हो गयी थी। ग्रामके बाहर मैदानमें असंख्य दीप बल उठे थे। आसपासके गाँवोंसे नर-नारी समनोत्सवके लिए उमड़े आ रहे थे। कुमार-कुमारियोंके समारोहसे मैदान भर रहा था। अपनी-अपनी अभिलाषाएँ लिये वे समनमें आते और उन्हें पूरी कर लौट जाते। क्वाँरे युवक क्वाँरी युवतियों-की आशामें आते और लौटकर विवाह-संस्कारमें बँध जाते। तबके समन आर्य जातिके नववयस्कोंके अतीव प्रिय थे। आकर्षक शृंगारसे नववयस्क सजते, अल्हड़ कामनासे एक-दूसरेको भेंटते। दबी साधोंकी ग्रन्थियाँ यहाँ खुलतीं और माता-पिता इस महोत्सवके अर्थ उन्हें प्रस्तुत करते।

आकाशदीपोंको धुँधला करता सुधाकर जब गगनमें निकला समन नर-

नारियोंसे भर चुका था। संचारिणी दीपशिखाओंके प्रकाशमें रात्रि दिनकी भाँति चमक रही थी। लोग इधरसे उधर उमड़े जा रहे थे। संगीतकी ध्वनि चारों ओर उठ रही थी। शरीरसे शरीर छिलता था। रसिक और छैले, शीलवान् और निर्लज्ज, श्रीमान् और दरिद्र सभी इधरसे उधर और उधरसे इधर आ-जा रहे थे। एक-एक कुमारपर एक-एक कुमारीकी आँख थी, एक-एक कुमारीका एक-एक कुमार सम्भावित वर था।

लोपामुद्राको उसकी माताने सजाकर भेजा था। उमंगमें भरी जब वह समनमें प्रविष्ट हुई, घोपा सदाकी भाँति सजी एक ओर खड़ी थी। सदा वह वहीं खड़ी होती थी और प्रत्येक अवसरपर कुमार-कुमारियोंको आनन्द-में उमगते हाथमें हाथ धरे प्रेमालाप करते समीपसे निकलते देखती। युग बीत गये परन्तु किसीने उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। श्वेतकुष्ठकी मारी घोपा किसीको आकर्षित न कर सकी। उसके श्याम केश श्वेत हो चले। अनेक आशाएँ लिये सन्देह और उन्मादकी भावना दबाये वह सदाके स्थानपर खड़ी होती। जब कोई युवक उसके पाससे निकलता उसकी आशा-बेलि हरी हो उठती फिर शीघ्र जब वह उसीसे मनचीती सखीको पूछ चला जाता, उसपर तुषारपात हो जाता। दीर्घ निःश्वास खींच वह अपने भाग्यको कोसने लगती। तरुणोंका आकर्षण करनेके साधन जाते रहे थे, अब उसने प्रौढ़ोंसे आशा की परन्तु उन्होंने भी उसे निराश कर दिया। अब जब युवकोंका दल उसके पाससे निकलता वह उनकी दृष्टि बचाती, पर कुछ दुःशील उसके ऊपर व्यंग्यबाण छोड़ ही देते। उसका हृदय ग्लानिसे भर जाता और वह जीवन निःशेष कर देना चाहती।

लोपामुद्रा मनोवांछित युवकको लेकर चली गयी। घोपाने उसे जाते देखा। वह अप्रतिभ हो मन-ही-मन बोली—"अश्विनीकुमार, तुम्हारी दयाका क्या फल हुआ? चर्मरोगके रहते कुछ हृदयको सान्त्वना होती थी।

सोचती—मुझे कोई क्यों स्वीकार करे ? मुकुरस्वच्छ त्वचा मण्डिता युवतियोंसे समन भरा है—मुझे कोई क्यों वरे ? अव परितोपका वह आधार भी जाता रहा ।"

प्रौढ़ोंको छोड़ वृद्धोंपर भी घोपाके नेत्र टिके, किन्तु उनमें भी उसके प्रति सहृदयता न जगी ।

दूर कक्षीवान् अपनी पत्नी—राजा स्वनयभाव्यकी कन्या—सुन्दरी रोमशाको लिये घोपाको ढूँढ़ रहे थे । रोमशाने घोपाको देखकर कहा—"स्वामिन्, श्वेतकेशा ब्रह्मवादिनी घोपा वह खड़ी है । आज उसे गृह ले चलना होगा ।"

जब कक्षीवान् रोमशाका कर पकड़े घोपाके पास पहुँचे, वह निराश हो घरकी ओर चल पड़ी थी ।

रोमशाने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया, पूछा—"कहाँ चलीं, बहन ?"

कक्षीवान्का अभिवादन करते हुए घोपाने उत्तर दिया, "महर्पिकी प्रियपात्रे, जाती हूँ, अब लौटी जाती हूँ । पिताके द्वार जाऊँगी । मेरा प्रणयपात्र अब यम होगा—पर हाँ, अब यह भावना भी सन्देहजनक हो उठी है, सम्भव है वह भी मुझे स्वीकार न करे ।"

घोपाके श्वेत अधिवासका अंचल आँसुओंसे भींग चला । क्षुब्ध नारीने गृहकी ओर एक डग भरा ।

समवेदनासे रोमशाके नेत्रोंसे भी अश्रुधारा बह चली । जगद्बन्धु महर्षि कक्षीवान् आर्द्र हो उठे । हाथ जोड़ वे घोपासे बोले, "देवि, धृष्टता क्षमा करना । क्या तुम मुझे इस योग्य समझोगी कि मैं तुम्हारा वरण कर सकूँ ?"

घोपाको उनके शब्दोंपर विश्वास न हुआ । फिर भी वह जानती थी कि कोमल हृदय, शीलभद्र महर्पि उससे हँसी नहीं करेंगे । उसने आशा और सन्देहसे भरे नेत्र रोमशापर डाल दिये । निश्छल राजन्या

पूर्ववत् सरल बनी रही।

कक्षीवान्ने फिर कहा, "राजकन्ये, रोमशाकी अस्वीकृतिका भय नहीं। यह प्रस्ताव प्रथमतः उसीका है।"

रोमशा ने नतमस्तक हो घोपाका हाथ पकड़ लिया।

घोपा गद्गद हो रो पड़ी।

बाष्पपूरित नेत्रोंको पोंछते हुए ऋषिने घोपाके मस्तकपर जब प्रेमपूर्वक हाथ फेरा, राजन्याने उनके चरण पकड़ लिये। बोली, "महर्षि, ब्रह्मचारिणी घोपाने इस वृद्धावस्था तक न जाना कि शयनकक्षमें पुरुष किस प्रकार आचरण करता है। आज वह तुम्हारी दयासे अत्यन्त अनुगृहीता, अतीव उपकृता हुई। वह रथादिकोंसे भरे, धन-धान्यसे पूर्ण गृहोंके स्वामी राजपुत्रोंकी सदा कामना करती रही परन्तु साध न पूजी। अब आपकी छायामें वह शान्ति-लाभ करे, उसकी यही अभिलाषा है।"

"देवि, मेरे गृह चलो। सास-ससुर देवर-ननदों की सम्राज्ञी बनो। दासों, द्विपदों, चतुष्पदोंपर शासन करो।'

अनेकोंने कक्षीवान्की अभिलाषा सुनी, उसे साधु वाचा कहा।

७ मार्च १९४०
शिवरात्रि, ८—१०



संघर्ष





संघर्ष

[संघर्ष जैसे सर्वत्र ही, भारतीय संस्कृतिकी शिलाभित्ति है। इसीसे इतिहासमें प्रगति हुई। सत्यकी खोजमें संघर्ष इतने नहीं हुए जितने रोटीकी खोजमें हुए। सत्यकी सारता और असारता किसकी जानी है? पर प्रयास-प्रयत्न सबने किये हैं—ईश्वरवादी ऋषिने भी, प्रकृतिवादी लोकायतने भी। यह विचारोंका द्वन्द्व, संघर्ष, अतीतमें चला है, वर्तमानमें चल रहा है, और भविष्यमें चलेगा। वाम-मार्गका इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना दक्षिण अथवा श्रुति-मार्गका। दक्षिण अथवा श्रुति-मार्गने अपनी संज्ञा वाम-मार्गकी अनबनसे प्राप्त की। इस कहानीमें इसी विचार-संघर्षकी कथा है। इसका समय उपनिषत्-कालके आरम्भसे प्राग्बौद्ध-काल तक है।]

याग-होमके उपरान्त ऋषिने वेदपाठ न किया। कुलपतिके समक्ष कितने ही ब्रह्मचारी ब्रह्माचरणके निमित्त समित्पाणि होकर आये और विदग्ध हुए, कितने ही उपनीत शिष्योंने विद्यावधिके पश्चात् आज समावर्तन प्राप्त किया—संसारमें लौटे। कुछको जगत्के कल्याणार्थ ऋषिने पर्यटन और उपदेशके निमित्त दीक्षित कर भेजा, कुछको तीनों आश्रमोंके हित-साधक गार्हस्थ्यका उपदेश किया। ब्रह्मचारी 'सत्यं वद, धर्मं चर' की दीक्षा ले संसार-क्षेत्रमें उतरे। नये आये, पुराने गये। गुरुकुलकी परम्परामें भेद न पड़ा।

अपराह्णमें गुरुकुलका उपाध्याय लौटा—उद्भ्रान्त, उद्विग्न। ऋषिने पूछा, "उद्वेग कैसा, उपाध्याय?"

उपाध्याय कान्तिहीन हो गया था, उसकी मुखश्री अप्रतिभ हो गयी थी। बोला, "उद्वेग कैसा? मार्तण्ड चमका, उसने मुझे झुलस दिया।"

"मार्तण्ड-लोकायत?" ऋषिने पूछा। उसकी भौंहोंमें बल पड़ गये।

"हाँ, मार्तण्ड-लोकायत, जिसकी शब्द-शक्ति जागृतिमें अन्तरको आन्दोलित करती है, श्रद्धा-विश्वासके आधारको हिला देती है, सुषुप्तिमें प्रेतकी छायाकी भाँति अनुसरण करती है।" उपाध्यायने उत्तर दिया।

उसका मस्तक अब भी झुका था। लोकायतने नगरके प्रांगणमें जन-समूहके समक्ष उपाध्यायके तर्क और ज्ञानको झकझोर दिया था। देवताकी कितनी ही मनौतियाँ भी उसकी रक्षा न कर सकी थीं। और वह लौटा था ऋषिके समीप—क्रुद्ध, सन्तप्त।

"भ्रान्ति निर्मूल है, उपाध्याय, चित्त स्थिर करो।" ऋषि बोला, संयत ऋषि, उठती शंकाओंका सबल निरोध करता।

"भ्रान्ति निर्मूल नहीं है, महर्षि। आप द्रष्टा हैं—'साक्षात्कृतधर्माण:' ऋषियोंमें आपकी गणना है। ब्रह्म और सत्य आपको स्पष्ट उपलब्ध हैं, परन्तु मैं हूँ मानव, उपाध्याय—पार्थिव पितृ-कामनासे समुद्भूत शंकाजर्जर क्षुद्र प्राणी। शंकाएँ ब्रह्मचारियोंके निश्छल प्रश्नोंसे प्रादुर्भूत होती हैं और मार्तण्ड-लोकायतकी प्रखर प्रमाण-किरणोंसे उद्भासित हो मूर्तिमती हो उठती हैं। भला चित्त स्थिर कैसे करूँ?"

"बस वही, वही—ब्रह्मचारियोंके प्रश्नोंसे प्रसूत शंकाएँ दुर्बल हृदयकी उर्वरा भूमिमें पनपती हैं,। हृदयमें शक्ति लाओ।" ऋषिने जैसे उसे पकड़ा।

"और जब शंकाएँ ब्रह्मचारियोंकी अनुपस्थितिमें अकारण उमड़-घुमड़ उठती हैं—तब?" सत्यार्थी उपाध्याय गहरे जलमें स्थलको छूता, थाह लेता हुआ-सा बोला।

प्रश्न ऋषिका अनजाना न था। वह उसका नित्यका अतिथि था। नित्य वह जिस प्रकार अपनी शंकाका समाधान करता था, उपाध्यायके

प्रति भी बोला—"तुम ज्ञानकी परिधिसे बाहर हो, उपाध्याय। अज्ञानके राज्यमें मोहान्धकारका विस्तार होता है और उसकी श्यामरजनीमें शंकाओंका प्रजनन। दुर्बल मानव जब नत-मस्तक हो शंकाओंके प्रबल प्रभंजनसे आक्रान्त व्यथित हो उठता है तब ये शंकाएँ ही उसके विनाशके बीज बोती हैं और उस अभागे संशयात्माका निधन हो जाता है। उपाध्याय, सावधान हो, कालरात्रिका उदर बड़ा है, उसमें कवलित न हो!"

"महर्षि, काव्यका जाल प्राचीन है, अति प्राचीन। इसका वितन्वन प्राथमिक दर्शकों-द्वारा ही प्रारम्भ हुआ था।" उपाध्यायने दबे स्वरमें कहा।

उनके शब्द उनके हृदयमें ही क्रान्तिका वातावरण उपस्थित कर रहे थे। फिर भी रह-रहकर उसे बोध हो रहा था कि मैं मर्यादाके प्रति कुछ उच्छृंखल हो रहा हूँ।

धीरे-धीरे उपाध्यायके चतुर्दिक् ब्रह्मचारियोंकी संख्या बढ़ती जा रही थी। मार्त्तण्ड-लोकायतके समक्ष नगरमें उन्होंने अपने उपाध्यायकी पराजय स्वयं देखी थी। अब वे उत्कण्ठित हो कुलपतिकी ओर देखने लगे।

कुलपति बोला, "उपाध्याय, चित्तको स्थिर कर वेद-ब्रह्मकी उपासनामें लगाओ। ईश्वर अपने उपासकोंकी रक्षा करेगा। समाधिमें बाह्य चेतनाको अन्तर्मुखी कर स्थितप्रज्ञ हो। कल्याण होगा।" ऋषिके शब्द शक्तिरहित थे, उसका हृदय आकुल था, असंयत।

वह पर्णकुटीमें लौट गया।

उपाध्याय भी गुनता हुआ लौटा—सारा शब्दाडम्बर है, वाग्जाल, अनृत!

आज मार्तण्ड और ऋषिका वाद-विवाद है। उनके विचारोंकी सत्यताका निर्णय तर्कसे जनताके सामने होगा। ऋषिके ब्रह्मचारियोंने कुलपतिकी ओरसे उनके अनजाने लोकायतको चुनौती दे दी थी। कुलपति, गुरु और उपाध्यायको देवतुल्य माननेवाले शिष्योंको यह कैसे सह्य हो सकता था कि लोकायत खुले नगर-प्रांगणमें उनके आचार्यको अप्रतिभ कर दे।

कई दिनोंसे इस दिनकी प्रतीक्षा हो रही थी। सारा नगर, समस्त प्रदेश इस शास्त्रार्थके निमित्त उत्सुक था। कई दिनों पूर्व ही नगरमें बाहरके जनपदोंसे आ-आकर लोग भर रहे थे। सभी शिष्य और आचार्य, ऋत्विज और श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी। आर्योंकी सारी विचारधाराएँ मत-मतान्तर आज नगरमें आ पहुँचे थे, भर गये थे। पुरुष-नारी, युवा-वृद्ध कुतूहलपूर्वक आजकी चर्चाके लिए लौ लगाये हुए थे। गुरुकुलोंमें कितनी बार सम्भावित शास्त्रार्थके विषयपर उमंग-भरी विवेचना हो चुकी थी। कितने ही शिष्य, कितने ही आचार्य, ऋषि और मार्तण्डके वाद-विवादका क्रम निश्चय कर उसपर अपने निर्णय दे चुके थे।

नगरके समीपस्थ तपोवनमें भी कुछ कम संघर्ष न था। आचार्य तो किसी प्रकार संयत हो अपने भीतर उठनेवाले भावोंका संयमन करते, परन्तु ब्रह्मचारियोंकी वाग्धारा, सरितामें स्नान करते समय, खेल और विश्रामके समय, अध्ययन-अधिशीलनके समय लताओंके कुंजोंमें, गुल्मोंके झुरमुटोंमें सर्वत्र बहा करती।

उपाध्यायके आचरणमें यकायक गम्भीरता आ गयी थी। उसकी चुप्पीमें प्रभंजनका वेग निहित था। सत्यकी उपलब्धिकी सम्भावनासे उसके भीतर एक प्रकारकी गुदगुदी-सी उठती और वह रह-रहकर मुसकरा उठता। परन्तु उसकी मुसकराहटमें कभी-कभी दबी वेदनाका अनुभव होता और सहसा उसकी मुसकान उस दबी वेदनाकी कसकमें घुट जाती। सत्यकी उपलब्धिके साथ ही जो एक छिपे भयका जब-तब आभास होता वह सर्वथा कल्पना ही नहीं था। वह सोचता—यदि मार्तण्डका तर्क सत्य है तो इस आर्य परम्पराका क्या होगा? ऋग्वेदके मन्त्रद्रष्टा, ब्राह्मण-आरण्यकोंके उपदेष्टा, उपनिषदोंके ब्रह्मज्ञानी क्या अनृतके उपासक थे? फिर वह कहता—"सत्यकी प्रतिष्ठा होनी उचित है, वह ऋषियोंके पक्षमें हो अथवा विपक्षमें। परन्तु वैदिक साहित्यका प्रसार कल्पना-मात्र, अतीतके

महापुरुषोंकी विदग्धता कालका प्रहसनमात्र है, यह विचारते उसे कष्ट हुआ। वह जानता था ऋषिके पास उसकी शंकाका समाधान नहीं है, यदि मार्तण्डके पास हुआ तो ऋषिकी अवमानना होगी और ऋषिके साथ ही सारे आर्य साहित्यकी भी।"

"पर हो, उससे मुझे क्या ? मेरे अच्छा-बुरा लगनेसे तो वस्तुओंकी नित्यता और सत्यकी सारता या निस्सारतामें किसी प्रकारका अन्तर पड़ नहीं सकता। फिर जिस सत्यकी घोषणा करते हुए-से ब्रह्मज्ञानके साहित्यरूप ये स्तम्भ यदि अस्थिर आधारपर खड़े सिद्ध हुए तो असत्यको अपनानेके लिए ही मेरी अभिलाषा क्यों हो ?" उपाध्यायने धीरे-धीरे अपने-आपसे कहा। उसकी चेष्टा विविध प्रकारकी भावनाओंसे, उनके घात-प्रतिघातसे इस प्रकार विकृत होती रहती।

उपाध्याय धीरे-धीरे उत्सुक, अन्यमनस्क, आकुल हो सभा-भूमिकी ओर चल पड़ा, अकेला, मुग्ध। उसके अन्तेवासी और आश्रमके दूसरे ब्रह्मचारी बहुत पूर्व ही चल पड़े थे।

नगरके अन्य नागरिक भी वेगसे सभास्थलकी ओर बढ़े जा रहे थे। कुछके लिए तो यह आयोजन कुतूहल-मात्र था, कुछमें सत्यकी खोजकी लगन थी, कुछ प्राचीन परम्पराकी रक्षाके अर्थ मरे जाते थे। अधिकांश इस आशासे दौड़े जा रहे थे कि आज लोकायतकी दृप्त 'प्रतिज्ञा' निस्सार सिद्ध होगी और वैदिक सूर्यकी प्रखर किरणोंसे अज्ञानान्धकार छँट जायेगा। वेदोंकी गरिमा लोग नये सिरेसे समझेंगे और वाममार्ग विध्वस्त होगा।

नगरमें होम-याग आज कुछ शिथिल पड़ गये। कुछने उन्हें छोड़ते हुए कहा, "आज जब इनकी सत्ताका पुनरुत्थापन होगा, कल इनको और अधिक लौसे अपनायेंगे।"

तपोवनमें उपाध्यायने होम अनिश्चित मनसे किया था। आचार्योंके

माथ ऋषि जब भीतर अशान्तिकी आँधी दबाये होमकुण्डके समीप बैठा, उसके मुखपर उद्वेगके चिह्न स्पष्ट झलक रहे थे। भीतर उठती भावनाओं-की दौड़ मानो बाहरकी आकार-चेष्टाओंपर अपनी छाया डाल रही थी। मनको माथ ऋषिने इन्द्रसे शक्ति और अग्निसे ज्ञान-प्रतिभाकी भिक्षा माँगी उधर मार्तण्ड इन्द्रावरुण, त्रिधा अग्नि आदिपर ही आघात करनेपर उतारू था। इनर आचार्य ऋषिके स्वरमें स्वर मिला रहे थे—ॐ अयन्त इध्म आत्मा जातवेदसे तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय। चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा—परन्तु उनका ध्यान जातवेदस्‌से हटकर मार्तण्डकी ओर लगा था, तपोवनसे दूर नगर-प्रांगणमें।

नगरके ब्राह्मण गृहस्थोंकी वासभूमिमें सबसे अधिक व्यग्रता थी। ब्रह्म और वेदोंका निरादर करना उनकी संस्कृतिपर आघात करना था। ब्राह्मण, सत्य ही बड़े व्यग्र हो उठे थे। बड़ी-बड़ी संख्याओंमें उनके दलके दल सभा-स्थलकी ओर चले जा रहे थे। केवल हँसोड़ क्षुरप्र अपनी धुनमें मग्न था।

क्षुरप्रका प्रकृत नाम तो अगस्त्य था परन्तु उसके व्यंग्य-बाणोंकी विशेषतासे उसका नाम क्षुरप्र पड़ गया था। कृत्रिमताका तो वह शत्रु था, समाजके अदूरदर्शी नेताओंका वैरी। उदारता उसमें ऐसी थी कि विपरीतसे विपरीत बातमें भी यदि सार्थकता होती तो वह उसे झट अपना लेता। कुरीतियोंका वह बड़े पौरुषसे विरोध करता। उसमें क्षमता थी और इसी बलपर वह समाजके शक्तिशाली नेताओं तकको अनौचित्य-पर ललकारता, चुनौती देता। परन्तु उसके विरोधमें हास्य था, आघातमें प्रहसन। वह अद्वितीय कुशाग्रबुद्धि था। उसकी चोटमें व्यंग्यकी प्रचुरता रहती परन्तु उसके होठोंपर मुसकान खेला करती, जिससे उसका मुख सदा प्रफुल्ल बना रहता।

क्षुरप्रने समवयस्क यज्ञसेनको गोवत्ससे बलपूर्वक पृथक् करते हुए कहा, "यज्ञसेन, कुछ उसका भी भाग होता है, रहने दे।"

यज्ञसेन झल्ला उठा। गोवत्स छूटकर माँके थनसे फिर जा लगा था। यज्ञसेन क्षुरप्रको झटकारकर गोवत्सके पीछे दौड़ा। गोवत्स भागा। जब-तक उसके पीछे भागता यज्ञसेन माधवी-निकुंजकी आड़में हुआ, क्षुरप्रने दूसरी गायका वत्स निरर्गल कर दिया। वह भी माँके स्तनोंसे आ लगा।

क्षुरप्र चिल्ला उठा—"यज्ञसेन, यज्ञसेन, विडालने दूधमें मुँह लगा दिया। दौड़ो, दौड़ो।"

'विडाल' दूसरी गायका बछड़ा था जिसे क्षुरप्रने छोड़ दिया था। यज्ञसेनने प्यारसे बछड़ेका नाम 'विडाल' रखा था। यज्ञसेनने समझा कि बिल्लेने दूधके मटकेमें मुँह डाल दिया। हाथमें आया बछड़ा छूट गया और वह उतावलीमें पीछे दौड़ा। परन्तु मटकेके समीप मार्जारको न देख उसे हाथ आये वत्सके छूटनेका स्मरण आया और उसने सकोप क्षुरप्रकी ओर देखा।

क्षुरप्रने गायकी ओर संकेत कर कहा, "बुद्धिभ्रष्ट ब्राह्मण, अरे उधर देख उधर—कृष्णा गौकी ओर। तेरा प्रिय 'विडाल' तुझसे भाईका प्रतिशोध ले रहा है।

यज्ञसेनने अकचकाकर कृष्णाकी ओर देखा और पलक मारते वह उसकी ओर दौड़ा। कृष्णा हालकी ब्यायी थी। यज्ञसेनको अपनी ओर बढ़ते देख वह उसपर झपटी। यज्ञसेन पीछेकी ओर भागा पर उसका पाँव गोबरपर पड़ा और वह तुरन्त पृथ्वी चूमने लगा।

"हाय ! हाय !"—करता क्षुरप्र हँसी रोके यज्ञसेनकी सहायताको बढ़ा।

क्रोधसे तमतमाया यज्ञसेन चिल्ला उठा—"रहने दे, रहने दे, दुष्ट क्षुरप्र। तू वंचक है, क्रूरकर्मा।"

यज्ञसेन गोबरसे सन गया था। क्रोधके मारे वह और फैलकर गोबर-पर लेट गया।

"अरे मेरे प्रिय यज्ञसेन, उठ-उठ। तुझे विडालकी सौगन्ध, कृष्णाकी

सौगन्ध।" क्षुरप्रने यज्ञसेनकी भुजा पकड़ ली।

यज्ञसेनने भुजा छुड़ाते हुए कहा, "चल, हट, तू नारकी। बिडाल और कृष्णा क्या मेरे सगे-सम्बन्धी हैं?"

इसी समय सभास्थलकी ओर जाते हुए कितने ही ब्राह्मण उच्चस्वरसे आलाप करते कुछ दूरसे निकले। क्षुरप्रने उन्हें पुकारा। उनका स्वर सुनते ही यज्ञसेन विद्युत्की भाँति उठकर फिर नीचे झुका जैसे गोबर उठा रहा हो। क्षुरप्रके पेटमें हँसते-हँसते बल पड़ गये थे। उत्तरीयका कोना मुँहमें ठूँसे वह हँसी रोकनेका प्रयत्न कर रहा था। एक हाथ आगेकी ओर सतर्क था—कहीं यज्ञसेन गोबरसे आक्रमण न कर बैठे। लोगोंका स्वर सुन यज्ञसेन एकाएक उठा और पल-मात्रमें घरके भीतर जा पहुँचा।

भीतरसे ही चिल्लाकर वह बोला, "अरे दानव क्षुरप्र, तनिक वत्सको झपटकर पकड़ ले नहीं सन्ध्याको निराहार ही रह जाना पड़ेगा। खीर तो गयी ही, सायन्तनका होम भी जाता रहेगा। क्षुरप्र तुझे वेदकी सौगन्ध, ब्रह्मकी सौगन्ध!

"मार्तण्डके प्रकाशसे लौटनेपर तुझे होम-यागकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, यज्ञसेन, और न मुझे वेद, ब्रह्मकी सौगन्धका भय ही रह जायेगा।" —नेत्रोंमें जल भरे क्षुरप्रने हँसी रोकते हुए कहा।

"अरे नरपिशाच, जा तू फिर अपने सगोत्र मार्तण्डके समीप। मैं वाममार्गियोंकी छाया भी नहीं छूता। अरे अग्निदास! अरे घोटक!"—यज्ञसेनने क्षुरप्रको धमकाते हुए दासोंको पुकारा।

धमकी ठीक बैठी। यज्ञसेन और दूसरे अनेक सहचर क्षुरप्रके आनन्दके साधन थे। उन्हींपर वह अपनी वाक्पटुताकी धार पैनी किया करता था। उसके बिना मार्ग कैसे कटता? क्षुरप्र सहम गया। हँसीका स्रोत धीमा पड़ चला।

इधर दासोंने गोवत्सोंको बाँध लिया था। लोग भी यज्ञसेनके द्वार-

की ओर मुड़ चुके थे।

वह धीरेसे बोला, "भाई यज्ञसेन, झट वस्त्र बदल ले, लोग आ पहुँचे। वत्सोंको दासोंने बाँध लिया।

"क्या सच ? पर तू मिथ्यावादी है, वंचक, वेद-निन्दक, लोकायतों-का नेता····" यज्ञसेनने आगन्तुकोंकी पदध्वनि सुन अपना स्वर धीमा कर लिया।

क्षुरप्रने आगन्तुकोंसे साग्रह कहा, "आप लोग तनिक ठहरें। यज्ञसेन धेनुसेवा कर रहा था।"

वस्त्रके अर्थ यज्ञसेन कक्षमें इधरसे उधर, पर्यंकके ऊपर-नीचे चढ़-उतर रहा था। क्षुरप्रकी बात सुनकर उसने अधर काटा—"कहीं वह गिरने-वाली बात न कह दे"—उसने शंका की।

क्षुरप्रने कहा, "ब्राह्मण गो········"

यज्ञसेनने विचारा—अरे कहीं गोबरकी बात न कह दे। वह दम-साधे भीतर किवाड़से लगा खड़ा था। क्षुरप्रके मुखसे 'गो····' निकलते-न-निकलते उसने खाँसकर संकेत किया—मैं सुन रहा हूँ।

क्षुरप्र हँस पड़ा।

"ब्राह्मण गोसेवक है।" उसने बात पूरी की।

यज्ञसेनकी जानमें जान आयी। वस्त्रोंके लिए फिर दौड़-धूप मच गयी—कक्षमें चतुर्दिक्, पर्यंकके ऊपर-नीचे।

आगन्तुकोंने जो क्षुरप्रकी मुद्रा देखी तो वे भी हँस पड़े। यज्ञसेन फिर किवाड़से कान लगाकर खड़ा हो गया। लोगोंने विचारा क्षुरप्रके हँसनेका कुछ अर्थ है।, पूछा "क्षुरप्र, क्या है ?"

यज्ञसेनने हृदयपर हाथ रखकर फिर खाँसा। क्षुरप्र फिर हँस पड़ा। यज्ञसेनने मुट्ठियाँ कस लीं, दाढ़ोंको पीस लिया, नेत्र मींच लिये।

क्षुरप्रने कहा, "यज्ञसेन वस्त्र बदल रहा है।"

"भूमिका बाँधी इसने"—यज्ञसेनने कण्ठके भीतर-ही-भीतर कहा।

फिर भुजाएं झकझोर दीं। दाहिनी भुजा लटकती वीणाके तारोंमें लगी। स्वर हुआ झन-न्-न्....।

"शीघ्रता करो यज्ञसेन, पूर्वाह्न हो चला, लोग प्रतीक्षामें खड़े हैं। यह क्या मूर्छना कर रहे हो? वस्त्र पहनो!"—क्षुरप्रने स्मरण दिलाया।

"यज्ञसेन! यज्ञसेन" बाहरसे कई जनोंने पुकारा।

कक्षके भीतर फिर दौड़-धूप मची। शीघ्रतामें यज्ञसेनने जो पर्यंककी पट्टीपर दक्षिण पाद रखा, दूसरी पट्टी उठ गयी। यज्ञसेन धड़ामसे नीचे आ रहा। नीचेसे उसने अधोवस्त्र गृहके आँगनमें सूखता देखा। दौड़कर उसने उसे खींच लिया। उत्तरीय भी अधोवस्त्रमें लिपटकर हाथमें आ गया। अब उत्तरीयके अर्थ हाय-हाय मची। इधर देखा, उधर देखा, खूँटीपर, गवाक्षमें। दीवारपर लटकती पोटली हड़बड़ीमें फाड़ डाली।

इतनेमें बाहरसे कई कण्ठोंसे 'यज्ञसेन! यज्ञसेन!' की पुनः चिल्लाहट हुई। पोटलीको फेंक जब यज्ञसेनने अधोवस्त्र उठाया तब उत्तरीयका छोर दिखाई पड़ा। उसने अपना सिर पीट लिया। फिर 'आया, आया' कहता, वस्त्र धारण कर वह वेगसे बाहर आया। दाँत खुले थे, नेत्र भरे कपोलोंमें अर्धमिचे।

हँसते हुए तत्परतासे लोग सभास्थलकी ओर बढ़े।

मार्गमें अग्निमित्र हवन-कुण्डमें सर्वाहुति डाल रहा था। वह भी क्षुरप्रका बालमित्र, सहपाठी था।

क्षुरप्रने कहा, "अग्निमित्र, रख दे स्रुवा। सभास्थलसे लौटनेपर फिर इसकी आवश्यकता न होगी। इसे भी अग्निदेवकी भेंट कर दे।"

सब हँस पड़े। अग्निमित्रने कानोंपर हाथ रख लिये।

सुविस्तृत पट-मण्डपके नीचे जन-समुदाय बैठा था। वितानके चारों ओर आम्रपल्लवों और कमलोंकी झालर लटक रही थी। महर्षि और वामाचार्यके विमान कुछ ऊँचे बने थे। उनके पृष्ठ कदली-स्तम्भों और विविध कुसुमोंसे सुसज्जित थे। महर्षिकी श्वेत जटाएँ मस्तकपर बँधी थीं।

सुदीर्घ, शुभ्र वर्णपर शुक्ल वसन छज रहा था। भुजाओं, वक्ष और ललाटपर चन्दन चमक रहा था। ज्ञानविदग्ध गम्भीर मुखमण्डल शान्तिपूर्वक कभी इधर कभी उधर रह-रहकर फिर जाता। अनेक मस्तक दृष्टि मिलते ही श्रद्धासे झुककर अभिवादन करते और ऋषिका आशीर्वाद-सूचक कर धीरे-धीरे उठता-गिरता। विमानपर पीछे आर्यधर्मके अनेक आचार्य और गुरुकुलके उपाध्याय बैठे थे। उनके पीछे शिष्यवर्ग था। विमानोंके मध्य तथा चतुर्दिक् गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी आसीन थे।

महर्षिके सम्मुख कुछ ही दूरीपर लोकायतका विमान था जिसपर प्रसन्नवदन वामाचार्य विराजमान था। सुन्दर प्रौढ़ लोकायतका सौन्दर्य दर्शनीय था। सुपुष्ट तन जहाँ-तहाँ चन्दनचर्चित था। नीचेकी धोती अंगुष्ठ तक पदोंको ढँके हुए थी। ऊपर स्कन्धदेशसे होता उत्तरीय दोनों ओर नीचे भूमि तक लटक रहा था। एक ही स्थूल पुष्पहार यज्ञोपवीत-वर्जित वक्षको ढँक रहा था। उसके कर सामने पड़े पुष्पस्तवकोंसे खेल रहे थे। स्मित मुद्रा दर्शकोंके हृदयमें आशाका संचार करती थी। उसका आनन्दसूचक मुख आकर्षणका केन्द्र था। निस्संकोच दृष्टि आत्मविश्वासकी परिचायिका थी। कभी किंचित् संकुचित कभी विस्फारित दृष्टिसे वह जनताकी ओर देखता फिर थोड़ा मुसकरा उठता। उसके अभिराम नेत्र मेधाकी प्रखरतासे चमक रहे थे। उसकी दयामें तिरस्कारका आभास होता। सुन्दर सुडौल मस्तकपर घने श्याम केश सामनेसे पीछेकी ओर फिरे हुए थे जिससे ललाटकी चौड़ाई और बढ़ी हुई-सी दिखाई पड़ती थी। केशोंकी कुंचित अवली कानोंसे होती हुई पीछे ग्रीवापर फैली वायुसे खेल रही थी। रह-रहकर लोकायत दोनों कर केशोंपर सामनेसे पीछे तक फेर देता और तब कन्दुक-से लटकते स्वर्ण-कुण्डल उनके भीतरसे निकल कपोलोंपर चमक उठते। जनसमुदायकी दृष्टि वामाचार्यपर टिकी थी, परन्तु उसमें अधिकतर उसके विरुद्ध कामना थी। लोकायत निश्चिन्त था।

मध्यस्थ-विमानपर अनेक निर्णायक बैठे थे। उनका प्रधान वयोवृद्ध

यास्क था।

मध्यस्थ-विमानके समीप बैठे क्षुरप्रने यज्ञसेनको खोदकर कहा, "यज्ञ-सेन, आज बड़ा संकट है।"

फिर अग्निमित्रकी ओर संकेत कर उसने पूछा, "क्या अग्निमित्रका गायत्री-मन्त्र आज कुलपतिका कवच बनेगा?"

यज्ञसेनने अग्निमित्रकी ओर देखा फिर क्षुरप्रकी ओर देखकर मुसकरा दिया। अग्निमित्रके होंठ हिल रहे थे। उसने क्षुरप्रकी ओर अपनी कठोर दृष्टि फेरी।

फिर पूछा, "क्या?"

क्षुरप्रने उत्तरमें कुछ गम्भीर हो पूछा, "क्या सपादलक्ष हो गये?"

"क्या सपादलक्ष?"—अग्निमित्रने फिर पूछा, चोर जैसे सेंधपर पकड़ गया हो।

"अरे वही जो बुद्बुद् कर रहे हो।"—क्षुरप्र दूसरी ओर मुँह फेर कुछ अन्यमनस्क-सा बोला। समीप बैठे लोगोंमें-से कुछ मुसकरा पड़े।

मुख कुछ विकृत कर अग्निमित्रने कहा, "चुप।"—फिर बुद्बुद् करने लगा।

यज्ञसेन और क्षुरप्र हँस पड़े।

मध्यस्थने संकेत किया। लोकायतने ऋषिके विमानपर पुष्प फेंके, ऋषिने लोकायतपर।

ऋषिने स्वरसे पढ़ा—असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

मध्यस्थ-विमानके समीपसे उच्चस्वर हुआ—
असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

अग्निमित्रने ऋषिके वाक्य दोहरा दिये। सबने उसकी ओर दृष्टि फेरी। कुछ उठते हुए-से उसने तीव्रतर स्वरमें पुनः पढ़ा—शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिः स्रवन्तु नः।

यास्कने कुछ झिझककर नीचे पार्श्वकी ओर देखा। लोकायतने पहले अग्निमित्रकी ओर देखा फिर ऋषिकी ओर। उसका मुख-कमल कियत् हास्यसे खिल उठा। क्षुरप्रने अग्निमित्रको बलपूर्वक पकड़कर बैठा लिया।

मध्यस्थने गम्भीर हो कहा, "कार्य प्रारम्भ हो"। फिर ऋषिकी ओर देखकर वामाचार्यसे कहा, "वयकी न्यूनतासे वादका आरम्भ आप करेंगे। वैदिक सिद्धान्तोंकी प्राचीनताके कारण उत्तरका अधिकार ऋषिको होगा और 'प्रतिज्ञा'का आपको। आप प्रतिज्ञा करें।"

कुछ हँसता-सा लोकायत बोला, "महर्षि, वैदिक-सिद्धान्तोंकी प्राचीनता हेत्वाभास है, असिद्ध। फिर भी आपके उस कथनपर मेरा कुछ वक्तव्य नहीं। परन्तु 'प्रतिज्ञा' तो हो चुकी। ऋषिने उसमें मध्यस्थकी अनुमतिकी आवश्यकता नहीं समझी।"

लोग विस्मित हो उठे। उपाध्यायने कुलपतिकी ओर देखा और अग्निमित्रका मुख अवाक् हो कुछ खुल गया। निरुक्तकारने कुछ सतर्क हो पूछा, "सो कैसे?"

मार्त्तण्ड अप्रयास बोला, "मन्त्रोच्चारणके समय ही 'गमय' पदमें ऋषिने 'प्रतिज्ञा'को प्रतिष्ठा कर दी। अब केवल प्रश्न—पूर्व पक्ष—मेरा है।"

जनताकी उत्सुकता बढ़ी। नेत्र मध्यस्थपर जा टिके। ऋषिका हृदय धक्-धक् करने लगा। उपाध्यायने लोकायतके अद्भुत तर्ककी प्रखरता समझी, क्षुरप्रका हृदय भी उसे सराह उठा। यज्ञसेन, अग्निमित्र और अधिकांश जनताने मार्त्तण्डका अभिप्राय नहीं समझा।

मध्यस्थने स्वीकार किया—"'प्रतिज्ञा' हो चुकी। प्रार्थना सस्वर होनेके

कारण ऋषिकी केवल अपनी नहीं रही। उसपर सभाका अधिकार हो गया और वह प्रतिपक्षका लक्ष्य बनी। 'गमय' में जड़ प्रकृतिसे भिन्न चेतन, कार्यक्षम, शक्तिका निर्देश है—अतः 'प्रतिज्ञा' हो चुकी, परन्तु अनजानी। अब प्रतिपक्षके इच्छानुसार कार्य होगा—यदि उसे स्वीकार हो तो वह स्वयं अपनी 'प्रतिज्ञा' करे अथवा यदि उसे आपत्ति न हो तो ऋषि अपनी 'प्रतिज्ञा' का विस्तार करे।

यज्ञसेन जन-समुदायका मत ध्वनित करता-सा क्षुरप्रसे बोला, "साधु! साधु! 'प्रतिज्ञा' का लाभ ऋषिको मिला।"

क्षुरप्रने कुढ़कर कहा, "मूर्ख, प्रश्नका अधिकार अनर्थ करता है, प्रतिपक्षका अस्त्र हो जाता है।"

ऋषिने स्पष्ट 'प्रतिज्ञा' की—"ईश्वर विश्वका कर्त्ता, पोषक और अन्तक है, 'गमय' में उसकी अनन्त शक्तिकी परिचर्या है।"

प्रतिपक्षने आपत्ति की—"प्रमाण ?—प्रत्यक्ष ?"

"प्रमाण है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं।"

"कभी था ?"

"कभी नहीं—'कः वा ददर्श' ?"

"वेद ऋषिकृत हैं अथवा अपौरुषेय, ईश्वरकृत ?....."

मध्यस्थ बोला, "प्रतिज्ञा अभी प्रतिष्ठित नहीं हुई—ईश्वरत्व अभी विवादग्रस्त है, पूर्वपक्षको आपत्ति है।"

मार्त्तण्ड बोला, "'ईश्वरकृत' शब्द सापत्ति स्वीकार करता हूँ। उत्तर-पक्ष वक्तव्य करे।"

ऋषि बोला, "वेद अनादि हैं, अपौरुषेय, ईश्वरकृत। द्रष्टा केवल 'साक्षात्कृतधर्माणः' ऋषि हैं। वे केवल उस ज्ञान-शृंखलाका दर्शन करते हैं।"

"जब वेद अनादि हैं तब उनका कारण कैसा ?"

ऋषि कुछ स्तम्भित हो गया, अग्निमित्र व्यथित। उपाध्याय झिझका,

क्षुरप्र कुछ व्यग्र हो उठा।

लोकायतने सँभाला—"प्रश्न मापत्ति छोड़ दिया। अब ईश्वरमें प्रत्यक्ष प्रमाण ?"

"ईश्वरमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वथा सत्य भी नहीं—पुत्र पिताको देखता है, कदाचित् पितामहको भी, परन्तु प्रपौत्र प्रपितामहको प्रायः नहीं देखता और प्रपितामहसे पूर्व तो निस्सन्देह नहीं। फिर क्या प्रपितामह आदिकी स्थिति सन्दिग्ध है ?"

"परन्तु पुत्र पिताको देखता है, पिता अपने पिताको और उसका पिता अपने पिताको। इस प्रकार यह शृंखला टूटती नहीं यह सापेक्ष प्रत्यक्ष है।"

मध्यस्थने पुकारा—"विषयान्तर ! ऋषि ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण दे।"

ऋषि बोला, "प्रत्यक्ष आकारका दर्शक है, ईश्वर निराकार है। मनुष्यकी परिमित मेधाशक्ति असीमकी कल्पना नहीं कर सकती अतः अनुमान प्रमाण ही उसके प्रति युक्तियुक्त होगा।"

"वक्तव्यमें तर्कदोष है—यदि परिमित मेधा असीमकी कल्पना नहीं कर सकती तो मानव अनुमानकी शक्ति ही किस प्रकार असीमका स्पर्श कर सकती है ? और यह तर्क अनुमान प्रमाणके औचित्यका कारण उपस्थित नहीं करता। परन्तु सापत्ति यह भी स्वीकार करता हूँ, अनुमान प्रमाण प्रस्तुत हो।" सस्मित वदन मार्त्तण्ड नेत्रोंकी ज्योति पसारता हुआ-सा बोला।

"जिस प्रकार पुत्र-कार्यसे पिता-कारणका अनुमान होता है उसी प्रकार विश्व-कार्यसे पिता-कारणका अनुमान सत्य सिद्ध होता है। और क्योंकि अनादि-प्रवाह सृष्टिका वह जनक है, स्वयं चेतन, सनातन, अनादि है।"

"अनेक हेत्वाभास ! अनेक-हेत्वाभास।"—प्रतिपक्ष बोल उठा।

"अनेक हेत्वाभास ! अनेक हेत्वाभास !"—मध्यस्थने पुकारा।

हेत्वाभास !"—उपाध्यायके हृदयने स्पष्ट कहा ।

क्षुरप्रकी भ्रुकुटियोंमें बल पड़ गये । अग्निमित्रने कानोंको ढँक लिया । मार्त्तण्ड हँसता रहा ।

लोकायत बोला, "पुत्रका पिताको देखना एक परम्परा है । यह साथ ही, जैसा कह चुका हूँ, सापेक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण भी है । ईश्वरको कभी किसीने नहीं देखा । रही अनुमानकी बात—सो पूर्व प्रतिज्ञामें एक और प्रतिज्ञा हुई—सृष्टिका अनादित्ववाद विवादास्पद है, विश्व कार्य है यह भी सन्दिग्ध है, दूसरी प्रतिज्ञा है, साध्य । परन्तु सापत्ति स्वीकृत । एक प्रश्न—क्या सृष्टिका प्रवाह अनादि है ?

अप्रतिभ ऋषिने स्वीकार किया—"हाँ ।"

उपाध्याय सकुच गया । मध्यस्थने नेत्र कुछ संकुचित कर लिये । मार्त्तण्डके नेत्र अर्थ-भरे थे, चमक उठे ।

उसने पूछा, "फिर अनादि-प्रवाह-सृष्टिका कर्त्ता कैसा ?"

उपाध्यायने जैसे स्वयं पूछा ।

"जैसे गंगाका हिमाचल है ।" उत्तर मिला ।

"यह अर्द्ध सत्य है । गंगाका आरम्भ हिमाचल नहीं । हिमाचलका जल मेघका है और मेघका जल समुद्रका, फिर समुद्रका जल गंगाका—प्रवाह अविच्छिन्न है, अनादि, अनन्त । न कारण है, न अन्तक होगा । वृत्ताकार प्रवाहमें ओर-छोर, आदि-अन्त नहीं होते । जहाँ आदि है वहाँ कारण है, जहाँ अनादित्व है वहाँ कारण वह स्वयं है । भला बीज प्रथम है अथवा वृक्ष ?"

जनता ऋषिकी ओर आसरा लगाये देख रही थी । वह निरुत्तर था ।

मार्त्तण्ड फिर बोला, "विश्व कार्य कैसे है ? कैसे हो सकता है ? पुत्रका कारण पिता है और पिताका उसका पिता........"

मध्यस्थने आपत्ति की—"पुनरुक्ति ।"

मार्त्तण्ड बोला, "वक्तव्य पूरा सुन लिया जाये, पुनरुक्ति सकारण

है, सार्थक।"

मध्यस्थने स्वीकृति-सूचक संकेत किया।

मार्त्तण्डने वक्तव्य पूरा किया—"विश्व कार्य कैसे है? कैसे हो सकता है? पुत्रका कारण पिता है और पिताका उसका पिता। इस परम्परामें कहीं उच्छृंखलता नहीं, कहीं किंचित् अभाव नहीं। फिर पुत्र दोनों हैं—पुत्र भी, पिता भी। पुत्रके रूपमें वह पिता-कारणका कार्य है और पिताके रूपमें भावी पुत्र-कार्यका कारण। यह व्यापार समस्त प्राणियोंका है फिर विश्व कार्य क्योंकर हुआ? वह तो कारण-कार्यकी अनादि परम्परा है और अनादि परम्पराका कोई स्रष्टा नहीं।"

मध्याह्न ढल रहा था। जनता अपनी अशक्यतापर क्रुद्ध रही थी। अग्निमित्रने कानोंपर हाथ रखकर कहा, "श्वघ्नी! श्वघ्नी!" क्षुरप्र क्षुब्ध था, यज्ञसेन मूढ़, उपाध्याय मूक?"

लोकायतने प्रश्न किया—"यदि ईश्वरत्वको सापत्ति ग्रहण करें तो प्रश्न है वह सृष्टि कैसे करता है?"

मध्यस्थने प्रश्नको अप्रासंगिक कहा। प्रतिज्ञा गिर चुकी थी, प्रश्न उठता ही न था।

"उत्तरपक्षकी इच्छापर इसे छोड़ा जाये।"—लोकायतने प्रार्थना की।

मध्यस्थने ऋषिकी ओर देखा, कुछ आवेगका आभास हुआ। उसने उत्तरकी स्वीकृति दी।

ऋषि बोला, "जड़ प्रकृति और चेतन आत्माकी सहायतासे वह सृष्टि करता है। आत्मा कर्मानुसार अनन्त योनियोंमें जाता है।"

"यदि प्रकृति और आत्मा आरम्भसे ही हैं तो उनका सर्जन कैसा?"

"प्रकृति और आत्माका भी वही स्रष्टा है। मकड़ीकी भाँति वह सृष्टि रूपी जालेको उदरसे उगलकर सृष्टिकी क्रीड़ा करता है फिर उसे उदरस्थ कर लेता है।"

निरुक्तकार मुसकराया।

मार्त्तण्ड हँसता हुआ बोला, "फिर क्या ईश्वरके उदर भी है ? वह क्या साकार भी है ? फिर उस असीम निराकारकी कल्पनाका क्या हुआ ?"

ऋषि सहम गया । अग्निमित्रने अधर काटा, मुट्ठी कस ली ।

लोकायतने और पूछा, "और आत्माके वे कर्म कैसे ? अनादि-प्रवाह-में आत्माका योनिविधान कैसा ? फिर यदि हो भी तो सर्जनकी आरम्भिक अवस्थामें प्राथमिक आत्मिक सर्जनके समय कर्मोंकी परम्परा कैसी ? और असंख्य अनन्त आत्माओंका असंख्य अनन्त जन्म धारण करने और अन्तको प्राप्त होनेवाले प्राणियोंमें प्रवेश घोर कष्टकल्पना है । आर्य सिद्धान्तको इसे छोड़ना होगा ।"

अग्निमित्र निरन्तर प्रबल वेगसे गायत्री जप रहा था—देवोंसे ऋषि-को कृत्याके अभिशापसे मुक्त करनेकी प्रार्थना कर रहा था । पिताकी ग्रीवापर चिबुक रखे एक तीन वर्षका बालक अग्निमित्रके होठोंका वेगसे संचालन बड़े कुतूहलपूर्वक देख रहा था । पिताकी दाढ़ीके छोटे केशोंको खींच-खींच वह उसे अग्निमित्रकी ओर दिखा रहा था । अग्निमित्रने कड़ी दृष्टिसे उसकी ओर घूरा । कदाचित् उसके मन्त्रका स्तवन भी उसी पूर्व तीव्रतासे कुवाच्यमें परिणत हो गया । बालक चीत्कार कर उठा ।

यह ऋषिके अन्तरका चीत्कार था ।

मध्यस्थने प्रतिपक्षको अपनी प्रतिज्ञा प्रस्तुत करनेकी अनुमति दी ।

लोकायत बोला, "सृष्टि अनादि है, अनन्त । इसके कर्त्ता-कारणका प्रश्न नहीं उठता । कारण और कार्य प्रत्येक वस्तुमें निहित हैं । मैं जिस सत्यकी व्याख्या प्रश्नोंमें कर चुका हूँ वह सिद्धान्तरूपमें इस प्रकार है—अनादि, अनन्त एक शृंखला है । इसकी पूर्व और उत्तर कड़ियाँ कारण और कार्यरूपमें सम्बद्ध हैं । सृष्टिका रूप भूतोंके विकारका स्पष्टीकरण है । चेतन शाश्वत-नित्य है जैसे जड़ प्रकृति । चेतनका धर्म है चेतना और प्रकृतिका जड़ता, वैसे ही जैसे अग्निका धर्म है ज्वलन और जलका शीत-

लता। चेतनका धर्म है—वैकारिक उत्पत्ति, आहार, वर्द्धन, प्रजनन, ह्रास और वैकारिक अन्त। अनन्त संख्यामें अनादि कालसे चेतन इसी प्रकार जीवन धारण करते और मृत्यु प्राप्त करते रहे हैं, अनन्त काल तक करते रहेंगे। शोक-विषाद उनका नित्य धर्म है। कर्म-अकर्मकी व्यवस्था भ्रममूलक।"

ऋषिने आपत्ति की—"और पाप-पुण्य?"

"वह कल्पित है, भ्रममूलक। शाश्वत, प्राकृतिक, नित्य धर्मसे परे चेतनका कोई धर्म नहीं। जीवन मृत्युका है। मृत्युके पश्चात् पुण्यका कोई मूल्य नहीं, यशकी कोई सुविधा ही नहीं। पापों अथवा दारिद्रयकी छाया मृतकको नहीं छूती। उसके पुत्र-पौत्र सम्पन्न अथवा भिखारी हों तो, उसके यशके विस्तारसे पृथ्वी ढँकी हो तो, अथवा उसके अयशसे दिगन्त व्याप्त हो तो, मृतकसे सम्बन्ध ही क्या? चेतन यहीं उठता है, यहीं खो जाता है।"

पूर्वपक्षने आपत्ति की—"फिर तो समाजकी आवश्यकता नहीं? हित करनेका प्रयोजन नहीं?"

"है—इस अर्थ कि हम जबतक जीवित रहें आनन्दसे रहें और हमारे सुख देनेके बदले अन्य भी जीवन-कालमें हमारा हित करें।"

"अच्छा, सृष्टिका प्रयोजन क्या है?"

"यह प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रयोजन स्रष्टासे सम्बन्ध रखता है और क्योंकि विश्वका स्रष्टा नहीं, यह अनादि, अनन्त है—प्रयोजनका प्रश्न नहीं होता।"

"सृष्टिमें भेद क्यों है? पिताके सारे पुत्र सदा एक-से क्यों नहीं होते?"

क्योंकि व्यक्ति अनेक हैं, पुरुष और स्त्रीकी इच्छाएँ, सुविधाएँ अनेक, विभिन्न और विविध हैं। कालभिन्नताके साथ-साथ उनमें रुचि-वैचित्र्य और साधन-वैचित्र्य फलते और लय होते रहते हैं—प्रजामें समानता क्योंकर हो?"

"क्या विश्वके सब विस्मयजनक कार्य और उनके कारण उत्तरपक्षको ज्ञात हैं ?"

मध्यस्थने आपत्ति की—"विषयान्तर !"

लोकायत बोला, "मैं उत्तर दूँगा।"

मध्यस्थने फिर आपत्ति नहीं की।

लोकायतने उत्तर दिया—"विश्वके सारे विस्मयजनक कार्य मेरे जाने नहीं हैं परन्तु उनके कारण हैं। केवल जाने नहीं हैं। पर जाने जा सकते हैं।"

"किसके द्वारा ?"

"पूर्व और उत्तर दोनों पक्षोंके द्वारा।"

"पूर्वपक्ष क्यों जाने ?"

"क्योंकि सत्यकी खोजका दायित्व पूर्व-उत्तर—दोनों पक्षोंपर है।"

मध्यस्थ मूक था, उपाध्याय मूढ़, क्षुरप्र चकित। जनसमुदाय कोलाहलरहित था, अग्निमित्र संज्ञाहीन-सा, ऋषि निरुत्तर।

मध्यस्थने लोकायतकी विजय घोषित की। परन्तु लोकायतने मस्तक झुका लिया।

उसने कहा, "एक बात और। जय-पराजय सत्यकी प्रतिष्ठा नहीं करती। तर्क वंचक है। तर्ककी प्रौढ़ता और दुर्बलताकी एक परम्परा है। वह अपनी प्रौढ़ता-द्वारा कभी पूर्वपक्ष सिद्ध करता है, कभी अपनी दुर्बलताके कारण उत्तरपक्ष। यदि प्रत्येक बार सत्यकी प्रतिष्ठा होती है तो उसमें व्यभिचार होता है, और सत्य एक है अनेक नहीं। उसमें व्यभिचार नहीं हो सकता। अतः तर्क कुछ स्थिर नहीं करता।"

उपाध्यायने शंका की—"तब कर्म क्यों करें ? अन्तःप्रेरणासे ?"

"मैं नहीं जानता—परन्तु अन्तःप्रेरणाका कोई अर्थ नहीं। अन्तः-प्रेरणा घनीभूत संस्कार है। उसमें विकार होते हैं ! जो बालपनमें था,

युवावस्थामें नहीं रहा, जो युवावस्थामें था वह प्रौढ़ावस्थामें नहीं रहा।"

सभा विसर्जित हो गयी। धीरे-धीरे भीड़ छँट गयी। उपाध्याय शक्तिहीन, नीरव, तर्कहीन हो गया था। जब उसने देर बाद मस्तक उठाया गोधूलि धीरे-धीरे बढ़कर व्याप्त हो रही थी।

उपाध्यायने धीरे-धीरे कहा, "सारा शब्दाडम्बर है, वाग्जाल, अनृत!"

२६ अगस्त १६४०
प्रातः ४—१०

राष्ट्र-भेद

[भारतवर्षके प्राचीन गणतन्त्रोंका स्वरूप अब प्रतिष्ठित हो चुका था। इस कहानीमें उसीका वर्णन है। कहानीके कई प्रसंग अट्ठ-कथा, महावस्तु, जातक-कथाओं आदिसे प्रमाणित हैं। बौद्ध-संघके अधिवेशनोंकी कार्य-प्रणाली राजनैतिक संघसे ली गयी थी। स्वयं 'संघ' शब्द राजनैतिक संघकी छाया है। वज्जि-संघके कार्यविवरणमें लाक्षणिक शब्दोंका प्रयोग हुआ है, जैसे 'आसनप्रज्ञापक', 'गणपूरक' (ह्विप), 'ज्ञप्ति' (नोटिस), 'प्रतिज्ञा' (रिसोल्यूशन), 'कम्मवाचा' (प्रस्ताव), 'छन्द' (वोट), 'शलाका' (वोट-टिकिट), 'शलाका-ग्राहापक' (शलाका, ग्रहण करने और लिखनेवाला) 'एवेनि-पुत्थक' (अपराधीके अभियोग, अपराध दर्ज करनेवाला रजिस्टर), 'राजा' (सभापति), 'उपराजा' (उपसभापति), 'राजुक' (संघका सदस्य जो ७७०७ राजकुलोंके इतने ही प्रतिनिधियोंमें-से एक था), 'विनिश्चय-महामात्र' (अभियोगकी सत्यता निश्चित करनेवाला पहला न्याया-लय), 'व्यावहारिक' (दूसरा न्यायालय), सूत्रधार (तीसरा न्याया-लय), 'अष्टकुलक' (आठ न्यायाधीशोंका न्यायालय)। ये न्यायालय उत्तरोत्तर अपीलके थे। परन्तु यदि अभियुक्त किसी एक न्यायालयसे निर्दोष प्रमाणित होकर मुक्त हो जाता तो वह आगेके न्यायालयमें नहीं लाया जा सकता था। काल छठी सदी ई० पू०।]

स्वराज्यसम्भूत शक्तिसे समृद्धि बढ़ी, स्वातन्त्र्यके विवेकसे नागरिक परम्पराका विकास हुआ। विदेहों और लिच्छवियोंके सम्मिलित वज्जि-संघकी शक्ति साम्राज्य-लोलुप अजातशत्रुके नेत्रोंमें खटकने लगी। गंगाके

उत्तरमें उसके साम्राज्य-प्रसारमें वज्जि-संघका बड़ा रोड़ा आ अटका। वैशालीकी शक्ति नष्ट करनेकी उसने जितनी ही युक्तियाँ कीं, सब निष्फल हुईं। तब उसने उसपर सम्मुख आक्रमणकी ठानी।

जब इस कार्यकी उपयोगितापर तथागतके मतके अर्थ कुणिकका अमात्य वहाँ पहुँचा, तथागतने आनन्दसे पूछा, "आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जि-संघके अधिवेशन एकपर एक होते हैं और उनमें सदस्योंकी संख्या भी सदा प्रचुर रहती है?"

"हाँ, सुना है, तथागत।"—आनन्दने कहा।

पुनः मगधके अमात्यने तथागतका स्वर सुना—"आनन्द, जबतक वज्जियोंके अधिवेशन एकपर एक और सदस्योंकी प्रचुर उपस्थितिमें होते हैं,

"जबतक वे अधिवेशनोंमें एक मनसे बैठते, एक मनसे उठते, एक मनसे संघ कार्य सम्पन्न करते हैं,

"जबतक वे पूर्वप्रतिष्ठित व्यवस्थाके विरोधमें नियम निर्माण नहीं करते, पूर्वनिर्मित नियमोंके विरोधमें नव-नियमोंकी अभिसृष्टि नहीं करते, जबतक वे अतीत कालमें स्थापित वज्जियोंकी संस्थाओं और उनके सिद्धान्तोंके अनुसार कार्य करते हैं,

"जबतक वे वज्जि अर्हन्तों और गुरुजनोंका सम्मान करते हैं, उनकी मन्त्रणाको भक्तिपूर्वक सुनते हैं,

"जबतक उनकी नारियाँ और कन्याएँ शक्ति और अपचारसे व्यवस्था-विरुद्ध व्यसनका साधन नहीं बनायी जातीं,

"जबतक वे वज्जि-चैत्योंके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखते हैं,

"जबतक वे अपने अर्हन्तोंकी रक्षा करते हैं,

"तबतक, हे आनन्द, वज्जियोंका उत्कर्ष निश्चित है, उनका अपकर्ष सम्भव नहीं।"

मगधके अमात्यने यह वक्तव्य सुना।

"मगधराज वज्जियोंका पराभव नहीं कर सकते" ।—उसने धीरे-धीरे कहा ।

पावामें शान्ति-लाभ करते हुए तीर्थंकरने भी तथागतका यह वक्तव्य सुना ।

"सत्कामना फलवती हो ! परन्तु वज्जि-संघ शक्तिका संचय कर चुका है । शक्तिजनित दृप्तिसे अनाचार, अपचार होंगे, समृद्धिजनित व्यसनसे विलास, व्यभिचार होंगे । उधर कुणिककी दुरभिसन्धिका झंझावात ! वज्जि-संघ, तेरी कौन रक्षा करेगा ?" उसने मन-ही-मन कहा ।

"मातंग !"

लम्बी कशावाले दक्षिण करमें वाम करकी रज्जुओंको एकत्र करता किंचित् ग्रीवा मोड़ सारथीने कहा, "देवि !"

"तुरगोंकी गति धीमी कर दो ।"

वैशालीके प्रमुख राजपथपर वायुवेगसे दौड़ते रथकी गति धीमी हो गयी । चारों अश्वोंकी कलँगियाँ, जो उन श्वेत धावनोंकी तीव्र गतिके कारण अलक्ष्य हो गयी थीं, अब दिखाई पड़ने लगीं । राजमार्गके दोनों पार्श्वमें वायुसेवनके निमित्त जाते सुन्दर सजे नागरिकोंकी असंख्य पंक्तियाँ अब दृष्टिगोचर हुईं । सहस्रों नेत्र लिच्छवियोंकी विख्यात वारवनिताकी कमनीय मूर्तिपर आ टिके । अभिवादनोंके उत्तर कामसेनाने कभी करोंको उठाकर, कभी शिरके ईषत् कम्पनसे दिया ।

सारथी रास खींचे रथको धीरे-धीरे बढ़ाये जा रहा था । उसने विचारा—आज कई दिनोंसे कामवनके इस मोड़पर ही स्वामिनी क्यों रथकी गति धीमी करा देती हैं ।

उसने प्रकट पूछा, "देवि, क्या रथको कामवनकी ओर मोड़ दूँ ?"

"आदेशकी प्रतीक्षा करो, मातंग। उतावले न हो,"—भृकुटियोंमें कुछ बल डाल वारांगनाने कुछ गम्भीर स्वरमें कहा।

संयत सूतने मस्तक नीचा कर लिया।

कुछ क्षणोंके पश्चात् वारवनिताने पुनः कहा, "मातंग !"

मातंग ग्रीवा मोड़ता हुआ, तुरगोंको कठिनतासे संयत करता बोला, "देवि !"

"वह जो सामने पावापथ इस राजमार्गको काटता है, उसका एक छोर पूर्व-तोरणसे होता हुआ कामवनके पार्श्वसे होकर जाता है, वहीं दाहिनी ओर कामवनके मुखालिन्द तोरणका विशाल गज है। उसके समीप-के चतुष्कोंमें मध्य चतुष्कके सम्मुख रथकी गति और धीमी कर देना।" स्वरकी प्रकृत सरसता लौट आयी थी। सारथी आश्वस्त हो गया।

"देवीकी जैसी आज्ञा।" मातंगने उन्मुख मस्तक नीचा कर लिया। तुरगकी रज्जुएँ उसने कुछ ढीली कर दीं। अश्व पुनः तीव्र हो चले।

"नहीं-नहीं, मातंग, गति वनी रहने दो—वही, पूर्ववत्"।

रथकी गति पूर्ववत् धीमी हो गयी।

रथों और कर्णीरथोंका संघट्ट और अविरल जन-सम्पात पावापथकी ओर फिर जाता था। जब कामसेनाका रथ पूर्व तोरणसे होकर कामवनके दक्षिण पार्श्वमें फिरा, मार्ग निर्जन-सा मिला। समीप ही कामवनके मुखा-लिन्द तोरणका विशाल गज अपना प्रलम्ब भुजंग सरीखा शुण्ड उठाये खड़ा था। मध्य चतुष्कके समीप कई अश्वारोही मार्गके मध्य खड़े थे। एकाध आरोही पथके इस पारसे उस पार आ-जा रहे थे। रथके पहुँचते ही अश्वारोही पथके दोनों ओर पंक्ति बाँध खड़े हो गये। उनके उन्नत मस्तकपर सुन्दर उष्णीष सोहते थे।

कुछ दूरसे ही रथस्वामिनीने देखा—चतुष्कमें खड़ा एक विशालकाय युवक समीपके अश्वपर बैठ गया। सुन्दर सजीले युवकके उष्णीषपर

सामने स्वर्ण-पत्तर जड़ा था जिसके ऊपर श्वेतपक्षकी कलँगी झिलमिल-झिलमिल हिल रही थी। रथके समीप आते ही अश्वारोही युवक पथके अत्यन्त निकट खड़ा हो गया। इस ओरके अश्वारोही हटकर उसके पीछे खड़े हो गये। उसके अनुचर थे वे।

युवकने अश्वरज्जु वामस्कन्धमें अटकाकर युगल करोंसे कामसेनाका अभिवादन किया। उसकी मुद्रिकाओंके हीरक सन्ध्याकी अरुणिमामें चमक उठे। शिरके ईषत्कम्पनसे वारवनिताने उसका प्रत्यभिवादन किया।

फिर उसने कहा, "मातंग, रथ रोक दो।"

मातंगने रास खींच ली, तुरग रुक गये। मातंगने रज्जुओंको उनके अंकुशमें अटका दिया, फिर वह लम्बी कशा ले दोनों हाथोंमें उसे पलटता हुआ खेलने-सा लगा। गणिकाका सेवक होनेके कारण उसके ग्राहकोंकी ओर न देखनेका उसे अभ्यास था। सधे अश्व चुपचाप संकेतकी प्रतीक्षामें खड़े रहे।

कामसेनाने युवकसे पूछा, "विदेशी हो, आरोही?"

"विदेशी हूँ, देवि—दूर पंचनदका।"

विद्रुम पंक्ति खुल गयी। कुहनियोंको उठा दोनों करोंसे बृहत् चूड़ा-ग्रन्थिकी पुष्पमालिकाको यथास्थान करती युवतीने हँस दिया—अकृत्रिम, सरल हास।

"सो तो स्पष्ट है, आरोही।"

"वह कैसे, देवि?" युवकने चकित हो पूछा। उसके सारे अनुचर रथस्वामिनीके उत्तरसे विस्मित हो उन्मुख हो उठे।

"वह कैसे?—तुम्हारी वेश-भूषासे। तुम्हारे ग्रीवा तक कटे केशोंसे, अंगद और कुण्डलोंकी गढ़नसे, अंजनके आधिक्यसे, ताम्बूलके अभावसे और अब, शब्दोंके उच्चारणसे।" शब्दोंके अनियन्त्रित प्रवाहमें शक्ति और आदेशकी झंकार थी। सुननेवाले मुग्ध हो गये। विदेशी उसकी ओर दत्तदृष्टि हो सुन रहे थे—मन्त्रमुग्ध, शप्त-से।

"वज्जि-नागरिकके लम्बे केश पृष्ठभागपर खेलते हैं, विदेशी, और उनके वक्ष केवल पुष्प तथा तारहारोंसे सुशोभित रहते हैं—वैशालीमें केवल नारियोंके वक्ष ही अंशुकसे प्रच्छन्न रहते हैं।" नारी फिर हँसी।

युवक झिझका। संक्रामक हास एक मुखसे दूसरेपर खेलने लगा। केवल मातंग पूर्ववत् करोंमें कशाको पलटता रहा।

"मैं मालव हूँ, देवि—पंचनदका मालव, मालवगणके सेनापतिका तनय—सुकण्ठ—' युवक बोलता-बोलता पार्श्वकी ओर कुछ मुड़ गया—"और ये हैं मेरे सहचर—सुज्येष्ठ, मलय, कुन्तल, कण्ठक, नाग"—फिर सामने पथके उस पार संकेत कर उसने वक्तव्य पूरा किया—"और वे मेरे अनुयायी सामन्तपुत्र।"

युवतीने मानो और कुछ न सुना। अधिकारका जीवन बितानेवाली उस नारीके निमित्त ही जैसे सारा विश्व रचा गया हो और वह स्वयं हो उस विश्व हृदयका केन्द्र। उसने जैसे युवकके वक्तव्यका अधिक भाग सुना ही नहीं। रथकी पृष्ठ-पट्टिकाकी दूसरी ओर कुहनी रखती हुई उसने दक्षिण करकी मुट्ठीपर अपना कपोल धर दिया, फिर किंचित् करवट-सी हो एक पाँवको दूसरेपर चढ़ा कुछ विचारती-सी अपने-आप बोली, 'सुकण्ठ', न, 'सुकण्ठ' नहीं 'सुग्रीव'—मैं उसे 'सुग्रीव' कहती।"

फिर जैसे अपनेको अपने प्रासादके अन्तरालिन्दसे दूर राजपथपर रुकी जान वह कुछ चिहुँकी। उसने जैसे संज्ञा लाभ कर पूछा—"मुझे जानते हो, युवक?"

"जानता हूँ, देवि। जानकर ही सुदूर पश्चिमसे आया हूँ। नित्य इस रथकी प्रतीक्षामें यहाँ खड़ा होता हूँ—एक झलकके निमित्त। आज देवता प्रसन्न हुए, मेरे सौभाग्यका उदय हुआ। भला वैशालीकी विश्व-विख्यात कामसेनाको कौन नहीं जानता!"

बात काटती हुई-सी कामसेनाने सीधा बैठकर कहा, 'प्रगल्भ, शब्दशूर मालव, रहने दो व्याख्या। वैशालीमें ध्वनि और संकेतका साम्राज्य

है—यहाँ बाण और करवाल, शब्द और शक्ति अनावश्यक हैं, निरर्थक, निन्द्य।"

इतने अश्वारोही थे, युवा, सशक्त, सम्पन्न, परन्तु यह युवती उनके भावों, उनकी कामनाओंमें खेल रही थी—स्वयं गर्विता प्रगल्भा, वाग्विलासिनी।

"अच्छा, आओ विदेशी, कामसेनाके अतिथि बनो। रथपर आओ।" उसने मुसकराते हुए कहा।

मालव अश्वसे उतर पड़ा। उस पारसे धीरे-धीरे आकर एक अनुचरने उसके तुरंगकी रज्जु पकड़ ली। केवल एक बार कामसेनाने मालवके अनुचरों और मित्रोंकी ओर दृष्टि उठायी।

कहा, "मालवको जब चाहो मेरे प्रासादमें पा सकते हो। वैशालीमें श्रीमानोंको शरीररक्षकोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती। अथवा, चाहो तो मेरा प्रासाद तुम्हारे निमित्त प्रस्तुत है।

उसने मालवकी ओर देखा। मालवने रथपर बैठते हुए कहा, "धन्यवाद, देवि, इनका पंचनद आवासमें ही रहना आवश्यक है।

मातंगने पहली बार मस्तक उठाया। रज्जु और कशा खींचकर उसने रथ घुमा लिया और वनायु तुरग वारांगनाके ग्रीष्म प्रासादकी ओर उड़ चले।

मालव स्तब्ध था, मुग्ध, सन्तुष्ट।

एक पक्ष बीत गया, दूसरा बीता, तीसरा भी। अमोघवर्ष राजुकको कामसेनाके प्रासादमें प्रवेश न मिला।

अमोघवर्ष संवज्जि-संघका राजुक था। सात सहस्र सात सौ सात राजाओंमें उसकी गणना थी। संघके अधिवेशनोंमें भी उसका पद विशिष्ट था। वह वज्जि-संघका गणपूरक था। गणराजकुलोंके एक प्रशस्त

कुलमें सम्भूत अमोघवर्प लिच्छवियोंके कुलपुत्रोंमें अपनी वाग्मिता और समृद्धिके कारण विख्यात था। राजुकोंकी भाँति उसे भी वैशालीकी विख्यात पुष्करिणीमें स्नानका अधिकार था और वह भी उसके जलसे पद-प्राप्तिके अवसरपर अभिषिक्त हुआ था। उसे आश्चर्य था—वारांगना, जो उसके सहवाससे अपना सम्मान मानती थी, अब अपने द्वार उसके प्रति क्यों आवृत रखती है। सप्ताहों नित्य वह कामसेनाके प्रासादको आता और द्वारपालसे प्रेयसीके सम्बन्धमें पूछता, परन्तु सदा उसे विपरीत उत्तर मिलता।

एक दिवस जब अमोघवर्पने भीतर जाना चाहा, द्वारपालने विनीत भावसे निवेदन किया—"स्वामिनी नहीं हैं।"

यह कोई नवीन बात न थी। ऐसे अवसरोंपर, वह प्रवेश करता, कामसेनाकी प्रतीक्षा करता और प्रतीक्षाका सारा समय वह उसके पक्षियोंको चारा देने, उसके अपूर्ण चित्रोंको पूरा करने, उसके प्रासादके निमित्त प्रमदवनमें दोला बाँधनेमें व्यस्त रहकर व्यतीत करता।

सो उसे कुछ आश्चर्य हुआ—द्वारपालका यह कर्तव्य नहीं था कि वह वज्जिराज्यके राजुकसे इस प्रकार कुछ कहे। गृहस्वामिनीकी अनुपस्थितिकी बात वह उसकी अनुचरी-द्वारा सुनता। उसने कहा, "अच्छा"। और वह सोपानमार्गकी ओर बढ़ा। परन्तु वलिष्ठ द्वारपालका रजतदण्ड बीच मार्गकी ओर बढ़ गया।

अमोघवर्पके रोम-रोममें आग लग गयी।

उसने सस्वर पुकारा—"पन्थक!"

द्वारपालने शिर झुका लिया। फिर धीरेसे कहा, "श्रीमन्, पन्थक आज्ञाकारी सेवक है।"

अमोघवर्प समझ गया।

बोला, "पन्थक, तुम निरपराध हो। परन्तु मेरा आना और इस प्रकार लौट जाना अपनी व्यस्त स्वामिनीसे कहोगे।"

द्वारपालने मस्तक झुकाकर अभिवादन किया। अमोघवर्ष चला गया। जाते-जाते उसने सोचा—जान पड़ता है जनताकी बात नितान्त निर्मूल नहीं।

वह संघ-राज्यके वैदेशिक विभागकी ओर चला।

वैदेशिक-विभागके प्रमुख-लेखकके समीप पहुँच उसने पूछा, "क्या पिछले सप्ताह राज्य-प्रवेश-पुस्तकमें कुछ मालवोंके नाम चढ़े हैं?"

प्रमुख-लेखकने पुस्तक खोलकर पढ़ा—"पंचनदके मालव—मालव-गणके सेनापतिका तनय मुकण्ठ : विशिष्ट अतिथि; उसके सहचर, सुज्येष्ठ, मलय, कुन्तल, कण्ठक, नाग : साधारण अतिथि; और उसके अनुयायी सामन्त-पुत्र, बन्धुवर्मा, अनुवीर शीतल, दिलीप, कीचक : अनुचर अतिथि; संख्या : ग्यारह। प्रयोजन : देशपर्यटन। स्थान : पश्चिम द्वारका अतिथि-भवन।"

नीचे, एक-एक नामके सामने व्यक्तिके शरीरका वर्ण, विशेष चिह्न, वय आदि उल्लिखित थे।

और नीचे, मालव मुकण्ठके प्रति एक टिप्पणी थी।

वहाँतक पहुँचते-पहुँचते प्रमुख-लेखक रुक गया। अमोघवर्षने जाना अभी कुछ और है जो वह नहीं बताना चाहता।

उसने कहा, "पढ़ो।"

प्रमुख-लेखक बोला, "श्रीमन्, आगे विशिष्ट अतिथिके वर्तमान अवकाश और कार्यका उल्लेख है।"

राजुकने लेखककी चुप्पीका अर्थ समझा। वह स्वयं कुछ झिझका, फिर धीमे स्वरमें बोला, "पढ़ो।"

प्रमुख-लेखकने अपने कर जोड़ दिये।

अमोघवर्षने फिर कहा कुछ अधिकारके साथ, "पढ़ो अनीक, आगे क्या है?"

प्रमुख-लेखक बोला, "श्रीमान् वज्जि-संघके व्यवहार-विधानसे अपरि-

चित नहीं हैं—विदेशीके कार्यक्रमका ज्ञान राजा, उपराजा और प्रमुख-लेखकके अतिरिक्त अन्य किसीको नहीं होगा।"

अमोघवर्षने ललाटका स्वेद पोंछ लिया। रक्त चन्दनके संसर्गसे श्वेत ललाटका अरुण राग और भी गहरा हो गया।

उसने कुछ सबल शब्दोंमें कहा, "प्रमुख-लेखक, तुम्हारी टेक वज्जि-संघके गणपूरक राजुक अमोघवर्षके सम्मुख उचित नहीं।"

"परन्तु श्रीमन्, अनीक उसी वज्जि-संघका भेद-रक्षक प्रमुख-लेखक है, उसके गुप्त संवादोंकी सुरक्षाका उत्तरदायी। राजा और उपराजाके अतिरिक्त वह और किसीको आगेका उल्लेख नहीं बता सकता। श्रीमन्, विनीत सेवक संघके विधानोंसे आबद्ध है। क्षमा करें।"

"अनीक, तुम्हारा एक परिवार है और उसमें शिशुओंका अभाव नहीं।"

"प्रमुख-लेखक व्यावहारिक पदसम्बन्धी कार्योंके परिणामका शोच नहीं करता, श्रीमन्! और उसके परिवार और शिशुओंकी रक्षा और पालनका दायित्व संघपर है, वज्जिसंघके राजुकोंपर।" प्रमुख-लेखक मुसकराया।

राजुक कुछ सहमा। साम और दण्डके संकेत व्यर्थ गये, विभेदका प्रयोग लगता नहीं था, रह गयी दानविधि। अमोघवर्षने उसके प्रयोगका निश्चय किया। स्वर्णकी झंकार मधुर होती है, उसका दर्शन प्रिय—उसने विचारा।

अमोघवर्षकी कटिबद्ध नकुलीमें निष्कोंकी झंकृति हुई। उसने प्रमुख-लेखकपर अपनी दृष्टि डाली। उसकी दृष्टि अनीककी कठोर दृष्टिसे मिली और लौट आयी। राजुकका साहस छूट चला।

उसने एक बार और प्रयास करना उचित समझा। कहा, "अनीक, अमोघवर्ष नकुलीमें कार्षापण नहीं बाँधता और सारी वैशाली जानती है कि उसके निमित्त कामसेनाका अघट कोष सदा खुला रहता है।"

प्रमुख-लेखक जो क्रोधसे कुछ असंयत हो चला था, अमोघवर्षके वक्तव्यके उत्तरार्द्धमें कुछ मुसकरा पड़ा। उसके हासमें व्यंग्य छिपा था। परन्तु, अमोघवर्षने उसके व्यंग्यका अभिप्राय नहीं समझा।

अविचलित अनोक अपनी चेष्टा कठोर बना गम्भीर स्वरमें बोला, "संवज्जि-संघके गणपूरक श्रीमान् राजुक अमोघवर्षको वज्जि-राज्यके प्रमुख-लेखकको कर्त्तव्यच्युत करनेका दण्ड विदित है। प्रमुख-लेखक आशा करता है कि ऐसी दशामें श्रीमान् उसे अपने विशेष अधिकारके प्रयोगार्थ दण्डधरोंको आदेश करनेपर बाध्य न करेंगे।"

प्रमुख-लेखककी वाणी क्रोध और शक्तिसे कम्पित हो रही थी। इधर राजुकके नेत्रोंसे भी ग्लानि और क्षोभकी चिनगारियाँ निकल रही थीं। आवेगको रोकता वह चुपचाप अपना क्रोध पीकर विशाल शासन-भवनसे वेगपूर्वक बहिर्गत हो गया।

परन्तु अमोघवर्षको शान्ति नहीं थी। वह उसी क्षण उपराजाके समीप पहुँचा। उपराजा व्यस्त था, परन्तु राजुक अमोघवर्षको आया सुन वह शीघ्र मन्त्रणा-कक्षमें आ गया। अमोघवर्षने अभिवादन कर कहा, "श्रीमन्, मैं पंचनद-मालवके सम्बन्धमें कुछ जानना चाहता हूँ।"

उपराजाने अमोघवर्षकी उद्विग्न मुद्रा देखी, उसे कुछ आश्चर्य हुआ। अमोघवर्ष सदा संयत, हँसोड़ रहता था। आजकी उसकी चेष्टा असाधारण थी।

"आज इस प्रकार उद्वेग कैसा?" उसने हँसकर अमोघवर्षसे पूछा और उसको पासके भद्रपीठपर बैठनेका संकेत किया।

"श्रीमन्, मैं पंचनद-मालवके सम्बन्धमें कुछ जानना चाहता हूँ।" अमोघवर्षने उपराजाके आसन ग्रहण करनेके उपरान्त बैठते हुए अपनी बात दोहरायी।

उपराजाने फिर मुसकरा दिया, पर शीघ्र उसका मुख-मण्डल कुछ

गम्भीर हो उठा ।

उसने कहा, "अवश्य पूछो, अमोघवर्ष । परन्तु मेरी समझमें उसके अर्थ तुम्हारा वैदेशिक-विभागके प्रमुख-लेखकके निकट जाना अधिक उचित होता ।"

"परन्तु मैं वहाँ जा चुका हूँ, श्रीमन् । मैं वहींसे आ रहा हूँ । वहाँ मेरी जिज्ञासा सफल नहीं हुई इस कारण श्रीमान्के निकट आना पड़ा ।"—व्यग्र राजुक अपने प्रश्नके अनौचित्यपर स्वयं आकुल हो उठा ।

"फिर पूछो, अमोघवर्ष, क्या है तुम्हारी वह जिज्ञासा ?"—उप-राजा अपने सहज गम्भीर मुखपर फिर हास लानेकी चेष्टा करता हुआ बोला ।

"मैं पंचनद-मालवके अवकाशका प्रयोजन जाननेकी इच्छा करता हूँ, श्रीमन् ।" अमोघवर्ष धीरे-से बोला ।

"पंचनद-मालवका अवकाश-ग्रहण उसके व्यक्तिगत प्रयोजनसे सम्पर्क रखता है, अमोघवर्ष, और तुम जानते हो कि वज्जि अथवा विदेशी नागरिकोंके व्यक्तिगत कार्योंमें संघ किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करता ।"

"परन्तु यदि विदेशी किसी अहितकर प्रयत्नमें कार्यशील हो तो ?"—अमोघवर्षने वेगसे पूछा ।

"इस प्रकारके अहितकर कार्योंके सम्बन्धमें संघके चर सदा संलग्न रहते हैं, अमोघवर्ष । संघ सन्तुष्ट होकर ही इस प्रकारके अवकाश विदेशियोंको प्रदान करता है । तुम्हारा केवल इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि संघ उस सम्बन्धमें सन्तुष्ट है ।"

"तो क्या किसी प्रकार मैं यह नहीं जान सकता कि पंचनद-मालव कहाँ है ?"—अमोघवर्षने पूछा ।

"किसी प्रकार नहीं । केवल एक ही व्यवस्था है जिससे यह सम्भव

हो सकता था परन्तु वह तुम्हारे सम्बन्धमें अप्रासंगिक है।"

"वह कौन-सी श्रीमन् ?" अमोघवर्षको तिनकेका सहारा मिला।

"वह यह कि यदि तुम्हारा उसके द्वारा व्यक्तिगत अपकार हुआ हो तो तुम उसका अवकाश-प्रयोजन जान सकते हो, परन्तु उस दशामें अपने अपकारके निराकरणके अर्थ तुम्हें 'विनिश्चय महामात्रों'के सम्मुख निवेदन करना होगा।"—गम्भीर उपराजाने शक्तिपूर्वक कहा।

"अपकारजनित भावनासे प्रेरित होकर ही अमोघवर्ष वज्जि-संघके उपराजाके निकट उपस्थित हुआ है, श्रीमन्।" कुछ सन्तोषकी झलक-सी राजुकके मुखपर दिखाई पड़ी।

"तो जानोगे, नागरिक, सुनो—पंचनद-मालव सुकण्ठके अवकाशका प्रयोजन है प्रणयका व्यसन, एक सम्भ्रान्त नागरिकका आतिथ्य और उसका वर्त्तमान आश्रय है—वारांगना कामसेनाके ग्रीष्म-प्रासादका तृतीय प्रकोष्ठ।" आसनसे उठते हुए उपराजाने कहा।

जाते हुए अमोघवर्षको रोकते उपराजाने उसे सावधान किया—नागरिक, निर्दोष विदेशीको अकारण क्लेश देना संघकी दृष्टिमें अशान्तिका परिचायक है, और अशान्तिका दण्ड, तुम जानते हो, भयंकर है।"

अमोघवर्ष कुछ व्यथित-सा परन्तु शक्तिपूर्वक बोला, "श्रीमन्, संवज्जि-संघका गणपूरक एवं राजुक नागरिक अमोघवर्ष अपना दायित्व समझता है, धन्यवाद।"

"मिथ्या, नितान्त मिथ्या !"—अभी अमोघवर्षकी बात समाप्त भी न होने पायी थी कि मन्त्रणा-कक्षके पार्श्वका निभृत द्वार सहसा खुला और वज्जि-संघके प्रमुख-लेखकने प्रवेश किया। उसके शब्दोंसे यकायक उपराजा चकित हो गया और अमोघवर्ष सन्त्रस्त।

प्रमुख-लेखकने फिर कहा—"मिथ्या ! नितान्त मिथ्या ! संवज्जि-संघका गणपूरक एवं राजुक नागरिक अमोघवर्ष अपना दायित्व नहीं समझता और संवज्जि-संघके प्रमुख-लेखकके अधिकारसे मैं उसे संघके कर्मचारियोंको

अनुचित रीतिसे कर्तव्यच्युत करनेका दोषी घोषित करता हूँ।"

"यह अपराध जघन्य है, प्रमुख-लेखक। इसका दण्ड शूली है।" कठोर आकृति धारण कर प्रशान्त मुद्रासे उपराजा बोला।

"श्रीमन्, प्रवल प्रतापी संवज्जि-संघके अद्भुत कार्यक्षम उपराजाके नीचे युगान्त तक कार्य करनेवाला लेखक इस जघन्य अपराधके दण्डसे अवगत न हो, यह आश्चर्यकी बात होगी।" प्रमुख-लेखकने दृढ़ता-पूर्वक कहा।

उपराजा निभृत द्वारसे गुप्तकक्षकी ओर बढ़ता हुआ अमोघवर्षके प्रति बोला—"नागरिक, मेरी प्रतीक्षा करोगे।"

विद्युत्हत अमोघवर्ष अवसन्न हो गया था। उसने मस्तक झुका लिया। प्रमुख-लेखकने उपराजाका अनुसरण किया।

कुछ क्षणोंके उपरान्त उपराजा लौटा, अकेला, गम्भीर। अमोघ-वर्षका मस्तक फिर झुक गया।

उपराजाने प्रवेश करते ही कहा, "नागरिक, तुम्हारा अपराध सुना। उचित तो यह था कि इसी समय नागरिकताके अधिकारोंसे तुम्हें वंचित कर तुम्हारे जघन्य अपराधकी सत्यता अप्रमाणित होने तक कारावासमें डलवा देता, परन्तु संघके प्रति तुम्हारी की गयी सेवाओंका मूल्य बड़ा है। अतः मैं स्वयं तुम्हारा प्रतिभू होता हूँ और इस विदेशीके प्रति तुम्हारे व्यवहारकार्यके अन्त तक तुमको मुक्त रखता हूँ। फिर तुम्हारा विचार संघके अधिवेशनमें होगा। जाओ।"

अमोघवर्षका मस्तक और नत हो गया। उपराजा उसे वहीं छोड़ निभृत द्वारसे गुप्तकक्षमें पुनः प्रविष्ट हुआ।

"तुम्हीं बोलो, कामसेने, अब मैं केवल सुनूँगा।"

"नर, क्यों ? वह जो तुम्हारा मालव वाग्विलास है उससे क्या छुट्टी ले लोगे ? बोलो नो, मालव, बोलो ।"

"बोलूँ ? क्या बोलूँ ?"

"अरे वही,—सिन्धुका गर्जन, वितस्ताका निःश्वास, चन्द्रभागाका भृकुटिभंग, रावीका ऊर्मिविलास, विपाशाका वैभव, शुतुद्रुका गौरव, गाओ न !"

"हाँ चलो, चलो कामसेने, चलो उस दूर देशको । उस पंचनद मालवको चलें । आओ, उन क्षुद्रक-यौधेयोंके शूर देशको चलें । यमुनाको लाँघकर, मथुराके विलासी शौरसेनोंको पीछे छोड़ चलें—वहाँ, जहाँ क्षुद्रक-यौधेय और मालवोंका संघट्ट अन्धक-वृष्णियोंसे लोहा लेता है और जहाँ अरट्ट मध्यस्थ हो दोनों पक्षोंके आघात सहते हैं । वहाँ चलो, सुमुखि, वहाँ...."

कामसेना विमुग्ध मालवका वाग्विलास सुनती रही । आनन्दसे उसके होंठ फड़कने लगते, रोएँ खड़े हो जाते । वह मालवको प्रगल्भ कहती थी । कुतूहलवश वह उसकी अभिलाषा सुनती रही ।

"जहाँ शुतुद्रु तुम्हारी प्रतीक्षामें करवटें बदलता है, जहाँ वितस्ता तुम्हारे भयसे उमड़-उमड़ रोती है, जहाँ चन्द्रभागा शुतुद्रुसे मान किये बैठी है, जहाँ सिन्धु शुतुद्रुको ललकारता है, तुम्हारे निमित्त, इन कुंचित कुन्तलोंके निमित्त ।" मालवने कामसेनाकी कुन्तलोंको उछाल दिया ।

"अरे, तुम रुक गये मालव ? बोलो, हाँ, चलने दो वह वाग्धारा—फिर क्या होगा ?"

मालव कामसेनाके व्यंग्यसे कुछ झेंप गया । उसे स्मरण हो आया कि वह उसे प्रगल्भ कहती है और वह अभी-अभी बहुत-कुछ कह चुका था । कामसेना उसकी ओर अब भी वैसे ही देख रही थी जैसे बालिका अपने खिलौनेको देखती है ।

"कब क्या होगा ?"—मालवने पूछा ।

"वही, मैं पूछती हूँ—क्या होगा तब, जब शुतुद्रु और सिन्धुमें मेरे लिए युद्ध ठन जायेगा ? तब क्या सिन्धु मुझे उदरस्थ कर लेगा ? अथवा मैं शुतुद्रुकी लहरियोंपर खेलूँगी ?"

"अरे, नहीं, नहीं, कामसेने, सिन्धु कैसे तुम्हें उदरस्थ कर लेगा ? अथवा शुतुद्रु ही तुम्हें अपनी लहरियोंपर क्योंकर उछालेगा ? और मैं क्यों उछालने दूँगा ? जब सिन्धु और शुतुद्रु दोनोंमें युद्ध ठन जायेगा, मैं अपनी बाहुओंकी दोला बना तुम्हें उनपर झुलाऊँगा—इस प्रकार।" हँसते हुए मालवने कामसेनाको झट अपनी भुजाओंपर उठा लिया और लगा उसे दोलाकी भाँति झुलाने।

"इस प्रकार, इस प्रकार...."—मालव कहने लगा, फिर वह लगा प्रकोष्ठ-पृष्ठपर नाचने।

कामसेना जोरसे हँस पड़ी। आकाशमें सुदर्शन चन्द्र पूर्ण बिम्बसे मालव का यह कौतुक देख रहा था। प्रकोष्ठके पृष्ठ-तलपर सुरम्य कौमुदी छिटक रही थी। कामसेनाके अंग-अंगमें गुदगुदी उठ रही थी। मालवकी विशाल भुजाओंसे धर्षित गणिका सुकण्ठकी शक्तिकी तुलना अमोघवर्षकी ललित-कला-व्यंजक भावनाओंसे करने लगी। दोनोंमें असाधारण वैषम्य था—एकमें थी कामजनित तृप्ति, दूसरेमें सन्तोष-जनित पीड़ा।

जब मालवको वज्जिराज्यके कर्मचारीने 'विनिश्चय-महामात्रों'का लिखित आज्ञापत्र दिया, सुकण्ठ कुछ घबरा उठा। आज्ञापत्रमें उसको कामसेनाके साथ न्यायालयमें उपस्थित होनेका आदेश था। नागरिक अमोघवर्षने मालवके विरुद्ध उसकी प्रेयसी बलपूर्वक छीन लेनेका अभियोग उपस्थित किया था। अमोघवर्षको अपना अभियोग मालवके विरुद्ध प्रमाणित करना था और मालवको अपनेको निरपराध सिद्ध करना था।

कामसेनाने मालवसे कहा, "सुग्रीव, तुम वज्जियोंके नियम-व्यवहार नहीं

जानते इसी कारण घबराते हो, उस अभियोगमें कुछ भी नहीं रखा है।"

मालव सर्वथा आश्वस्त था। केवल कभी-कभी उसे भय होता, कहीं कामसेना उसके हाथसे न निकल जाये। उसके सहचर अवश्य उसके अर्थ चिन्तित थे।

प्राड्‌विवाकने अमोघवर्षका पक्ष स्वीकार करनेमें आपत्ति की। उसने कहा, "जबतक कामसेना तुम्हारी ओरसे वक्तव्य नहीं करती और मालवको अपने प्रासादमें रखती है, इस बातको स्वीकार करना कठिन है कि मालवने उसकी अनिच्छासे उसे शक्तिपूर्वक ले लिया है।" उसने मालव और कामसेनाकी ओरसे न्यायालयमें उपस्थित होनेकी स्वीकृति दे दी।

'विनिश्चय-महामात्र' अभियोग स्वीकार न कर सके। कामसेनाने स्वेच्छासे मालवको ग्रहण करना स्वीकार किया। उसने यह भी कहा कि वह अपना अधम व्यापार त्याग मालवका चिरसख्य ग्रहण करेगी, वज्जि-राज्य छोड़ पंचनद-मालवोंमें जा बसेगी।

'विनिश्चय-महामात्रों' ने मालव और कामसेनाको अपनी रुचिके अनुसार कार्य करनेकी अनुमति दे दी। साथ ही उन्होंने विदेशी नागरिक और वज्जि नागरिकोंपर अकारण दोषारोपण करनेका अमोघवर्षपर अभि-योग लगाया। अमोघवर्षने वज्जि-संघके अधिवेशन तक अभियोगको स्थगित रखनेकी अनुमति माँगी। वज्जि-संघका विशिष्ट नागरिक होनेसे राजुकको वह अनुमति मिल गयी।

कामसेनाके पंचाल जानेकी बात सुन वज्जियोंमें कुहराम मच गया। कामसेना उनके विलासका उपकरण थी, व्यसनकी विभूति, उनके रूप-गौरवकी मर्यादा। विदेह नागरिकोंका इस विषयमें लिच्छवि नागरिकोंसे

सर्वथा एकमत था। राजुक सामन्त सभी इस बातको सुनकर व्यथित हो उठे। 'विनिश्चय-महामात्रों'के विरुद्ध एक आन्दोलन-सा खड़ा हो गया। उसे अमोघवर्षने और भड़का दिया। क्रान्ति-सी मच चली।

आज वैशालीमें विशेष समारोह है। संवज्जि-संघका आज ग्रीष्मान्त अधिवेशन है। इस अधिवेशनका कार्यक्रम दीर्घ है और संघको बड़े महत्त्व-पूर्ण प्रश्नोंपर विचार करना है। पावाके मल्लोंपर कोसलके राजा प्रसेन-जितने आक्रमण किया है, मल्लोंका दूत आया है। मगधराजकी वैशालीपर आक्रमणकी तैयारियोंका पता चला है। राजुक अमोघवर्षके मालवपर किये अभियोगकी 'ज्ञप्ति' है। स्वयं राजुक अमोघवर्षपर उपराजाका संघकी ओरसे अभियोग है।

घण्टोंका शब्द सारे नगरको शब्दायमान करने लगा। यह संघके राजुकोंको संघ-भवनमें एकत्र होनेकी सूचना थी। पूर्वाह्णके अन्त तक संघ-भवन राजुकोंसे भर गया, बाहरका सुविस्तृत मैदान वैशालीके नागरिकोंसे।

भवनके भीतर 'आसन-प्रज्ञापक' ने भद्रपीठोंकी परीक्षा की, फिर 'गणपूरक' ने राजुकोंको एकत्र कर बैठाया। संघका कार्य्य प्रारम्भ हुआ।

राजाने उठकर अपने दक्षिण ओरके आसनपर बैठे मल्लोंके दूतकी ओर संकेत कर कहा, "ये मल्ल-संघके दूत हैं। इनके द्वारा मल्ल-संघका यह पत्र आया है।"

राजाने अपने हाथका पत्र पढ़ा—"वज्जि-संघको मालव-संघकी स्वस्ति। कोसलने मल्ल-भूमिपर आक्रमण किया है। ऐसे अवसरपर मल्ल-संघने गणतन्त्रोंकी स्वत्व-रक्षाके लिए युद्ध ठान दिया है। साम्राज्य जिस प्रकार नागरिकताको नष्ट कर व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यका विध्वंस करते हैं वह वज्जि-

संघको पूर्णतया विदित है। वास्तवमें यह मल्ल-कोसल युद्ध नागरिकता और साम्राज्यका युद्ध है, स्वतन्त्रता और शक्तिका। साम्राज्यकी प्रान्त-लोलुपता एवं प्रसर-लिप्सा वज्जि-संघसे छिपी नहीं है। यदि उसके विरुद्ध प्रयत्न न किया गया तो शीघ्र नागरिक जीवनका अन्त हो जायेगा और इसका उत्तरदायित्व वज्जि-संघपर भी कुछ कम न होगा। वज्जि-संघसे, वैशालीके एक लक्ष अड़सठ सहस्र नागरिकोंसे हमारी यह प्रार्थना है कि वह इस आपत्तिमें हमारी सहायता करे। इसके साथ मल्ल-संघ भी घोषित करता है कि इस सहायताके बदले वज्जि-संघ जब जिस प्रकारकी सहायता चाहेगा वह देगा। शुभमस्तु।"

राजा बैठ गया। भवनके राजुकोंमें खलबली मच गयी।

एक राजुकने उठकर पूछा, "क्या संघकी ओरसे इसके उत्तरमें कोई 'ज्ञप्ति' है?"

राजाने उठकर कहा, "हां।" फिर उसने उपराजाको 'ज्ञप्ति' और 'प्रतिज्ञा' प्रस्तुत करनेका संकेत किया।

उपराजाने उठकर कहा, "सम्मानित संघ मेरी प्रार्थना सुने। यदि संघ इसके निमित्त उपयुक्त काल समझे तो सुने। यह 'ज्ञप्ति' है।"

उपराजा चुप हो रहा। संघ मूक था।

उपराजाने पुनः कहा, "संघ मूक है, सो मैं समझता हूं मेरी 'ज्ञप्ति' स्वीकृत हुई। सम्मानित संघ मेरी 'कम्मवाचा' सुने। यह मेरी 'प्रतिज्ञा' है—'मल्ल-संघका पत्र वज्जि-संघने पढ़ा। वह मल्ल-संघका प्रस्ताव स्वीकार करता है। साथ ही विचक्षण राजुक महत्तकको विशिष्ट दूत बना उसके द्वारा मल्ल संघको यह प्रार्थना भेजता है कि वह वज्जि-संघके साथ मिलकर एक प्रबल मल्ल-वज्जि-गणतन्त्र स्थापित करे। इस गणमें दोनों संघोंके नौ-नौ प्रतिनिधि हों। दोनों कोसल और मगधके प्रसर एवं आक्रमणका सामना करें। वज्जि-सेनापति वैशालीके तीनों प्राकार-वेष्ठनोंपर शतघ्नियोंको चढ़ाकर मूलकी रक्षाका प्रबन्ध करे और वज्जियोंकी आधी

सेना लेकर पावाकी ओर कोसलोंके विरुद्ध प्रस्थान करे। यह लिखकर मल्ल-संघको प्रेषित किया जाये।' जो राजुक इस प्रतिज्ञाके विरोधमें हो वह बोले, जो पक्षमें हो वह मूक रहे।"

संघ मूक रहा।

उपराजाने फिर 'प्रतिज्ञा' पढ़ी। संघ फिर चुप रहा। तृतीय बार पढ़नेके उपरान्त उपराजाने कहा, "तीन बार मैंने 'प्रतिज्ञा' पढ़ी, तीन बार संघ चुप रहा। मैं समझता हूँ संघने इसे स्वीकृत किया।"

संघ फिर चुप रहा। प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

राजुक अमोघवर्षने 'ज्ञप्ति' की। वह स्वीकृत हुई। उसने अपनी प्रतिज्ञा रखी—"सम्मानित संघ मेरी 'कम्मवाचा' सुने। यह मेरी 'प्रतिज्ञा' है—विदेशी सुकण्ठ मालवने वज्जि-नागरिकसे उसकी प्रेयसी छीन ली है। संघ उसका विचार करे। जो विरोधमें हो बोले, जो पक्षमें हो चुप रहे।"

राजाने आपत्तिमें पूछा—"क्या इस विषयपर 'विनिश्चय-महामात्रों'का निर्णय नहीं हो चुका है?"

प्रस्तावक बोला, "हो चुका है। 'पवेनि-पुत्थकों'में उसका उल्लेख भी हो चुका है।"

"तब संघ इस प्रश्नपर विचार नहीं कर सकता। यदि अभियुक्त उस निर्णयसे सन्तुष्ट नहीं तो वह 'व्यवहारिकों'के निकट प्रार्थना करे। वहाँसे वह 'सूत्रधारों' अथवा वहाँसे भी 'अष्टकुलकों'के निकट निवेदन कर सकता है। संघमें यह 'कम्मवाचा' अव्यवस्थित है।"—राजाने कहा।

"परन्तु क्या 'राजुक' के सम्बन्धमें भी संघका यही निर्णय होगा?" अमोघवर्षने पूछा।

"निस्सन्देह, क्योंकि वज्जि-संघ व्यवहारके अधिकारोंमें 'नागरिक' और 'राजुक'में भेद नहीं करता।" राजाने शक्तिपूर्वक कहा।

संघ चुप था। राजुक अमोघवर्षकी 'प्रतिज्ञा' गिर गयी।

उपराजाने उठकर 'ज्ञप्ति' की। संघने उसे स्वीकार किया। उसने

'प्रतिज्ञा' प्रस्तुत की—"सम्मानित संघ मेरी 'प्रतिज्ञा' सुने। यह मेरी 'प्रतिज्ञा' है—'वैशालीके राजुक गणपूरक अमोघवर्षने संवज्जि-संघके प्रमुख-लेखकको स्नेह, धमकी और दान-विधिसे कर्तव्यच्युत करनेका प्रयत्न किया। संघ उसपर विचार करे।' जो विरोधमें हो बोले, जो पक्षमें हो चुप रहे।"

राजुक अमोघवर्षने संकेत किया। कई राजुक उठे।

एकने विरोध करते हुए 'प्रतिज्ञा' की कि यह कार्य एक उपसमितिको सौंपा जाये। राजा और उपराजाने इसपर आपत्ति की। मत लेनेकी आवश्यकता पड़ी। अमोघवर्षके एक दूसरे मित्रने प्रस्ताव किया कि मुख्य प्रतिज्ञा संघके उपराजाकी है, अतः सम्भव है कुछ राजुक भयसे उसका साथ दे दें। न्यायपूर्ण निर्णयके अर्थ 'छन्द' शलाकाओंसे लिये जायें। तब गुह्य 'छन्द'के अर्थ उसी राजुकने प्रस्ताव किया कि राजुक अनंग 'शलाका-ग्राहक' नियुक्त हों। राजुक अनंग 'शलाका-ग्राहक' हुए। 'छन्द' लिये जानेपर उपसमितिके पक्षमें बहुमति सिद्ध हुई। संघने उपसमितिका निर्माण कर राजुक अमोघवर्षके अभियोगका विचार-कार्य उसे दे दिया।

वज्जि-संघका दूत मल्ल-संघको चला।

कामसेनाके आचरणने वैशालीमें उथल-पुथल मचा दी थी। राजुक अमोघ-वर्षपर लगाये अभियोगने अग्निमें घी डाल दिया। उसने स्वयं उसे हवा दे-देकर भड़काया।

इधर एक विचित्र घटना घटी। पंचनदकी ओर जाते हुए सुकण्ठ और कामसेनाको मल्लोंके विशाल पावापथपर अमोघवर्षने दुर्द्धर्ष आटविकों-की सहायतासे लूट लिया। कामसेनाकी रक्षामें व्यस्त मालव मारा गया। कामसेनाने उसी समय आत्महत्या कर ली। लूटके रत्न और धनकी प्राप्ति-के पथमें अमोघवर्षको कण्टक जान आटविकोंने उसे भी मार डाला।

वैशालीमें कुहराम मच गया। चारों ओर समाचार फैल गया कि मल्लोंने पावापथपर मालव, कामसेना और अमोघवर्षको मारकर उनका धन लूट लिया है। कहाँसे यह संवाद उठा, यह किसीको ज्ञात नहीं, परन्तु किसी अनजाने आधारसे उठ-उठकर संवाद वैशालीके कोने-कोनेमें गूँज उठते और वज्जि-संघका वातावरण, क्षोभ और क्रोध, ईर्ष्या और हिंसाकी अग्निसे जल उठता।

यह समय वज्जि-संघके बड़े संकटका था। संघके अधिवेशनोंमें नित्य वाद-विवाद चलते, नित्य दाह और झगड़ोंकी नौबत आती। संघकी दुर्भेद्य दीवारें टूट चलीं, सारे गोपनीय भेद खुल पड़े। राजुक राजुकका शत्रु हो गया। वज्जि-संघमें किसीने प्रस्ताव किया कि मल्लोंने ही अमोघ-वर्ष और कामसेना-जैसे वज्जि नागरिकोंको और मालव-सरीखे अतिथियोंको मारा है, अतः उनपर वज्जि-संघ आक्रमण करे। 'प्रतिज्ञा' बहुमत स्वीकृत हो गयी। सेनापतिको मल्लोंपर आक्रमण करनेकी आज्ञा मिली। मल्ल-वज्जि-गण नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

युद्ध ठन गया। विचित्र युद्ध—तीन मोरचोंवाला। इसी समय अजातशत्रुने वैशालीपर आक्रमण किया सो एक मोरचा गंगाके उस पार गंगा-शोणके संगमपर था, दूसरा मल्लोंसे पश्चिमकी ओर चल रहा था। उधर मल्लोंपर भी गहरा संकट था। पूर्वकी ओरसे लिच्छवि-विदेहोंका आक्रमण था, दूसरी ओर कोसलकी चोट। दोनों संघ-राज्य छिन्न-भिन्न हो रहे थे। दोनों साम्राज्य सोल्लास चोटें कर रहे थे।

वज्जि-संघके मागध मोरचेपर संघका वयोवृद्ध सेनापति गंगाके उस पार डेरा डाले पड़ा था। दिन-रात युद्धका ताँता लगा रहता। दोनों ओरके चर बराबर शत्रुपक्षमें भेद डालते, समाचार जाननेके निमित्त छिप-छिपकर चक्कर काटा करते।

सन्ध्याका समय था। पश्चिम आकाश रक्त उगल रहा था। गंगा-शोण-संगमपर प्रलयंकर समरका वेग सन्ध्याके कारण अभी-अभी थमा था। वज्जि-संघके सेनापतिका शिविर सामन्तोंसे भर रहा था। इसी समय एक घायल मागध दौड़ता हुआ आकर सेनापतिके चरणोंमें गिर पड़ा। बाणोंसे उसका तन छिद गया था।

वह मागध नहीं था।

उसने स्वयं कहा, "श्रीमन्, यह युद्ध वंचक है, मल्लोंसे समर अनुचित, अकारण है।"

सामन्तोंके साथ ही सेनापतिकी मुद्रा गम्भीर हो उठी। उसने पूछा, "मागध, तू यहाँ किस साहससे आया?"

आहतने कहा, "श्रीमन्, मैं मागध नहीं हूँ। मैं हूँ वज्जि-संघका चराध्यक्ष—विद्युत्।"

आश्चर्यसे सब चकित रह गये। सेनापतिने देखा—विद्युत्के शरीरसे रक्त प्रवाहित हो रहा है।"

वह मागधोंका बन्दी था, बन्धनसे निकल भागा था। सेनापतिने उसका अन्त निकट जान पूछा, "क्या संवाद है?" फिर शीघ्र वैद्यको बुला भेजा।

विद्युत् केवल इतना कह सका—मैंने राजगृहकी मन्त्रणामें सब सुना। सुना—"सुकण्ठ मालव मगधराजका सम्भेदक चर था।"

३० अगस्त १९४०
प्रातः ७—१०, सायं ६-८

वह कौन था ?

[प्रस्तुत कहानीकी भूमि सामाजिक क्रान्तिका क्रीड़ा-क्षेत्र है—क्रान्तिकारी एक राजन्य परिव्राजक। उसके जीवनका आरम्भ सत्य-की खोजसे, मध्य उसकी प्राप्तिसे, और अन्त उसके दानमें होता है। सारा एक अटूट संवेग प्रवाह है। प्रेम और सहानुभूति परिव्राजकके सम्बल हैं, दया और अहिंसा उसके साधन, सम्प्राप्ति और विसर्जन उसके उद्देश्य।]

—वह कौन था ?

राप्ती रोहिणीके मध्य फूली लुम्बिनी चमक उठी। देवदहके मार्गमें माया खड़ी थी, शालभंजिकाकी मुद्रामें। लुम्बिनी अघा गयी, शाल फूल उठा।

सद्योजातने सप्तपग लिये, पग-पगपर पुण्डरीक हँसा। शक्रने उसे उठा लिया, कल्पतरुओंके कुसुमजालपर। देवोंने मन्दारस्तवकोंसे चमर झेला। सद्योजात हँसा।

प्रजापतीने मायाका अनुराग दिया।

असित-नारद झुके, असित भी, नारद भी—पिताके आशीर्वादको, तनयके अभिवादनको।

"बत्तीस लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन—सार्वभौम !"

शुद्धोदन पुलकित हो उठे। असित शंसित था, नारद प्रसन्न।

"सार्वभौम ?"—शाक्य-राजने पूछा। स्वरमें मोद था, हृदयमें उल्लास।

"सार्वभौम सम्राट्"—असित हँसा।

भागिनेय नारद हँसा, विश्वामित्र, राजा, सभासद् हँसे।

"सार्वभौम परिव्राजक"—असित फिर हँसा।

भागिनेय फिर हँसा, विश्वामित्र मूक हो रहा, राजा जिज्ञासु, सभासद् मूढ़।

"भागिनेय, तू भाग्यवान् है, सुनेगा। मैं हूँ अभागा—अ-सित"—असित रो पड़ा।

असितके साथ जाते हुए उसके भागिनेय नारदको राजाने रोक लिया।

वेदनाका सहचर था वह कुमार—महानुभवी।

सुखमें सब दूर थे, परन्तु दुःखमें वह साथ था—सबके।

वेदनासे रोते हुओंके आँसुओंसे उसके आँसू मिले।

क्षणिक सुख उसे रिझा न सका। तृष्णा हँसी पर स्वयं लजा गयी।

उसे पाना था जीवोंका एकाकी सुख—एकाकी, द्वन्द्वचक्रसे रहित।

वह बैठा था।

वह बैठा था, सन्तप्त व्यथित। कुछ देर पूर्व वह आ बैठा था स्वच्छ पुष्करिणीके सोपानमार्गपर। हिलती हुई लहरियोंपर उसके किरीटकी छाया हिल रही थी, झुक-झुक। छाया लहरियोंपर उछलती, झुकती। लहरियाँ बढ़कर फैल जातीं, समीपके पद्मपत्रोंकी छायामें खो जातीं, उनके हिलते नालोंके मध्य। उन्हीं पत्रोंपर दृष्टि स्थिर-सी हो गयी थी। उनमें-से एकका विस्तार-छत्र बड़ा था। उसका एक भाग कुछ उठा-सा था।

वायुका एक हल्का, कुछ दृढ़तर, झोंका आया। पद्मपत्रके उठे भागसे

कुछ जलमें गिरा—भुरभुर। किरीटमण्डित मस्तक कुछ आगे झुका—आगे, उस पद्मपत्रके उठे किंचित् पीत भागपर। नीलाम्बुज-श्याम विशाल नेत्रोंने देखी—एक विशाल विश्वकी संसृति, सुना—एक विस्तृत ब्रह्माण्डका परुष कोलाहल, सृष्टिके प्रजनन, प्रसार, प्रलयकी झंकृति—असंख्य कृमि अपनी कुटिल काया विस्तृत-संकुचित करते उमड़ रहे थे। नीचेके मात्स्य-न्यायका ऊपर प्रतिबिम्ब था। एक अपेक्षाकृत विशाल कृमि उस संघट्टके बीच उलट रहा था।

किरीटमण्डित मस्तक फिर गया—घृणासे, व्यथित।

वह बैठा था सन्तप्त, व्यथित।

उसने कहा, "क्या यहाँ भी? स्रष्टाके सूर्यरूपी खुलती हुई दृष्टिके नीचे ही?"

उसने उदय होते सूर्यकी ओरसे दृष्टि फेर जलमें डाली—वहाँ जीवोंका कोलाहल सुना, घर्षणका वेग देखा। अपने भीतर उसने दृष्टि घुमायी—

"क्या वहाँ भी वही कोलाहल है, वही घर्षण?" उसने पूछा।

निस्तब्ध वह बैठा था, नीरव, सन्तप्त, व्यथित। चिबुक वक्षपर टिका था। बाहर समुद्र शान्त था, प्रशान्त, परन्तु भीतर भयंकर कोलाहल था।

समीपके बाल-कदलीपर शब्द हुआ। कुमारने मस्तक उठाया—कदली-पत्र और यष्टिकी सन्धिपर बाणविद्ध क्रौंच तड़प रहा था। कुमारके नेत्र चमके, फैल गये।

वह उठा। उसने क्रौंचको उठा लिया। धीरेसे बाण खींच उसने पुष्करिणीका जल उसपर डाला। क्रौंच-पंख फड़फड़ा उठा। वेदनासे उसने अपने नेत्र बन्द कर लिये। कुमारकी आँखें भी मुँद गयीं। सहवेदनासे उसका हृदय टूक-टूक हो गया। क्रौंच हाथमें फड़का। कुमारके नेत्रोंमें जल भरा था।

निकटकी छाया देख उसने दृष्टि उठायी—दृष्टि-पथमें आखेटकको

मूर्ति आ अटकी। आगन्तुकके सुपुष्ट वामस्कन्धके ऊपर, पृष्ठभागमें तूणीरके मुखसे कंकपत्र झाँक रहा था। प्रत्यंचा चढ़ा धनुष उसी स्कन्धसे लटक रहा था, दाहिने करके बाणकी नोंक उँगलियाँ घर्षित कर रही थीं। वक्षका छोटा-सा पुष्पहार अभी कुछ ही धूमिल हुआ था।

आखेटककी मूर्ति मानवी थी, देवदत्तकी। प्रसन्न, श्रमित, तुष्ट।

कुमारने घृणासे दृष्टि फेर ली।

देवदत्त बोला, "कुमार, क्रौंच मेरा है।"

कुमारने फिर दृष्टि उठायी।

बोला, "लुब्धक! किरात!"

"विश्वामित्र-कुलपतिके अनुसार ये शब्द सभ्य नहीं, कुमार। शाक्यकुमारके सर्वथा अयोग्य।"—देवदत्त विहँसकर बोला।

कुमारने फिर अपनी दृष्टि तड़पते क्रौंचपर डाली। फिर जलकी कुछ बूँदें उसके नेत्रोंपर डालीं, कुछ उसकी चंचुमें।

देवदत्तने फिर कहा, "कुमार, क्रौंच मेरा है।"

कुमारने अपने प्रशस्त ललाटसे स्वेद-नीहारिकाओंको पोंछ लिया।

देवदत्तने कुछ सस्वर कहा, "कुमार! क्रौंच मेरा है।"

कुमारके होंठ फड़के, शब्द हुआ—"मृत क्रौंच तेरा, जीवित मेरा।"

उसने दृष्टि फिर क्रौंचपर डाली। रक्तका प्रवाह बन्द हो चला था। परन्तु पूर्वका निकला रक्त उसके जलसे मिलकर नखोंको लाल कर रहा था। उसने दूसरे करमें क्रौंचको ले अपने नख धो लिये।

देवदत्त कुमारकी शान्तिसे जल उठा।

उसने तीव्र स्वरमें पुकारा—"कुमार!"

कुमारने सवेग उसकी ओर दृष्टि फेरी। पूछा, "क्या?"

"दे दो मेरा क्रौंच"—क्रोधसे आरक्त देवदत्त जल उठा।

"यमसे माँग अपना क्रौंच, देवदत्त।" कुमारने सवेग उत्तर दिया।

मैं ले लूँगा।"—देवदत्त अड़ गया।

"ले ले, यदि शक्ति है" । कुमारने ललकारा ।

देवदत्त उसकी ओर बढ़ा ।

कुमार सरोष उसकी ओर घूम पड़ा । साथ ही कदलीके झुरमुटमें शब्द हुआ और तीन सशस्त्र सैनिक कुमारके निकट आ खड़े हुए । ये शुद्धोदन-द्वारा नियुक्त कुमारके रक्षक थे जो उसके अनजाने सदा साथ लगे रहते थे । देवदत्त सहम गया ।

वह सभा-भवनकी ओर चला । कुमारने उसका अनुसरण किया ।

वेत्रधरने सस्वर सूचित किया—कुमार देवदत्त, कुमार गौतम !

उसका शब्द अभी गूँज रहा था जब देवदत्तने प्रवेश किया । कुमार उसके पीछे था, क्रौंचको हृदयसे लगाये ।

प्रवेश करते ही देवदत्तने सभामें न्याय-याचना की ।

राजाने पूछा, "क्रौंच किसने मारा ?"

प्रसन्न देवदत्त बोल उठा—"मैंने ।"

कुमार स्थिर, गम्भीर स्वरमें बोला, "जिलाया मैंने !"

सभा निस्तब्ध थी ।

कुमारने पूछा, "क्रौंच मारनेवालेका या जिलानेवालेका ?

सभ्य निःशब्द थे । कुमारके शब्द देर तक सभा-भवनमें गूँजते रहे ।

कुलपतिके आश्रममें उपनीत कुमारने पढ़े—कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा, चारों वेद ?

उसके हृदयको शान्ति न मिली । न उसकी जिज्ञासाको उत्तर मिला ।

"मनुष्य—जीव—दुःखी क्यों?"—उसने पूछा । ग्रन्थोंसे उसको उत्तर न मिला । तर्कने तृप्ति न दी । विद्या निरर्थक सिद्ध हुई । जिस ज्ञानमें व्याधियोंका शासन नहीं, जरा-मरणका अन्त नहीं उससे लाभ क्या ? उसने तपोवन छोड़ दिया । उसका समावर्तन हुआ ।

पिताने अनुनय की । विरागी गृहस्थ बना—मातुल-कन्या यशोधरा

देवदहसे आयी, शृंगारका मद लिये, सौन्दर्यकी शक्ति लिये, यौवनका आसव लिये।

न जीत सकी। शृंगार-बेलि मुरझा गयी, सौन्दर्य शृंगारके अवलम्ब बिना निर्बल हो गया, यौवन अकेला बावला हो गया। कुमार बना रहा—एक जिज्ञासु, अधीर, आमोद-प्रमोदसे दूर, संयत।

उसे जाना था, उस अट्ठाईस वर्षके युवाको।

प्रबन्ध पूरा हो चुका था, शक्ति दृढ़ थी।

यकायक कपिलवस्तुके विपुल घण्टे बज उठे। तूर्य और दुन्दुभियोंके नादसे नगर व्याप्त हो उठा, शंखध्वनिसे गगन गुंजायमान।

दासीने उल्लास-भरे शब्दोंमें कहा, "शुभ हुआ—तनय !"

सशंक युवा बोला, "अशुभ हुआ—राहुल !"

व्यंग्य आदेश हुआ—शुद्धोदनने सद्योजातको पुलकित हो पुकारा—राहुल !"

वह चला। चलते हुए उसने एक बार शयन-कक्षमें झाँका दासियाँ, सखियाँ, जहाँ-तहाँ पड़ी थीं, उनके वस्त्र खुले थे—अस्त-व्यस्त। बलती दीपशिखा-सी सोती थी—वह कोलिय दण्डपाणिकी गोपा, कपिलवस्तुके शाक्य-प्रासादकी कौमुदी यशोधरा, शिशुके मस्तकपर अभयका हाथ रखे, अपने आराध्यदेवको स्वप्नमें सोचती, रोकती।

स्वजन न रुका।

मार्तण्ड-सरीखा शिशु एक बार जनकके अन्तरमें चमका। उसने उसे खींचा—सहस्र करोंसे।

न रुका स्वजन।

संसारका स्वजन चल पड़ा—रोते विश्वके आँसू पोंछने।

यह महाभिनिष्क्रमण था।

कपिलवस्तु जागा।

महामणि खो चुकी थी।

कोलिय छूट गये, पावा भी छूटी। अनामाके पार महायात्रीने खड्गसे अपनी लम्बी शिखा काट ली, घुँघराले केश भी न रहे। छन्दकके वस्त्रोंके भाग्य फिरे। रत्नमय वस्त्राभूषण करमें लिये छन्दक देखता रहा। और कन्थक?

वह भी देखता रहा, जबतक उसका स्वामी वैशाली राज्यकी सीमाके उपवनोंमें न खो गया।

अलार कालामके तपोवनमें तीन सौ ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे। उपनिषद् और दर्शन मँज गये परन्तु जिज्ञासा जगी रही। आकिंचायतन धर्ममें मानुषिक क्लेशोंके शमनका उत्तर न था।

सुखकी खोजमें यात्री फिर चल पड़ा—राजगृहकी ओर—प्रकाण्ड दार्शनिक उद्दक रामपुत्तके निकट।

गरिव्रजके भग्नस्तूपपर बिम्बिसारका बसाया राजगृह खड़ा था, गौरवसे मस्तक उठाये।

यात्री उधरसे निकला जिधर मागध शैशुनाग—श्रेणिक बिम्बिसार—उसके तेजस्वी मुखमण्डलको देख चकित रह गया। उसने सारा मगध उसके चरणोंमें रख दिया।

यात्री हँस पड़ा।

"शाक्योंका राज्यविस्तार विलासके अर्थ प्रचुर है, राजन्, और पिताके स्नेहका राज्य उससे कहीं विस्तृत है, और यशोधराके स्वप्नका उससे भी।" वह बोला—पूर्ववत् हँसता हुआ।

श्रेणिकने मस्तक झुका लिया।

यात्री फिर चल पड़ा।

प्रातः यागके समय जब वह उद्दक रामपुत्तके आश्रममें पहुँचा सप्तगत दीक्षितोंके कण्ठोंसे विनिर्गत ब्रह्मघोष वनप्रान्तको कम्पायमान कर रहा था। वह भी दीक्षित हुआ।

जिज्ञासा बनी रही। उसके उद्विग्न हृदयमें उठते प्रश्नोंका उत्तर उद्दकके पास न था।

वह बोला, "श्रद्धा, वीर्य, समाधि और स्मृति प्राप्त कर चुका। परन्तु इनसे निर्वाणकी शान्ति न मिल सकेगी। मैं करूँगा प्रज्ञासे साक्षात्कार।"

महापथपर वह चल पड़ा।

इस बार वह अकेला न था। पाँच और ब्रह्मचारी—पंच भद्रवर्गीय—भी उसके साथ चले।

कहाँ?

....जहाँ वह घोर तप कर सके।

वह राजगृहकी ओरसे खड़ी पर्वतश्रेणी लाँघकर उस पार उतर गया—गयाके महाकान्तारमें।

निरंजनाके तटपर यात्री रुका।

घोर तप प्रारम्भ हुआ। षड्वर्षों तक यह तप चलता रहा। काया क्षीण हो गयी, आकार मूर्तिवत् अवसन्न हो रहा। शरीर-पंजर कंकाल-मात्र रह गया। चेतना नष्ट हो गयी।

उरुबिल्वकी नर्तकियाँ नाचीं।

उन्होंने गाया—"वीणाके तारोंको ढीला न करो—नहीं वे न बजेंगे, और देखो, उन्हें अधिक न कसो—नहीं वे टूट जायेंगे।"

ध्वनि रोम-रोममें झंकृत हो उठी—"वीणाके तारोंको ढीला न करो—नहीं वे न बजेंगे। और देखो, उन्हें अधिक कसो भी नहीं,—नहीं वे टूट जायेंगे।"

तप छूट गया। भोजनकी खोजमें वह चला। निरंजनामें स्नान कर

वह वृक्षके नीचे आसन मार बैठा। श्रेष्ठिकन्याने उसके विस्मयजनक मुखको देखा। उसे वृक्षका देवता जान सुजाताने खीर खिला दी। पंच-भद्रवर्गीय पेटू-परिव्राजकको छोड़ चले—पश्चिम, वाराणसीके निकट मृगदावको।

एक दिन वह अश्वत्थके नीचे विचारमग्न हो बैठा। तृष्णा, विलास, व्यसनोंने प्रचण्ड आक्रमण किया। वह विचलित न हुआ। मार भी अपनी सेनासहित पहुँचा—उसकी कन्याएँ—तृष्णा, आरति, रति—भी असफल रहीं। उसने पृथ्वीका स्पर्श कर उसे साक्षी बनाया—मार विजय की, उरुबिल्वके निकट। महाबोधिके नीचे उसने प्राप्त की—सम्यक् सम्बोधि।

आषाढ़की पूर्णिमा थी। जब मारके मेघ छँट गये उसने स्पष्ट देखा—आर्य सत्य, अष्टांगिकमार्ग—और इनके ऊपर—मज्झिम पटिपदा—मध्यम मार्ग—वीणाके वे तार जो न बहुत खिंचे हों न बहुत ढीले, न उनके टूटनेका भय हो न बजनेमें शंका।

बुद्धने पाया, अब वह देगा।

चला वह पंच-भद्रवर्गीयोंकी खोजमें मृगदाव।

उसे आता देख एकने कहा—भिक्षु आता है, हम उसे प्रणाम न करें, उसका कमण्डलु न लें, उसको आसन न दें।

भिक्षु पहुँचा। उसका देदीप्यमान मुख आकर्षक था। विस्मित ब्रह्मचारी खिंच गये। किसीने कमण्डलु लिया, किसीने आसन दिया। सबने अभिवादन किया।

उसने कहा, "मैं हूँ सम्यक् सम्बुद्ध।"

उसने धर्मचक्रका प्रवर्तन किया—"भिक्खुओ, मार्ग दो हैं—अत्यन्त विलासका, अत्यन्त तपका। एक तीसरा मार्ग है, तथागतका देखा—मध्यका, न अत्यन्त विलासका, न अत्यन्त तपका।"

भिक्षु सम्प्रदाय जन्मा, संघ पनपा।

सारिपुत्त, मोग्गलान आये।

उसने कहा—भिक्खुओ, सत्यका विस्तार करो, एक-एक पृथक् प्रदेश-में जाकर।

कपिलवस्तुका निमन्त्रण ग्रहण कर संघ वहाँ पहुँचा न्यग्रोध-काननमें।

प्रात: वह भिक्षापात्र लेकर नगरके राजमार्गपर निकल पड़ा। शाक्य-राज दौड़े। दिव्यमूर्ति देख मस्तक झुक गया, स्वत:, अप्रयास। ग्लानि हुई—

पूछा, "यह क्या पुत्र, पिताके राज्यमें पुत्रकी भिक्षा?"

"राजन्, तुम राजाओंके वंशधर हो, मैं भिक्षुओंका।"—उत्तर मिला।

स्तम्भित राजाने जाना वह उसका पुत्र नहीं, विश्वका जनक है।

सारा कपिलवस्तु टूट पड़ा। यशोधरा नहीं आयी। अड़ गयी—साध्वीका स्वामी उसके घर आयेगा। वह क्या जाने सम्बोधि, क्या जाने प्रव्रज्या—उसका तो वही, आर्यपुत्र, कुमार।

वह वहाँ पहुँचा—यशोधराके भवनमें—सारिपुत्त, मोग्गलानके साथ।

उसने भिक्षापात्र बढ़ा दिया।

यशोधरा रोयी, फिर हँसी, बोली—"अवश्य। भिक्षा दूँगी, सर्वश्रेष्ठ वस्तु सर्वप्रिय।"

उसने राहुलको उठाकर भिक्षाके लिए बढ़े करोंमें दे दिया।

अजन्ताके दरीगृहोंमें उस दृश्यकी छाया पड़ी।

राहुलने पैतृक माँगा—भिक्खु, मुझे पितृदाय दो।

उसने कहा, "सारिपुत्त, राहुलको प्रव्रज्या दो!"

वह मार्गमें चला जा रहा था—विकट वनमार्गमें। अंगुलिमालने

कहा—ठहर जा !

वह रुका। लौटकर वह हँस पड़ा।

उसने कहा, "मैं तो ठहर गया। सम्बोधिके आगे मार्ग नहीं, पर तू कब ठहरेगा ?"

अंगुलिमाल चकित हो गया।

अनन्त-मार्गका पथिक, वह फिर चल पड़ा। आगे भेड़ोंका झुण्ड चला जा रहा था। उसने लँगड़ाते हुए मेमनेको देखा। उसका दयार्द्र चित्त रो पड़ा। उसने उसे कन्धेपर उठा लिया। गड़रिया हँसा।

महात्माने पूछा, "मूक प्राणियोंपर दया न करके भी कोई मनुष्य कह-लानेका अधिकारी हो सकता है ?"

"महात्मन्, मैं धर्म क्या जानूँ।" गड़रिया बोला, "मैं हँसा इसपर कि आप जो मेमनेके तनिक क्षतपर इतने कातर हो उठे हैं उसको महाराज अजातशत्रुके प्रज्वलित अग्निकुण्डसे क्योंकर बचा सकेंगे ? वह तो उनकी मुक्तिका साधन होगा !"

महात्मा रो पड़ा—"एँ ! एक प्राणीका वध दूसरेका मोक्ष-साधक हो !"

वह जा पहुँचा कुणिककी यज्ञशालामें। वहाँ सहस्रों पशु बलिके निमित्त बँधे खड़े थे।

उसने राजासे पूछा, "यह कैसा पशु-समारोह है, राजन् ?"

"यज्ञ सुकर्म, मोक्षसाधक है"—उत्तर मिला।

"यदि प्राणिवध ही मोक्षका साधक है, राजन्, तो इस सम्बुद्ध श्रमण-की यज्ञाहुति करो। मूक प्राणियोंके वधसे क्या प्रयोजन ?"

राजा वह निर्भीक तेजस्वी मुखमण्डल देखता रह गया।

महात्माने एक सूखा तृण उसके सम्मुख फेंककर कहा, "राजन्, इसे तोड़ो तो सही ?"

राजाने उसे चुटकीके कम्पन-मात्रसे तोड़ दिया।

फिर भिक्षुने कहा, "अनन्त समृद्धिके स्वामी, अब तनिक इन टुकड़ोंको जोड़ो तो।"

राजा भिक्षुका मुँह देखने लगा।

महात्माने फिर कहा, "जिसमें एक क्षुद्र तृणको जोड़नेकी सामर्थ्य नहीं उसे असंख्य प्राणियोंके विनाशका क्या अधिकार है? राजन्, यज्ञ भ्रान्ति है, रक्तपात। इसे छोड़ो, निर्वाण-सुखकी लालसा करो।"

वैशालीके आम्रकाननमें संघ ठहरा था। अम्बपालीका था वह आम्र-कानन। जब उसने भिक्षुको भोजनके लिए निमन्त्रित किया उसने स्वीकृति दे दी। अम्बपाली प्रसन्न हो घरको लौटी। भिक्षुको निमन्त्रित करने जाते हुए लिच्छवियोंके रथोंसे सटाकर अम्बपालीने अपना रथ हाँका। गणिकाकी धृष्टतापर वे झुँझला उठे, पर गणिकाका निमन्त्रण संघने स्वीकृत कर लिया था।

जब लिच्छवी-राजा निकट आये, भिक्षुने कहा—जिन भिक्खुओंने तार्वातिंश स्वर्गके देवताओंको नहीं देखा है वे लिच्छवियोंकी इस परिषद्को देखें, इससे देवताओंकी परिषद्का अनुमान करें।

लिच्छवी-देवताओंका गौरव गणिकाके सम्मुख हार गया।

कुशीनाराके साल-वनमें भिक्षु पड़ा था—थका हुआ वह अद्भुत यात्री।

आनन्दने कहा, "प्रभु देह न त्यागें, संघ अभी निर्बल है।"

भिक्षु बोला, "आनन्द, भिक्खु-संघ अब मुझसे क्या आशा करता है? मैंने तो अन्य आचार्योंकी भाँति कोई रहस्य छिपा नहीं रखा—जो पाया उसे मुट्ठी खोलकर दिया। अब संघ मेरे उपदेशोंपर चले।"

जीवक—राजगृहका धन्वन्तरि—विमन बैठा था।

दूर दिगन्तमें रह-रहकर प्रतिध्वनि उठ रही थी—

बुद्धं सरणं गच्छामि।
धम्मं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।

निसर्ग रोता था, पशु-मानव, केहरि-कुरंग। चराचरकी कपालमणि छिन रही थी। संघके भिक्षु और उपासक, भिक्षु और भिक्षुणी सभी रोते थे, कह-कह, गुन-गुन। आज वाचालोंकी जिह्वा ऐंठ रही थी, चेतनोंकी मति कुण्ठित हो रही थी। मानवताका वह विशाल हृदय नीरव, स्पन्दन-हीन हो चला था।

भिक्षु श्रमित था—महापरिनिर्वाणके अनन्त पथपर आरूढ़। उसने नेत्र बन्द कर लिये!

वह कौन था?

३१ अगस्त १९४०
मध्याह्न ११—२.३०



विलासी

[इस कहानीका नायक भारतीय रोमांचक साहित्यका केन्द्र उदयन है। उसके प्रणय और विलासकी कथा एक समय भारतीय विलासियों-के गर्वकी वस्तु थी। उदयनकी प्रणय-क्रीड़ा संस्कृतकी साहित्यिक विभूति-सी हो गयी थी। महाकवि भासने उसे प्रणय-क्षेत्रमें आदर्श मान लिया था और वह इस नृपतिके चरित्रसे इतना आकृष्ट हुआ कि उसने अपने नाटकोंमें-से दोके कथा-भाग उसके ही जीवनसे लिये। 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' दोनोंका सम्पर्क उदयन-से है। कालिदासने भी मेघदूत—'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्'—में इस नृपतिके प्रणयकी ओर संकेत किया है। उसकी कहानियाँ गोष्ठियोंमें कोविद वृद्ध कहते थे जिन्हें नवयुवक प्रेम और उत्सुकतासे सुनते थे। उदयनकी कथा गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा'में और सोमदेवके 'कथासरित्सागर'के लावाणक नामक तृतीय लम्बककी दो तरंगोंमें वर्णित है। उदयन हाथियोंसे बड़ा प्रेम करता था और वीणा बजाने-में अद्वितीय था। उसे वीणा बजाकर गजोंको पकड़नेका व्यसन था। इस व्यसनके कारण ही उसकी वीणाका नाम 'हस्तिकान्त' पड़ गया था। उस समय गणतन्त्रोंके अतिरिक्त भारतवर्षमें चार प्रमुख राज्य थे—१. अजातशत्रुका मगध (राजगृह), २. प्रसेनजितका कोसल (श्रावस्ती), ३. उदयनका वत्स (कौशाम्बी), और ४. चण्ड-प्रद्योत महासेनकी अवन्ती (उज्जयिनी)। इन चारोंमें परस्पर साम्राज्यका शक्ति-संघर्ष सदा होता रहता। जिस चातुरीसे उदयन-को चण्डप्रद्योतने बन्दी किया था वह अद्भुत थी। ग्रीकोंके 'ट्रोज-न्राय-युद्ध' वाले विशाल कृत्रिम अश्वकी भाँति ही कृत्रिम गज-द्वारा वह भी बन्दी हुआ था। उदयनका वासवदत्ताके साथ पलायन एक

मृण्मूर्त्ति-ठीकरेपर शुंगकालीन कलाकार-द्वारा उत्कीर्ण है। उदयन वीणा लिये वासवदत्ताके साथ गजारूढ़ हो भाग रहा है और पीछा करते हुए शत्रुओंको गजके पृष्ठ-भागसे स्वर्णमुद्राओंकी वर्षा कर उनके सेवक अन्यमनस्क कर रहे हैं। शुंग कलाका असाधारण आदर्श कौशाम्बीसे उपलब्ध यह मिट्टीका ठीकरा भारत कला भवन, काशी-में सुरक्षित है। काल : छठी सदी ई० पू०]

"नहीं, बन्धूक, तथागतकी महत्ता मैं स्वीकार करता हूँ। मैंने उनके उपदेश भी बड़ी श्रद्धासे सुने थे, परन्तु मुझे उनसे तृप्ति नहीं हुई। मानता हूँ कि उनके उपदेश असाधारण हैं, परन्तु क्या वे वास्तवमें नवीन भी हैं?" उदयनने वक्तव्य समाप्त कर हँसते हुए मधुसे भरा चषक एक साँसमें रिक्त कर दिया।

"माना, बन्धु, वह भी माना। परन्तु यह वर्णव्यवस्था—क्या यह भी भ्रान्तिमूलक नहीं, निर्माताओंके अधिकारकी शिलाभित्ति नहीं? इसके प्रति क्रान्ति क्या नवीन नहीं है? इस अर्थ तथागतके शब्द क्या जगी मानवताके प्राथमिक कोलाहलके नहीं हैं?"—बन्धूकने उत्तरमें पूछा।

वत्सराज कुछ गम्भीर हो उठा। वह बोला, "वर्णव्यवस्था 'भ्रान्ति-मूलक'? 'निर्माताओंके अधिकारकी शिलाभित्ति?' असम्भव, बन्धूक, असम्भव। स्वयं संघ कालके प्रभावसे विकृत हो जायेगा। तथागतके निर्वाण-के पश्चात् तुम्हारा संघ भी छिन्न-भिन्न हो जायेगा, तुम देखोगे। अच्छा आज बस।"

उदयनने अर्धविवृत दासीकी ओर देखा। चषक फिर भर गया। उसके रिक्त होते देर न लगी।

बन्धूकके जाते ही विलास-कक्ष सुन्दरियोंसे भर गया। कुछ विलासीके पर्यंकपर बैठ गयीं, कुछ नीचे उसके चरणोंमें, कुछ परस्पर झुकीं। उनकी मादक मूर्ति चतुर्दिक् दीवारोंपर लगे दर्पणोंमें अनेक आकृतियोंमें प्रति-

बिम्बित होने लगी। बिलासीके नेत्रोंमें घूर्णित दीपशिखा-सी बल रही थी। उसके शरीर-भंगका मादक सौन्दर्य एक-एक विलासिनीकी नेत्रपुत्तलिकामें नाचने लगा। यौवनकी शक्ति स्फूर्ति जनन करती थी, विलासका चातुर्य केलिकी कला। मदसे उन्मत्त राजन्य एक-एकको लेकर पर्यंकके उत्तर-च्छदमें लपेट देता, फिर उसे उलटने लगता। उसकी बलिष्ठ भुजाएँ एक-एकको उठा लेतीं, अपने होठोंकी ऊँचाई तक। निभृत कक्षके एक कोनेसे दूसरे कोने तक जब वह दौड़ जाता उसकी ग्रीवासे, कुहनियोंसे, कमनीय आकृतियाँ लटकती रहतीं, उनकी वेणियोंकी उछाल नागिनों-सी बल खातीं। कभी बिलासी एकके नेत्र बन्द कर एकको चूमता, कभी एकको पीठके नीचे दबा एकको पार्श्वसे, एकको वक्षसे वेष्टित करता।

आसवका स्रोत देर तक बहता रहा। धीरे-धीरे सुन्दरियाँ बिदा हो गयीं। केवल मदिराक्षी और प्रसादिका उदयनके पर्यंकपर उलटती रहीं।

मदिराक्षी कौशाम्बीकी उर्वशी थी परन्तु अब उसके अलसाये यौवनकी दुर्बलतापर षोडशी प्रसादिकाका मादक विलास धीरे-धीरे मस्तक उठा रहा था। उसकी सरस कमनीय कान्तिपर उदयन भी मुग्ध था।

तबके विलास-क्षेत्रमें उदयनका स्थान अद्वितीय था। प्रेमकी वह मूर्ति समझा जाता था, विलास-कलाका विशारद। प्रेमियोंका वह आदर्श था, वनिताओंका स्वप्न। उसकी प्रतिमूर्तियाँ नागरिकोंके शय्या-कक्षोंमें, विला-सिनियोंके कामकुंजोंमें, वारवनिताओंके क्रीड़ा-प्रकोष्ठोंपर सर्वत्र टँगी रहतीं। साथ ही उसकी प्रेयसियोंकी प्रतिमूर्तियाँ भी उसके संयोगसे आदर पातीं, विलास-भूमिमें लटकतीं, कामियोंका उद्दीपन करतीं। परन्तु इस प्रकारकी प्रसादलब्धाओंकी संख्या थोड़ी न थी। विलासिताका चिरसेवी, व्यसन-कथाओंका नायक, ललित कलाओंका अनन्य उपासक उदयन मधुप्रिय भ्रमर था। झुक-झुक, झाँक-झाँक वह कलिकाओंको छेड़ता और विकसित करता, फिर विविध रंगके कुसुमोंपर अटक-अटक गुंजार करता।

वह सचमुच ही भ्रमर था, अतृप्त अथक भ्रमर, कुसुमोंका मनोरम

सुहृद् । उसके अनुरागमें अर्धस्फुट मुकुलोंका राग-रंजन होता, कलिकाओं-का शृंगार बनता, कुसुमोंका पराग झरता । और निसर्गमें अर्धस्फुट मुकुलोंकी, कलिकाओंकी, कुसुमोंकी कमी क्या थी ? हाँ, गृहकानन और कान्तारके कुसुमोंमें अन्तर अवश्य था । परन्तु किसके हृदयमें अनजाने मँड-कर इस भ्रमरने टीस न उठायी थी ? किस प्रणयक्षेत्रमें इसने अनुरागबीज न बोये थे ? किसकी पंखड़ियाँ इसके सुतीक्ष्ण रस-चोषकोंसे न बिधीं ?

विलासिनियोंका विलास था वह उदयन, अभिसारिकाओंका आश्रय । वत्सका माधव था वह, प्रणयकी पुकार । कुलवधुओंका मण्डन था वत्स-राज, पतिव्रताओंका रहस्य, सतियोंके सन्मार्गका कण्टक । पतियोंका दाह था वह, पिताओंका भय, प्रद्युम्नका वह प्रतिनिधि ।

साम्राज्योंके अवरोध अधीर हो उठे, संघोंके अन्तःपुर विकल, नाग-रिकोंके शुद्धान्त दूषित । दर्शककी पद्मावती अड़ बैठी, प्रद्योतकी वासव-दत्ता रीझ गयी । स्वयंवरोंकी रीति बदल चली—उनका एक ही नायक था, एक ही वर—वही उदयन ।

उदयनके विलास-वनमें उगते-मुरझाते अंकुरोंकी न्यूनता न थी । जब रम्भा सोयी, उर्वशी जागी, जब उर्वशी सोयी, तिलोत्तमा जागी, जब तिलोत्तमा सोयी, चित्रलेखा जागी । विषयोंके उपकरण सोते-जागते रहते परन्तु विषयी सदा चैतन्य बना रहता । उदयनके विलासमें वीचियाँ अनेक थीं पर उनका मर्यादित समुद्र केवल एक था ।

अब मदिराक्षी निष्प्रभ हो चली थी और प्रसादिका दीप्तिमती । कान्तिका राग एकपर-से उतरकर दूसरीपर चढ़ता जा रहा था और उसी-के अनुसरणमें उदयनके प्रणय-नेत्र भी धीरे-धीरे गतिमान हो रहे थे । उदयनके विलास-कक्षकी चामीकर-चर्चित मृण्मूर्तियोंकी श्रेणीमें मदिराक्षीकी प्रतिमूर्तिको जो स्थान अबतक प्राप्त था उसे प्रसादिकाकी प्रतिमूर्तिने ले लिया । उदयनके अन्तर प्रबन्धमें भी इसी प्रकारका परिवर्तन हो गया था ।

सो जब मदिराक्षीके नेत्र बाम करसे मीच उदयनने दक्षिण करसे प्रमादिकाको पार्श्वसे और भी कसकर चूम लिया, मदिराक्षीको यह रहस्य जानते देर न लगी। मानकी ज्वाला जगाये वह पर्यकसे उछल पड़ी और रोषके साथ वेगसे विलास-कक्षसे बहिर्गत हो गयी।

अभीष्टकी सिद्धि हुई। एकने दूसरेकी ओर देखा। उदयनने मुसकरा दिया। हँसती प्रसादिकाने दक्षिण नेत्रका कोण कुछ संकुचित कर लिया। विलासीने विलासिनीको अंकमें और कस लिया।

पार्श्वके कक्षमें मदिराक्षी सिसक रही थी, पछता रही थी। क्रोध, ईर्ष्या और अन्तर्ज्वालाको शीतल करनेके अर्थ उसने कई मधुपात्र वेगसे रिक्त कर दिये। ज्वाला और धधक उठी—स्फुलिंग नेत्रोंमें छिटक-छिटक चमकने लगे।

"प्रमादिके, तू पथ-पथकी भिखारिणी होगी और कौशाम्बी, तू यदि मेरी न हुई तो यमकी होगी"—उसने धीरे-धीरे कहा। फिर वह शीघ्र राजप्रासादके बाहर निकल गयी।

उदयन जब राजसभासे लौटकर प्रमदवनकी ओर चला, उसकी सखियाँ वृक्षोंकी ओटसे, लताओंके पीछेसे निकल-निकलकर उससे खेलने लगीं। माधवी-निकुंजके दोलेमें प्रमादिकाके साथ बैठ जब कोमलांगियोंके करोंसे दोलित राजा श्रमका विनयन करने लगा, मदिराक्षी नहीं दिखाई पड़ी। उसने उसके विषयमें पूछा भी नहीं। उसकी अनुपस्थितिमें जगत् अपना जान उसकी स्मृति और भी भुला देनेके अर्थ प्रसादिका अनेक प्रणय-प्रक्रियाओंसे उसे रिझाने लगी। उदयन भी आनन्दके नव साधनसे आह्लादित होने लगा। अब उसे मदिराक्षीकी आवश्यकता न थी। जबतक उसके विलासको प्रसादिकाकी मधुरतासे स्वादाधिक्यका भास होगा मधुरिकाका स्वाद कभीका नीरस हो चुका होगा। उसके हृदय-

काननमें नयी कलिकाएँ फूटीं, मधुरिका मुरझा चली। मद्यपने पुराना मधु-पात्र फेंक दिया।

चपकोंकी गति दोलाके साथ ही वेगवती हो गयी। अनेक कण्ठोंसे विनिर्गता वाणी प्रमदवनके कोने-कोनेमें व्याप्त हो चली। राजाके अंगोंमें नवीन स्फूर्ति भरने लगी।

दोला भी भर चली। मुखकमल उदयनके वक्षपर, पृष्ठ-देशपर, कन्धों-कुहनियोंपर आ टिके। रोम-रोममें उनका रस भिन चला, कामके पूर्व लक्षण जाग्रत हो चले। परन्तु लतागृहकी पुष्पशय्याकी ओर मदनिकाने जैसे ही संकेत किया वत्सराजका विदूषक-मित्र निकुंज-द्वारपर आ खड़ा हुआ।

उसने कहा, "उदयन, जिस प्रकार शासनरज्जु आर्य यौगन्धरायणके करमें छोड़ आखेटको जाते रहे, एक बार क्या दोलाकी रज्जुओंको मेरे कण्ठमें नहीं डाल जाओगे?"

असमय मदनको संयत करता कुछ खिन्न, कुछ सस्मित राजा बोला, "क्यों नहीं डाल दूँगा परन्तु बोझ भारी है, रज्जु खिंचते ही कण्ठ कस जायेगा।"

हास्यका स्रोत फूट पड़ा।

इसी समय प्रमदवनकी प्रतीहारीने प्रवेश कर कहा, "देव, आर्य यौगन्धरायण सेवामें उपस्थित हैं, दर्शनकी अभिलाषासे।"

उदयनकी भृकुटियोंमें कुछ बल पड़ गये। महामन्त्रीका असमय आना किसीको अच्छा न लगा, न राजाको, न उसकी सखियोंको। केवल सखा कुछ हँसा।

विनीत राजा बोला, "वेत्रवति, आर्य यौगन्धरायणके प्रति मेरा प्रसाद प्रकट कर।"

दोला रिक्त हो गयी। उसके एक छोरपर सखा जा बैठा। सुन्दरियाँ जहाँ-तहाँ जा छिपीं।

महामन्त्रीने प्रवेश कर मस्तक नत कर लिया।

उदयनने पूछा, "आर्य, क्या सन्देश है ? अभी तो व्यवहारासनसे छुटकारा मिला और अभी कार्यश्रमको प्रमदवनमें धीरे-धीरे भुला रहा था। क्या कौशाम्बीके अधिपतिको श्रमनिवारणका भी किंचित् अवकाश न मिलेगा ?"

"देव, भरतवंशके नृपतियोंको प्रजारंजन और पालनसे कब अवकाश मिल सकता है ? सूर्य-सरीखे वे तेज और ऐश्वर्यको वहन कर सूर्यकी ही भाँति अनवरत जगतहितके अर्थ व्यस्त रहते हैं।"—महामन्त्रीने उत्तर दिया।

"क्या समाचार है, आर्य ?"—राजाने पूछा।

"कष्टकर, महाराज। प्रद्योत महासेनकी प्रसर-लिप्सा नित्यप्रति बलवती होती जा रही है। अजातशत्रुके उत्तराधिकारी भी अपने कर्तव्य-पालनमें संलग्न हो पाटलिदुर्गका निर्माण पूर्ण कर रहे हैं। अपनी असावधानीके कारण अंग कबका विनष्ट हो गया है, काशी कोशलके अन्तरालमें समा चुकी है।"—महामन्त्री उत्तरमें बोला।

"समा जानें दें आर्य ! वे स्वयं क्या ठहर सकेंगे ? स्वयं क्या वे सदासे वैसे ही प्रचण्ड हैं ? समय था जब वे नहीं थे, समय होगा जब वे नहीं होंगे। भला इसकी क्या चिन्ता ?"—राजा दोलाके तकियेके सहारे कुछ लेट गया।

व्यथित यौगन्धरायण अन्तिम प्रयत्न करता बोला, "राजन्, चारों साम्राज्योंका संघर्ष पुराना है। सभी अपने-अपने उत्थानमें प्रयत्नशील हैं, केवल वत्स सोता है। विरूधकने कपिलवस्तुका ध्वंस कर शाक्योंको राज्य-विहीन कर दिया, परन्तु हमारे कुमार बोधीको शस्त्रोंकी झंकार कर्णकटु प्रतीत होती है। भय होता है कहीं यह प्राचीन भरतवंश भी काशीकी ही भाँति अवन्तीकी बढ़ती सीमाओंमें न समा जाये।"

"आर्यका भय अकारण है। इस अनन्त कालरूपी सागरमें उत्थान-

अवसानका कोई अर्थ नहीं । इसमें साम्राज्य बुलबुले हैं, वे कब उठे, कब विलीन हुए इसका पता नहीं । रही विरूधककी बात, सो आर्य, आपके और मेरे दृष्टिकोणमें विशेष अन्तर है—आप मृत्युका चिन्तन करते हैं, मैं जीवनका । मेरे विचारमें विरूधककी कार्यशीलता और बोधीकी अकर्मण्यतामें कोई अन्तर नहीं—फिर यह कि प्राचीन भरतवंश भी काशीकी भाँति अवन्तीकी बढ़ती सीमाओंमें समा जायेगा, हमारे उद्वेगका कारण नहीं होना चाहिए । साम्राज्योंके उदय और अवसानका सम्बन्ध समयकी प्रगतिसे है और उस प्रगतिका विरोध करना मानवोंका अहंकार है—क्षुद्र दूर्वा-द्वारा प्रचण्ड सामुद्रिक वेलाका अवरोध ।"

विदूषक दोनोंके वक्तव्योंसे अपना चित्त हटाये इधर-उधर छिपी सुन्दरियोंसे भावमय संकेतोंमें कथोपकथन कर रहा था ।

महामन्त्री कुछ खिन्न हो ऊपरसे सस्मित मुद्रा बनाये जब मस्तक झुका चलनेको हुआ, राजाने उसे रोकते हुए पूछा, "आर्य, क्या पूर्व निश्चयके अनुसार आखेटका सम्भार हो चुका है ?"

"नये राजनैतिक संवादोंके कारण आखेटका सम्भार कुछ शिथिल पड़ गया था परन्तु अब उसका प्रबन्ध होगा"—यौगन्धरायण अपनी उमड़ती भाव-वीचियोंको दबाता हुआ बोला ।

"आटविक बलाहक कार्यच्युत हो रहा है, आर्य"—कुछ सरोष उदयन बोला ।

महामन्त्रीने नतमस्तक हो कहा, "देव, अपराध मेरा है । मैंने विचारा था कदाचित् बाहरकी उठती विपत्ति आखेटसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । अब जाता हूँ—शीघ्र ही उसकी व्यवस्था होगी ।"

उदयन फिर घूमकर कुछ सबल स्वरमें बोला, "आर्य, उदयन अपने आदेशोंमें मन्त्रकी अपेक्षा नहीं करता और बाहरकी उठती आँधीको, यदि वह प्रलयकी आँधी है, गृहकी खिड़कियाँ बन्द करके नहीं रोकना चाहता, नहीं रोक सकता ।"

यौगन्धरायण धीरे-धीरे चला। प्रमदवनके द्वारपर सेनापतिने अपना उत्सुक मस्तक ऊपर उठाया।

महामन्त्रीने गम्भीर भावसे कहा, "सेनापति, प्रलयके मेघ कौशाम्बीके आकाशमें उठ रहे हैं। राजा पूर्ववत् उदासीन है। चलो शक्ति-भर प्रयत्न करें।"

दोनों रथपर बैठ गये।

इधर प्रमदवन फिर निनादित हो चला, कामिनियोंकी स्वरझंकारसे, आनन्दके समारोहसे। मधुका स्रोत फिर बह चला। उदयन उसमें डूबने-उतराने लगा।

अवन्ती और वत्सकी सीमापर आखेटका समारोह था। हाथियोंके दलके उधरसे जानेका संवाद मिला था। उदयन और उसके आखेट-सुहृद् अपने-अपने गजपर सजे काननमें घुसे चले जा रहे थे। उदयन हरित वृक्षोंके रंगका एक कसा वस्त्र पहने हुए था। घुटनोंतक यह कच्छ-सरीखा वस्त्र उसे कसे हुए था। उसका विशाल वक्ष कई प्रकारके पट्टोंसे कसा था जिसपर वनमालाएँ हिल रही थीं। हौदेके ऊपर उसके धनुष और तूणीर धरे थे। समीपके कुछ गजोंपर सुन्दर यवनियाँ मस्तकके कटे केशपर मालिकाएँ झुलातीं, हृदयदेशपर वनमालाएँ धारण किये धनुष-बाण, खड्ग और आखेटके अन्य उपकरणोंसे सजीं रह-रहकर उदयन और उसके सुहृदोंपर नेत्रबाण साध रही थीं।

आखेटक चल पड़े—कान्तारके बीच।

अपराह्ण बीत गया, गजोंका यूथ न मिला। उदयन उद्विग्न हो उठा। उसकी वनमालाएँ और यवनियाँ कुम्हला चलीं। अब उसने सघन वनमें

प्रवेश करना चाहा। कार्य कुछ साधारण न था। पर उदयन चला। सेना पीछे छोड़ देनी पड़ी। अनुचर, सुहृद् भी छूट गये। यवनियोंको आगे बढ़नेसे राजाने रोक दिया।

उदयनका अकेला विशाल गज अरण्यमें घुसा। उसके संग केवल दो जन थे—गजसंचालक और पथप्रदर्शक आटविक। संचालक सावधानीसे अंकुशके सहारे गजको धीरे-धीरे बढ़ाये जा रहा था। आटविक मार्ग बताता जा रहा था और साथ ही जब वृक्षोंकी घनी शाखाएँ परस्पर मिल जानेके कारण मार्ग अवरुद्ध कर लेती थीं, वह पैनी कुल्हाड़ीसे उन्हें काट-काटकर पथ-निर्माण भी करता जा रहा था।

यह आटविक इस अरण्यके कोने-कोनेसे अवगत था। उदयनके आट-विकोंने जब इस वन-प्रान्तरके मार्गोंसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट की, उसने इसकी सेवा स्वीकार कर ली। हाथियोंके झुण्डको उसने उधरसे निकलते देखा था।

सन्ध्या होनेके बहुत पूर्व ही वनके इस भागमें अन्धकार हो चला था। सघनता ऐसी थी कि दोपहरमें भी वहाँ सूर्यका प्रकाश पूरा नहीं पहुँचता था, अब तो सन्ध्या हो चुकी थी। आखेटका उत्साह उदयनको आगे बढ़ाये लिये जाता था। आटविक प्रसन्न वदन बार-बार कह उठता—'हस्तियूथप इधर ही अपने दलसे विलग हो चर रहा था, कहीं यहीं होगा। और उदयन उत्साहसे उछल पड़ता। थोड़ी-थोड़ी देरपर वृक्षों और उनकी शाखाओंके टूटनेका शब्द सुन पड़ता था।

रात्रिके आगमनकी सूचना नीड़ोंको लौटते पक्षियोंने दे दी। उनके कलरवसे वनप्रान्तर गूँज उठा। अन्धकार घना हो गया। अब आगे बढ़ना कठिन था। उदयन भूख-प्यास भूल गया था—उसे था हस्तियूथपके समीप पहुँचना। उसने आटविकको ललकारा—आटविक, यूथप कहीं निकल न जाये!

आटविकने गजसंचालकसे उसका अंकुश ले लिया और लगा सावधानी-

से बढ़ने। आगे बढ़ना बड़ा कठिन था। अन्धकारको चीरकर वन-वृक्षकी गुँथी शाखाओंके मध्यसे होकर जाना था। आटविक धीरे-धीरे बढ़ा, राजा-को आश्वासन देता। प्रकाश कर नहीं सकते थे, दावाग्निका भय था। वृक्षोंके टूटनेका शब्द फिर सुन पड़ा।

कुछ दूर और शक्ति-भर प्रयत्न करनेपर बढ़े। समीप, दाहिनी ओरका आकाश कुछ खुला—एकाध तारे और चन्द्रमा दिखाई पड़े। कुछ प्रकाश मिला। उत्साहसे उदयनका हृदय भर गया। आटविकने दाहिनी ओर संकेत कर कहा—"देव, अब कुछ चिन्ता नहीं, वह खुला क्षेत्र है। निशा बिताकर प्रातः आखेटको निकलेंगे। कहीं पास ही यूथप भी होगा।"

उदयन गजसे उतर पड़ा—उस हरी-भरी सुविस्तृत श्यामल भूमिमें। विशाल प्रसाद था उस हरित क्षेत्रका। अभी उदयन गजसे उतरा ही था कि आटविक कुछ चौकन्ना हो गया।

पूर्व दिशाकी ओर दूर तक दृष्टि फेंक उसने कुछ विस्मय प्रकट किया, फिर वह बोला, "देव, क्षेत्रके उस सुदूर पूर्व छोरपर विशाल यूथप खड़ा चर रहा है और जब वह अपनी सूँड़से शाखाओंको तोड़ता है, 'चट'-'चट' शब्द होता है।"

उदयनने देखा—दूर वृक्षोंके छोरपर श्यामकाय विशाल गज छायामें अस्पष्ट खड़ा था। धीरे-धीरे वह अपनी सूँड़ उठाकर शाखाओंको बलपूर्वक तोड़ता और वह टूटनेका शब्द सर्वत्र व्याप्त हो जाया करता। यही शब्द उदयनको घने वनमें दूरसे कई बार सुन पड़ा था।

उदयनने झुककर फिर देखा। उसने आटविकसे कहा, "आटविक, यह तो यूथप ही जान पड़ता है।"

आटविक बोला, "देव, यह यूथप ही है। यह यहाँ छूट गया है। अब घोर अरण्यसे निकल अपने निवासकी ओर नहीं जा सकता। देव, विश्राम करें। प्रातः उसे पकड़नेका प्रयत्न करेंगे।"

परन्तु उदयनको धैर्य कहाँ था ? उसने अपनी 'हस्तिकान्त' वीणा उठा

ली और लगा तन्मय हो उसके तारोंपर अपनी अँगुलियाँ फेरने।

उद्दीणनमें परम निपुण उदयनके हस्तसंचालनमें अद्भुत कुशलता थी। तारोंसे निकल-निकल राग उस निर्जन वनकी नीरवतामें पसरने लगा। रागका स्पन्दन धीरे-धीरे तरुओंके पुलिनोंको भी स्पन्दित करने लगा। मादक स्वर समीपके गजमें कम्पन उत्पन्न करने लगा और वह एक-एक चरण उठा थिरकने-सा लगा। दूरके विशाल गजने भी इस रागको सुना। उसके पदोंमें भी स्पन्दन आरम्भ हुआ।

आटविकने कूतूहलवश कहा, "देव, यूथपने वीणाका स्वर सुन लिया है।"

उदयनने कुछ नहीं सुना। अपने ही वादनके स्वरमें वह विभोर हो चला था। उसने आटविककी बात न सुनी, परन्तु उसने देखा।

उसने देखा—यूथपने मानो दो-चार बार अपने पगोंको हिलाया फिर सूँड़को शाखाओंसे विलग कर उसे उनके मध्य वह धीरे-धीरे हिलाने लगा। उसके पगोंमें गति भरने लगी। एक ही स्थलपर उसके चरण गतिमान होने लगे। सूँड़ हवामें उठने-गिरने लगी, तरंगें उठाने और गुंजलक भरने लगी। फिर वह मुड़ा। उसकी पूँछ ऊपर पीठपर घूम पड़ी।

यूथपकी चिंघाड़ सुन पड़ी, वनके मध्य, उसकी नीरवताको भरती हुई। यूथप हस्तिकान्तकी ओर धीरे-धीरे बढ़ा—पगोंको दबा-दबाकर रखता, मद्यपकी भाँति हिलता-डोलता। चला वह वीणाके स्वरकी ओर लक्ष्य कर—वह कज्जल-कूट यूथप।

उदयनने जैसे-जैसे उसे समीप आते देखा वीणा-संवादनमें उसकी तन्मयता बढ़ती गयी। उसके पार्श्वस्थ जन भी तन्मय-से खड़े वीणा-स्वर सुनते विशाल गजको निरख रहे थे। केवल आटविक कुछ अन्य-मनस्क था।

जब गज अधिक समीप आ गया, उदयनका मुख-कमल खिल उठा। उसका गज यूथपकी ओर बढ़ा। सहसा वेगका कोलाहल हुआ और यूथपका उदर बीचसे फट गया। उसमें-से कितने ही शस्त्रधारी सैनिक यकायक

निकलकर उदयन और उसके गजसंचालकपर टूट पड़े। चकित, विस्मित उदयन बँध गया। आटविकको किसीने हाथ न लगाया। वह दूर खड़ा अपनी विजयपर गर्व-पूर्वक हँस रहा था।

वार बीते, सप्ताह और मास बीते। वर्ष भी बीत चला। मधु रीता, निदाघ सूखा, पावसकी झड़ियाँ भींगीं। शरत् चमका, हेमन्त सिधारा, शिशिर भी गल चला। विलासीका नगर छूटा, चषकोंके दौर छूटे, विलासिनियोंकी शृंगार-प्रक्रियाएँ छूटीं। वत्सका विलास रो पड़ा। कौशाम्बीका सिन्दूरबिन्दु धुँधला हो चला। उदयन नहीं था।

उदयन उज्जयिनीकी प्रासादपरम्पराके एकान्त कारागृहमें पड़ा था। पातालवास करते महीने बीत गये—किसीने उसकी सुधि न ली। पहले तो अपने मुख्यामात्य यौगन्धरायणकी बुद्धिशक्तिका उसे इतना भरोसा था कि उसने कारागारके आरम्भिक दिन हँसते-हँसते काट लिये। सदा वह अकेला मुसकराता रहता परन्तु जैसे-जैसे दिवस बीते वह कुछ निराश-सा होने लगा, उसकी आशा-वेलि मुरझाने-सी लगी। एक अनोखी पीड़ा उसे सदा दुःखी करती रहती। कौशाम्वी और उसके विलास-उपकरणोंका स्मरण अत्यन्त दुस्सह हो उठा। बन्दीका विलासी हृदय रो उठा।

धीरे-धीरे यह अवस्था भी बीती।

धीरे-धीरे वन्दीको अपनी दशासे सन्तोष होने लगा, अपनी क्रूर दीवारोंसे वह कुछ परिचित-सा हो चला और कारावासको अपना सहज धर्म समझने लगा। भाग निकलनेकी अभिलाषा, जो कभी बड़ी प्रबल थी, अब न रही। अब तो मुक्तिकी भी वह कुछ विशेष इच्छा न करता। बालरवि-का थोड़ा प्रकाश जब उसके कक्षमें प्रवेश करता, वह विहग-दम्पतिकी ओर पर्यंकपर पड़ा-पड़ा देखा करता। उनकी आनन्द-क्रीड़ा वह तन्मय हो

देखता, फिर जब वे बच्चोंको वहीं नीड़में छोड़ फुदकते हुए उसके मस्तक-कन्धोंपर आ बैठते, वह उन्हें धीरे-धीरे करमें ले सहलाता। जब वह नित्यके नैमित्तिक पथपर उड़ जाते वह ठण्ढी साँस खींचकर रह जाता। कभी-कभी वह उनसे पूछता—"विहगवर, क्या तुम्हारे मार्गमें वत्स भी पड़ता है? क्या कौशाम्बीके समृद्ध प्रकोष्ठोंपर तुम कभी उतरते हो? क्या मदिराक्षी और प्रसादिकाके अनुराग-रंजन, शृंगार-साधन होते हैं? क्या तुमने बोधीको जनकके वियोगमें रोते सुना है?"

जबतक वह बोलता रहता विहग चुप-चाप नीरव हो सुनते रहते, फिर धीरे-धीरे उड़कर चले जाते, उसके दृष्टि-पथके पार और जबतक वे नेत्रोंसे ओझल न हो जाते बन्दी गवाक्षोंसे बराबर देखता रहता, फिर रो पड़ता। अपनी असमर्थता, असहायतापर अपना ही हृदय टूक-टूक हो नेत्रोंके मार्गसे उमड़ पड़ता।

वह कहता—"सदा ये विहग उसी उत्तरके मार्गसे जाते हैं—कौशाम्बीकी ओर।" सन्ध्याको जब वे लौटकर उससे खेलते, अत्यन्त उत्सुकतासे वह पूछता, "कोई मिला? किसीने अभागे उदयनकी बात पूछी?" फिर जब विहग उसकी ग्रीवामें अपनी चंचु छिपा लेते, वह कहता—"विकल न हो, पक्षिवर, कोई कभी अवश्य मिलेगा। उससे मेरी बात कहना। बोधीसे कहना—तुम्हारा पिता तुम्हें भूला नहीं। रानियोंसे, मदिराक्षी-प्रसादिकासे कहना—तुम्हारे मानका प्रायश्चित्त उदयन अपने उमड़ते हृदय-स्रोतसे करता है।

एक दिन जब अभीके निकले फुदकते विहग-शिशुकी रक्षाके अर्थ विहगी नीड़में ही रह गयी और विहग अकेला पर्यंकपर आ बैठा, उदयनने उससे अपनी नित्यकी बात दोहरायी। विहग सन्देश वहन कर उड़ चला, बन्दीके दृष्टि-पथसे बाहर, उत्तर कौशाम्बीकी ओर।

आज बन्दी कुछ चिन्तित था, दुःखी। मध्याह्नमें जब यवनी भोजन लेकर आयी, बन्दी पूर्ववत् एकटक छतकी ओर देखता रहा। सुन्दरी

विदेशिनीने प्रेमपूर्वक पूछा, "बन्दी, आज चिन्ताके भारसे दबे जान पड़ते हो। तुम्हारा पीत मुख और भी पीत हो चला है। क्या बात है?"

वन्दी चुप रहा, निश्चल।

यवनी बोली, "राजन्, चिन्ता छोड़ो, समय फिरेगा।"

वन्दी कुछ न बोला। उसने भीतर पूछा—"क्या वास्तवमें समय फिरेगा?"

यवनी चली गयी।

सन्ध्या हुई। विहग नहीं लौटा। विहगी कुछ चंचल हो उठी। वह बाहर उड़ी, फिर भीतर आयी। जैसे-जैसे सन्ध्या सघन होती जाती, विहगीकी चंचलता बढ़ती जाती। जब अन्धकार बढ़ने लगा वह वेगसे कारावासमें चक्कर काटने लगी। अब बन्दीकी विचार-निद्रा टूटी। उसने जाना—अभीतक विहग न लौटा। विहगीसे उसने पूछा, "क्या है? कहाँ है तेरा स्वामी? अभीतक क्यों नहीं लौटा?"

विहगी आकर उसके स्कन्धदेशपर बैठ गयी। फिर लगी अपनी चंचुको धीरे-धीरे उसकी ग्रीवामें चुभाने। बन्दीको जैसे चेतना हो आयी। इस प्रकारकी देर अस्वाभाविक थी। उसने विहगीका सकारण उद्वेग देखा। वह स्वयं कुछ अस्थिर हो उठा। उसने विहगीको प्यारसे सहलाते हुए कहा, "घबरा मत, रानी, तेरा राजा आयेगा।"

बन्दीने विहगीको चूम लिया।

विहगी मानो कुछ झल्ला गयी। वह उसके स्कन्धदेशसे उड़ गयी और लगी काराकक्षमें चक्कर काटने। रह-रहकर जैसे वह रो उठती थी। उसका स्वर कुररीके विलाप-सा वन्दीके हृदयमें रह-रहकर हूक-सी उठाने लगा। उसने जाना विहगीका क्रन्दन स्वयं उसका है, उसकी रानियोंका।

सारी रात विहगी बिलखती कक्षमें चक्कर काटती रही और बन्दीके अन्धकारमें सधे नेत्र उसकी गतिका अनुसरण करते रहे। क्षोभ और सन्तापसे जर्जर, पीड़ा और वियोगसे व्यथित, उत्सुकता और उड़ानसे

थकी विहगी प्रातःकाल उषाके आगमनसे पूर्व बन्दीकी गोदमें आ गिरी। उसका जलता शरीर बन्दीने सहलाया, फिर वह उसे आश्वासन देने लगा। धीरे-धीरे उषाने डरते-डरते कारागृहमें झाँका।

बन्दीने देखा—विहगी तड़प रही थी। थकान और प्यासके कारण, प्रियके विछोहमें सन्तप्त। उसने दौड़कर उसकी चंचुमें जल डाला। उसे आश्वासन दिया। चंचु खुल गयी। विहगीने बन्दीका आश्वासन न सुना।

धीरे-धीरे उदयन बाहर निकला। ऊँची दीवारोंके समीप स्नानागारकी ओर वह चला। किरातीके झोंपड़ेमें दीपक टिम-टिम कर रहा था। बन्दीने किरातीसे माँगकर कुछ अग्नि ली और टहनियोंसे उसे प्रज्वलित कर उसमें विहगीके शरीरको डाल दिया।

वह बैठा देर तक कुछ गुनता रहा, रोता, सिसकता। किराती विस्मित थी, उसका क्रूर श्वान चकित था। बन्दीने काँपते करोंसे विहगीकी भस्म उठायी और उत्तरीयके छोरमें बांध ली। फिर धीरे-धीरे वह अपने कक्षकी ओर चला।

कक्ष भयावह हो उठा था, रोता-सा। द्वारमें प्रवेश करते ही बन्दीने देखा—विहग-दम्पतिका नीड़ उजड़ चुका था, तिनके नीचे पड़े थे। बच्चे न थे, परन्तु उनके कुछ पंख देहलीपर बिखरे थे। उसने सब जान लिया। उसे मदिराक्षी-प्रसादिकाका स्मरण हुआ, फिर रानियों और वोधीका। कटे वृक्षकी नाईं सूखे पर्यंकपर वह जा गिरा।

मध्याह्नमें यवनी आयी। कारावासमें अशौच-सा छाया हुआ था। वह भाँय-भाँय करता था। बन्दी बेसुध पड़ा था। यवनी कुछ चिन्तित-सी हो उठी। उसने बन्दीको हिलाया पर वह न जगा।

वह जागता था।

यवनीने बाहर खड़े व्यक्तिको संकेतसे बुलाया। एक काषाय परिव्राजकने कक्षमें प्रवेश किया। यवनी बाहर निकल गयी।

परिचित स्वर सुन वन्दीने नेत्र खोले परन्तु वह चिर-परिचितको न पहचान सका।

परिव्राजकने पूछा, "देव, अपने विनीत सेवक यौगन्धरायणको बिलकुल ही भूल गये ?"

बन्दीके चक्षु चमक उठे। पर निष्प्राण-सा वह उठा। उसने यौगन्धरायणका अभिवादन स्वीकार कर उत्तर दिया—"भूल तो नहीं गया, आर्य, परन्तु जब जगने मुझे भुला दिया, मैं भी उसे भूलनेका प्रयत्न कर रहा हूँ।"

बन्दीका रोम-रोम रो रहा था। परिव्राजकके नेत्र भींज चले थे।

"क्या समाचार है, आर्य ?"—बन्दीने पूछा।

"प्रद्योतने कौशाम्बीपर अधिकार कर लिया है परन्तु वत्स अपने प्रभुके लौटनेकी आशामें चिन्तित, उत्सुक बैठा है।"—यौगन्धरायण बोला।

बन्दीके नेत्र फिर चमक उठे परन्तु विहगीकी स्मृतिने उसे फिर खिन्न कर दिया। उसने मस्तक झुका लिया।

यौगन्धरायण बोला, "देव, अब शीघ्र छुटकारा होगा और कौशाम्बीके दिन फिरेंगे। जनता तत्पर बैठी है, संकेत पाते ही प्रद्योतोंको भी भगायेगी।"

वन्दीने पूछा—"तब ?"

मुख्यामात्य बोला, "प्रद्योतकी कन्या वासवदत्ता कलामें पारंगता है परन्तु वीणा-वादनमें वत्सराजकी कुशलता अद्वितीय है। विनीत यौगन्धरायण प्रद्योतका सभासद्-मन्त्री है। उसकी सम्मति और वासवदत्ताकी याचनासे अब वत्सराज राजकन्याको वीणावादनमें दक्ष करेंगे। फिर अगली अमावस्याको वासवदत्ता और वत्सराज उज्जयिनी छोड़ देंगे।"

यौगन्धरायणकी बात सुनकर उदयनके हृदयमें आशाका संचार हुआ परन्तु कारावासकी दीवारें, विहग-दम्पतिका सहवास, सभी परिचित, प्रिय हो चुके थे। जानेकी इच्छा न होती थी।

आगे-आगे यौगन्धरायण, पीछे-पीछे उदयन निकले। दूर यवनी किरातीसे उदयनकी कथा सुन अपने भींगे नेत्र ऊर्ध्व-पटसे धीरे-धीरे पोंछ रही थी।

उदयन वासवदत्ताका आचार्य बना। यौगन्धरायणके प्रयाससे जब उदयन-की 'घोषा' उसके करमें आयी वह प्रसन्न हो उठा। जब वह वासवदत्ताके प्रासादमें वीणाको अनुप्राणित करता, चराचर विमुग्ध हो उठता। मुग्धा वासवदत्ता पहलेसे ही वत्सराजकी कथापर अपनेको उत्सर्ग कर चुकी थी, अब उसके वीणा-वादनकी कुशलताने उसपर सम्मोहन डाला। उसकी स्वर-झंकारसे उसका अन्तरतम पूरित हो जाता और वह प्रस्तर-मूर्तिकी भाँति एकटक उदयनको देखती रहती। परन्तु बीच-बीचमें उदयनके हृदयमें विहग-दम्पतिकी स्मृति हूक-सी उठा देती और उसके वाद्यस्वरमें एक अद्भुत वेदना-व्यंजक स्पन्दन हो उठता। वासवदत्ताके नेत्रोंसे वारि-धारा बह उठती और सम्मोहक वत्सराजके नेत्र भींग चलते।

दिन बीत चले, सपद। शिशिरके पश्चात् वसन्तका आगमन हुआ। स्मृति भी समयकी गतिमें खो गयी। माधव मधु ढालने लगा। उदयनने भी अपने प्रासादमें गन्धबसी मदिरा ढाली। उसके सांजन नयन आसवके प्रभावसे कुछ और रक्ताभ हो चले, उनके डोरे जड़-चेतनको खींचने लगे। कादम्बरीसे उन्मत्त उदयन दर्पणके सम्मुख अपने लौटे रूपकी छवि निहारने लगा। उष्णीषका ऊर्ध्व पक्ष वायुकी उठती लहरियोंके संग खेलने लगा। उदयनका हृदय थिरक उठा।

उसने वीणा उठा ली—सुपरिचित वीणा—'घोषा'। फिर बैठा वह चरम विलासी उदयन क्रोड़में वीणा धरे विस्तृत भद्रपीठके मध्य और लगा धीरे-धीरे 'घोषा'के तारोंपर उँगलियोंका संचालन करने।

प्रकृति नवीन साधोंसे, वासन्ती उपकरणोंसे सज चुकी थी। निसर्ग उदयनके तार-संकेतपर लगा काँप-काँप नाचने। पूर्णिमाकी चमकती कौमुदी जब उज्जयिनीके प्रासादोंके कनक-कलशोंपर बिखर-बिखर बिहँस रही थी, उदयनकी वाद्यकला विशालाके नर-नारियोंमें सोये प्रणयको गुदगुदा-गुदगुदा जगाने लगी। नागरिक-नागरिकाएँ अट्टोंपर चढ़-चढ़ राजप्रासादके अभिमुख हो वह विस्मयजनक ताल-स्वर सुनने लगीं। महाकालकी नर्तकियाँ स्थिर हो गयीं, स्तब्ध। उनकी किंकिणियाँ गूँगी हो गयीं। चमर-रत्नोंकी कौंध रुक गयी।

उदयनका तन्त्रीनाद उसके हृदयको भर बाहर वह चला। उसकी वेगवती धाराके संग आधारबन्ध भी वह चले। प्रतिध्वनिसे प्रद्योतकी प्रासाद-परम्पराका कोना-कोना भर चला।

स्वरकी झंकृति सुन वासवदत्ता अपने शयन-कक्षसे निकली। निशीथमें प्रणयीकी पुकार उसने सुनी। शृंगारके प्रसाधनोंसे सज वह उस ओर चली जहाँ वत्सका विलासी अपने स्वरमें विश्वका विलास लुटा रहा था, जहाँ प्रणयीका हृदय 'घोषा'के स्वरमें उसे बार-बार पुकार रहा था।

वासवदत्ता चली, जगत्का उल्लास लिये। यह रतिका अभिसार था मदनके प्रति। मदनका तरलतन्तु वह रहा था रागिनियोंकी प्रणालिकाओंसे।

वासवदत्ताने प्रवेश किया धीरे-धीरे हृदयपर हाथ धरे झिझकती, झेंपती। यवनी कुछ दूरपर खड़ी थी, वासन्तीकी ओटमें।

वासवदत्ताने प्रवेश किया। 'घोषा'का नाद बहता रहा। उदयनने नेत्र न उठाये। वासवदत्ता धीरे-धीरे जाकर चौड़े भद्रपीठपर उदयनके समीप बैठ गयी। 'घोषा' का नाद पूर्ववत् बहता रहा।

उदयनने कुछ मुड़कर वह विश्वकी रहस्यमयी अद्भुतरति काया देखी और उसका कर-संचालन और भी द्रुततर हो गया—द्रुततर, काम्य, उन्मादक।

अन्धकारमें सहस्र मार्गोंसे पैठते रश्मिपुंजकी भाँति स्वरके असंख्य तार वासवदत्ताके हृदयको रह-रहकर वेधने लगे। जैसे-जैसे स्वरोंकी तीव्रता बढ़ती वैसे-ही-वैसे उसके कुरंग-हृदयमें वेगसे चोटें लगतीं, कसक होती। टीसकी वेदनासे व्याकुल वासवदत्ताने धीरे-धीरे अपना मस्तक उदयनके दक्षिण स्कन्धपर रख दिया। उसके नेत्र मुँद गये।

उदयनने तन्त्री धर दी। निसर्गमें स्वर अब भी गूँज रहा था। फिर धीरे-धीरे सन्नाटा छा गया। चन्द्रमाने बादलोंके घूँघटमें मुख छिपा लिया। वासन्ती ओटमें एक छाया निकलकर कदलीकी बाड़ोंमें विलीन हो गयी।

वैशाखकी अमावस्या थी। अन्धकार चतुर्दिक् फैला हुआ था। निशा आधीसे अधिक जा चुकी थी। आकाशमें असंख्य तारे चमक रहे थे फिर भी अन्धकारका राज्य सर्वत्र फैला था।

यकायक उज्जयिनीके प्राकार वेष्टनोंके प्रकाश संचारी हो उठे। घण्टे बज उठे और नगरके खुले मुखद्वारसे कितने ही सैनिक निकल पड़े। उज्जयिनीके नागरिकोंने न जाना। चण्डप्रद्योत दक्षिणी सीमापर गया हुआ था। उदयन वासवदत्ताको ले अपने विशाल गजपर भागा जा रहा था। स्वयं यौगन्धरायण गज-संचालन कर रहा था। मदिराक्षी यवनीने नगरके मुखद्वारके ऊपर खड़े-खड़े अपने नेत्र पोंछ लिये।

आकुलतासे भरी वासवदत्ता उदयनके अग्र-भागसे चिपटी हुई थी और उदयन अपनी 'घोषा' हाथमें लिये शत्रुओंकी ओर पीछे देख रहा था। कौशाम्बीकी वीर, चुनी सेनाके मध्य विशाल गज वेगसे भाग रहा था। धीरे-धीरे वत्सकी सेना नष्ट हो चली। वासवदत्ताका हृदय आकुल हो रहा था। यौगन्धरायण द्रुतवेगसे गजका संचालन कर रहा था।

जब उसकी सेना गिर चली, यौगन्धरायणने गजके पृष्ठभागपर बैठे पुराने गज-संचालकसे कहा, "'अन्धक' सुवर्णोंकी नकुली खोल दे।"

नकुली खुल गयी। तारोंके क्षीण आलोकमें सुवर्ण झन-झन कर मार्गमें गिर पड़े। शत्रु-सैनिक उनको उठानेमें लगे। गज वेगसे भागा। उसके पृष्ठभागसे निरन्तर सुवर्णकी वर्षा होती रही।

उदयनने वत्सकी सीमामें प्रवेश किया।

उसी रात यौगन्धरायणके चरोंके संकेतसे कौशाम्बीकी जनता और सेनाने विप्लव किया। अवन्तीकी सेना वत्ससे निकल भागी।

फिर विलासका राग जमा। उदयनके दिन फिरे। वासवदत्ताके विभ्रमसे मत्त विलासी अपने विलास-कक्षसे किंचित् ही निकलता। उसके कण्ठकी मादकता वासवदत्ताके स्वरसे मिल एक अनुपम रसका संचार करती जिसमें दोनों सराबोर हो जाते। परन्तु जब कभी उदयन अकेला अपना विश्वविमोहक आलाप लेता, उसमें एक अद्भुत वेदना रो उठती। उस रुदनमें कारावासिनी विहगीका क्रन्दन होता।

१० सितम्बर १९४०
अपराह्न २—५



गोमेदकी मुद्रिका

[फ़ारस छठी सदी ई० पू० में संसारका सिरमौर था। उसका साम्राज्य उस समय सबसे बड़ा था। भारतवर्षका सिन्धु प्रदेश फ़ारस-के साम्राज्यका बीसवाँ प्रान्त था जहाँ सम्राट् दारयवौष् (दारा) द्वारा नियुक्त क्षत्रप शासन करता था। इस सिन्धु प्रान्तको 'हिन्दी' कहते थे। इसका उल्लेख पर्सिपोलिस तथा नक्शए-रुस्तम दोनों शिला-लेखोंमें हुआ है। हिन्दी प्रान्तसे आयके रूपमें करोड़ों रुपयोंका सोना प्रतिवर्ष फ़ारसको प्राप्त होता था। इसके साम्राज्यके मुख्य नगर 'पारसपुर' (पर्सिपोलिस), 'शूषा' और 'एकवताना' थे जहाँ कलाके विस्मयजनक नमूने राजप्रासादोंके रूपमें अवस्थित थे।]

पार्थिव सूर्य दारयवौष् चमक रहा था। पारस साम्राज्य मूर्धाभिषिक्त था। जब शाक्यसिंह मगधमें दहाड़ रहा था, अजातशत्रु वज्जियोंसे उलझ रहा था, चण्डप्रद्योत महासेनकी अवन्ती विलासी उदयनकी कौशाम्बीको लालचवश घूर रही थी, और जब कोसलका मदान्ध विरूधक शाक्योंके भस्मसे कपिलवस्तुका वातावरण दूषित कर रहा था, तब पारसका सम्राट् दारयवौष् अपने सुविस्तृत साम्राज्यकी समृद्धिपर करवटें बदलता था। जिस समय पाटलिदुर्ग धीरे-धीरे नगरका आकार धारण कर रहा था उस समय दारयवौष्के साम्राज्यका केन्द्र पारसपुर जगत्का बेजोड़ नगर था।

संसारकी समृद्धि यहाँ उपलब्ध थी, जगत्का क्रय-विक्रय यहाँ होता था। सब प्रकारकी वस्तुओंका यहाँ मूल्य आँका जाता था। राज्य यहाँ बिकते थे; राजकुमार-दास, सैनिक शक्ति, सुवर्ण-हीरक, मनुष्य, ऐश्वर्य

सब-कुछ यहाँ उपलब्ध था। सभी बिकता था। पश्चिम जगत्‌की प्रसिद्ध यवनियाँ मगध, कौशाम्बी और उज्जयिनीके अवरोधोंमें यहींसे जाती थीं, यहींके विपणिमार्गमें बिकती थीं। संसार अपने अश्व यहीं क्रय करता था।

दारयवौप् के पूर्वज कुरुकी दिग्विजयसे पारसके साम्राज्यका विस्तार असीम हो चुका था। पश्चिममें ग्रीकोंके समुद्रतट तक पारसीक-सम्राट्‌की पताका फहराती थी। फिर उत्तर-पश्चिममें उसकी सीमा पूर्वी युरोपको छूती थी। उत्तरके उद्दण्ड सामरिक उसका लोहा मानते थे, पूर्वमें चीनको उसकी शक्ति ज्ञात थी। दक्षिणमें उसके सामुद्रिक बेड़े भारतीय सागर तक धावा मारते थे, सार्थवाहोंसे कर लेते थे। पारसपुर ऐश्वर्यक पीठ था।

साम्राज्यकी समृद्धि पारसपुर, शूषा और एकबतानाके नगरोंमें धारासार बरसती थी और विपुल ईरानी नागरिक अपनेको संसारका विशिष्ट जन मानता था। उसके चरणोंतले विश्व लोटता था—यूनान, मिस्र, बाबेरु, अरब, शकस्थान, मकरान, बल्हीक, कापिशी, सिन्धु।

पारसपुरके राजप्रासादमें, जहाँ रत्न-हीरक स्थान-स्थानपर झाँकते थे, द्रविणराशियोंसे कोश भरा था, राजसभामें आर्य आर्यपुत्र दारयवौप् स्वर्णके सिंहासनपर बैठा था। सिंहासनके चरण-सिंह सजीव-से प्रतीत होते थे। उनके नखोंके हीरक रह-रहकर चमक उठते थे, उनके नेत्रोंके लाल अपना रक्तमय आलोक छिटका रहे थे। स्वर्णके श्रीवितानके नीचे संसारका सबसे ऐश्वर्यशाली सम्राट् बैठा था। उसके चारों ओर चमकते प्रस्तर-निर्मित स्तम्भोंके ऊपर विशाल सिंह बैठे थे। उनकी सजीवता नवागन्तुकोंके हृदयमें त्रास भरती, चिरपरिचितोंके मनमें आश्चर्य। कलाकारोंकी अद्‌भुत चातुरीसे सिंहोंकी ये प्रतिमाएँ कोरी गयी थीं। एक-एक शिरा दिखाई पड़ती थी। सटाका एक-एक केश पृथक् था।

सम्राट्के दोनों पार्श्वमें साम्राज्यके प्रमुख मन्त्री, सभासद् और सम्भ्रान्त कुलोंके प्रतिनिधि बैठे थे। आजका दिन विशेष था—नौरोजका। विविध प्रदेशोंके क्षत्रप अपने-अपने शासनभार पदस्थोंपर डाल राजधानीमें उपस्थित हुए थे। पारसके नवीन प्रदेश 'हिन्दी'—बीसवीं क्षत्रपी—से आज प्रथम बार कर आया था।

जब सारे क्षत्रप अपने-अपने कर प्रदान कर चुके, सिन्धुका रोहिताश्व उठा। वह पारसपुरका सबसे भाग्यवान् नागरिक था क्योंकि उसे पारस-साम्राज्यका सबसे ऋद्ध प्रदेश शासनमें मिला था। आजके समारोहमें उसकी विशिष्ट मर्यादा थी। सारे नेत्र उसकी ओर लगे थे।

शाह दारयवौष्के महामन्त्रीका संकेत पाकर रोहिताश्व उठा। उसने सिंहासनके सम्मुख आ कई बार झुककर सम्राट्की वन्दना की फिर आज्ञा-की प्रतीक्षामें वह खड़ा रहा।

दारयवौष्ने कहा, "रोहिताश्व, हिन्दकी आय उपस्थित करो।"

कई बार फिर मस्तक झुकाकर रोहिताश्वने पूर्वकी ओर खड़े दासोंकी ओर संकेत किया। दास सभाभवनके मध्यभागकी ओर चले। एक-एक दास अपनी रजत मंजूषा दारयवौष्के सम्मुख नीचे बैठे सभासदोंकी पंक्तियोंके मध्य रख अनेक बार सिंहासनका अभिवादन करता। प्रत्येक बार रोहिताश्व मस्तक झुका मंजूषाकी स्वर्ण धूलि करसे उठाकर उसमें फिर गिरा देता। दारयवौष्के नेत्र उसकी मुकुटमणियोंसे चमक उठते। फिर उसकी सुदीर्घ दाढ़ीके श्वेत केश उसके किरीट-रत्नोंके प्रकाशमें अनेक रंगोंसे रँग जाते।

बड़ी देर तक स्वर्ण-चूर्णसे भरी मंजूषाएँ आती रहीं और रोहिताश्व एक-एकको खोल-खोल दिखाता रहा। स्वर्णके पश्चात्, रत्नोंकी बारी आयी—मोतियों, मणियों, हीरकोंकी। एक-एक सभासद् अपने समीपके अमीरकी पगड़ीको देखता परन्तु उन पगड़ियोंकी रत्नलड़ियोंमें भारतके इन रत्नोंका चमत्कार न था।

कई दिनों तक इसी प्रकार प्रदर्शन चलता रहा। जब द्रविण-मंजूषाएँ रिक्त हुईं, रत्नपेटिकाएँ आयीं, जब वे गयीं क्षौम-दुकूल आये। फिर अन्तिम दिवस मानव मूर्तियोंकी अद्भूत छवि प्रदर्शित हुई—दासों और दासियोंकी पंक्ति चली। दारयवौष् प्रसन्न हो उठा। उल्लाससे भर उसने प्रसन्नतासे शब्दघोष किया। कुछ काल-तक पारसके भूखे अमीरोंके कण्ठसे दारयवौष्के शब्दघोषकी प्रतिध्वनि होती रही। एक-एक नारीमूर्तिको देख पारसपुरका एक-एक सम्भ्रान्त नर विक्षिप्त हो उठा। क्या वृद्ध क्या युवा।

दासोंके पुष्टगात्रोंको देख पारसके सम्राट्ने विचारा—ऐसे दास तो देवताओंसे कहीं दर्शनीय हैं।

फिर दासियोंकी कमनीय मूर्तियाँ एक-एक कर वह देखता रहा। दूर देशोंकी नारियाँ थीं ये—केरलकी, सिंहलकी, सिन्ध-पंचालकी, मिस्र-यूनानकी, रूम और रोमकी। कुछ दानमें उपलब्ध, कुछ स्थलपर जातीं, कुछ महोदधिमें गृहीत। केरली प्रथम दर्शनमें ही दारयवौष्को रुच गयी।

सम्राट्के प्रस्तावको केरलीने ठुकरा दिया, निन्द्य, घृणित कह उपेक्षित कर दिया। प्रथम तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ फिर उसने युक्तिसे कार्य साधनेकी ठानी।

उसने कितने ही दास-दासी उसकी सेवामें नियुक्त किये, साम्राज्यकी कितनी ही विभूतियाँ उसके चरणोंमें बिखेर दीं, पर वह उसे फिर भी जीत न सका। रानियाँ आयीं उसे समझाने, ऐश्वर्यके लोभसे उसे मनाने, परन्तु उसने अपना हठ न छोड़ा।

जब कभी सम्राट् उससे पूछता—"रानी तुझे क्या दूँ?" तब वह केवल बिलखकर कहती—सम्राट्, मुझे मेरी 'गोमेदकी मुद्रिका' दे दो।" परन्तु कहाँ थी वह 'गोमेदकी मुद्रिका'—दारयवौष् नहीं जानता था। उसकी आज्ञासे सारा कोश देख डाला गया। सिन्धु-प्रदेशसे आया धन

दसों बार देखा गया, किन्तु वह 'गोमेदकी मुद्रिका' न मिली। सम्राट्ने रोहिताश्वको बुलाकर पूछा पर उसने 'गोमेदकी मुद्रिका' का नाम भी न सुना था। उसने मस्तक हिला दिया। सम्राट् बेचैन था।

वह कहता, "सुन्दरि, सारा साम्राज्य तेरे चरणोंपर लोटता है, तू किस 'गोमेदकी मुद्रिका'की रट लगाये हुए है ? कोशमें मेरे और रानियोंकी अँगुलियोंपर अनेक अमूल्य मुद्रिकाएँ हैं, तू जिसे चाहे ले ले !

केरली उत्तर देती—"सम्राट्, तुम्हारा सारा वैभव मेरी क्षुद्र 'गोमेद की मुद्रिका' के सम्मुख तुच्छ है।"

सम्राट् खिन्न हो चल देता। चलता-चलता वह सोचता—क्या है इसकी वह मुद्रिका ? यदि उसका पता पा जाऊँ, संसारके उस पारसे मँगा दूँ। पर है कहाँ वह मुद्रिका ? यदि कहीं सम्भव होता कि मैं अपना सारा साम्राज्य बेचकर भी वह मुद्रिका क्रय कर सकता।

फ़ारस साम्राज्य-भरमें, संसारके सभी नगरोंमें डुग्गी पिट गयी—जो कोई दारयवौष्की 'केरली' की अभिलषित 'गोमेदकी मुद्रिका' ला देगा उसे सम्राट् मुँहमाँगा पारितोषिक देगा।

संसारके जौहरी मुद्रिकाकी खोजमें निकल पड़े। भारत, सिंहल, चीन, मिस्र, यूनान, रोम सबकी निधियाँ एक बार उलट-पुलट गयीं। "क्या है वह 'गोमेदकी मुद्रिका' ?"—जौहरियोंने सोचा—"कैसी है ?" कितनों ही ने अद्भुत, अमूल्य मुद्रिकाएँ पारसके सम्राट्को दिखायीं। सम्राट्ने केरली के पास उनको भेजा, किन्तु वे उसकी अभीष्ट न थीं। उसने उन्हें फेंक दिया।

वर्ष बीत गये। केरली चिल्लाती रही। उसकी 'गोमेदकी मुद्रिका' न मिली। उसने सम्राट्से कहा, "मुझे अब किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, मुझे मरने दें। अवधि पूरी हो गयी।"

दारयवौष्ने उसकी बात न समझी; न उसने उसे समझाया। परन्तु सम्राट्ने अनुनय की—"एक वर्ष और। 'गोमेदकी मुद्रिका' खोज निकालूँगा।"

केरलीको भी आश्वासन मिला। फिर एक बार सभ्य संसारके नगरोंमें संवाद फिर गया। जौहरी खोजमें फिर व्यस्त हो गये। सैनिक और राजपुरुषोंने जगत् छान डाला, पर 'गोमेदकी मुद्रिका' न मिली।

सिंहलका एक पोत वेगसे उत्तरकी ओर चला जा रहा था। यह पोत सिंहलके एक श्रेष्ठिपुत्रका था। बड़े वेगसे वह इसे उत्तरकी ओर लिये जा रहा था। इसमें पाँच सौ माँझी अमित वेगसे डाँड़ चला रहे थे। क्षण-क्षण बाद श्रेष्ठिकुमार माँझियोंको बढ़ावा दे रहा था। उसका आहार-विहार सब छूट चुका था। प्रबल वेगसे वह उत्तरकी ओर बढ़ता जा रहा था।

सप्ताह, मास वेगसे निकल गये। केरल छूटा, अपरान्त छूटा, सौराष्ट्र-सिन्धु-मुख भी छूट गये। पोत अब विशाल सागरपर लहराने लगा। उत्ताल तरंगोंके भयंकर गालमें जब पोत पड़ा होता और जब सब अपने जीवनकी आशा छोड़ देते तब भी श्रेष्ठिकुमार पोतमुखपर खड़ा हो माँझियोंका उत्साह बढ़ाया करता।

विशाल तोयनिधिका अवगाहन-सा करता पोत पारसकी ओर सरका। अब कुछ ही दिनोंकी यात्रा और थी। माँझियोंमें अपने-आप उत्साह भर गया, फिर श्रेष्ठिकुमारकी ललकार।

तीसरे दिवस पारसकी भूमि दृष्टिगोचर हुई। आनन्दसे श्रेष्ठिकुमार उछल पड़ा। माँझियोंने उत्साहसे डाँड़ोंमें हाथ लगाया। श्रेष्ठिकुमारने भी डाँड़ पकड़ा। पोत भूमिकी ओर उड़ चला। दूर, तटपर अनेक नौकाएँ, अनेक पोत मँडरा रहे थे। उनके बीच शीघ्र पहुँचना था। पोत उड़ चला।

परन्तु किसीने न देखा कि तटकी सारी नौकाएँ, सारे पोत दुर्गके

नीचे झीलमें चले जा रहे थे। क्यों? आकाशमें मेघोंका संघट्ट हो रहा था। माँझियोंने उन्हें नहीं देखा। उनके पास समय न था। श्रेष्ठिकुमार उन्हें ललकार रहा था। सिन्धु गर्जन कर रहा था। झंझावात मुँह बाये दौड़ा आ रहा था।

वर्षा प्रारम्भ हो गयी। प्रभंजनका वेग बढ़ता गया। परन्तु पोत बन्दरमें पहुँच ही चुका था। बस एक डाँड़ और, फिर बन्दरके भीतर, दुर्गके नीचे, आश्रयमें सुरक्षित।

यकायक एक गगनचुम्बी तरंग उठी। राक्षसी थी यह तरंग। उसने उस विशाल पोतको खा लिया। बन्दरके भीतरवालोंने देखा—तरंगके बीचसे निकल पोत उसके मस्तकपर चढ़ बैठा। पोत डूबा न था, केवल दो लहरोंके मध्य हो गया था। श्रेष्ठिकुमार अब भी माँझियोंको बढ़ावा दे रहा था।

परन्तु होना कुछ और था। पीछेके कर्णधारने जैसे ही पतवारको तिरछाकर पोतको एक बड़ी लहरसे बचाना चाहा, पोत समीपकी चट्टानसे जा टकराया, प्रबल वेगसे। धज्जियाँ उड़ गयीं उस पोतकी। लहरें थम गयीं। प्रभंजन रुक गया। मेघ छँट गये। पोतको डुबानेके निमित्त ही प्रकृतिकी यह तत्परता थी।

दुर्गकी ओरसे फ़ारसके माँझी निकल पड़े। परन्तु अपनी तत्परतासे भी वे एक प्राणी तकको न बचा सके। फ़ारसका नौकाध्यक्ष और भूतपूर्व जलदस्यु तटपर खड़ा था। एक शवको तरंगोंने तटपर फेंक दिया। शवको उसने पहचाना। यह वही सिंहलका श्रेष्ठिकुमार था जिसे अन्य यात्रियोंके साथ उसने दो वर्ष पूर्व उनका पोत लूट बन्दी किया था।

सुन्दर श्रेष्ठिकुमार अब भी मानो जीवित था। सहसा नौकाध्यक्षने उसकी अनामिकापर एक गोमेदकी मुद्रिका देखी। वह उछल पड़ा। मुद्रिका लेकर वह सत्वर चल पड़ा।

भूख-प्यास भूल वह फ़ारस पहुँचा। दारयवौष् नित्यकी भाँति हरममें

चिन्तित बैठा था। जब नौकाध्यक्षने उसे मुद्रिका दी और सारी कथा सुनायी, सम्राट्को कुछ आशा हुई। वह शीघ्र केरलीके समीप पहुँचा। केरली मुद्रिकाकी आशा छोड़ चुकी थी।

परन्तु उसे देखते ही वह उछल पड़ी।

उसने पूछा, "सम्राट्, 'गोमेदकी मुद्रिका' यही है पर इसका स्वामी कहाँ है ?"

सम्राट्ने नौकाध्यक्षकी ओर देखा। नौकाध्यक्षने मस्तक झुका लिया।

फिर उसने कहा, "इसके स्वामीको सागरकी लहरोंने खा लिया।"

केरलीने सम्राट्से कहा, "सम्राट् श्रेष्ठिकुमारको दस्युओं-द्वारा लूटे जानेके पूर्व मैंने पतिरूपमें वरण किया था। वह अब न रहा।"

केरली यकायक गिर पड़ी। फिर वह न उठी।

दारयवौप्ने धीरे-धीरे कहा, "क्षत्रियाणां क्षत्रिय' आर्य दारयवौप्के साम्राज्य-कोशमें इस 'गोमेदकी मुद्रिका' के मूल्यकी कोई मुद्रिका नहीं।"

फ़ारसकी जलदस्युताका संवाद फिर संसारने नहीं सुना।

१ अक्तूबर १९४०
मध्याह्न १२.३०—२.३०



एथेन्सका भारतीय

[क्षयार्षा, जरक्सीज़, दारयवौपका उत्तराधिकारी था। इसने भी फ़ारस-साम्राज्यका विस्तार किया था। कभीके कुरुके जीते यूनानके नगर-राज्य स्वतन्त्र हो चुके थे। इसकी आकांक्षा यूनानको फिरसे जीतनेकी हुई और इसने अपनी एक विशाल सेना एथेन्स आदि यूनानी नगरोंके विरुद्ध भेजी। ग्रीक ऐतिहासिकोंका कहना है कि मारदोनिअसके सेनापतित्वमें जिस सेनाने यूनानपर आक्रमण किया था उसमें सैनिकोंकी एक टुकड़ी भारतीयोंकी भी थी। प्लातियाके युद्धमें पराजय भारतीयोंके हिस्से भी पड़ी थी। इन भारतीयोंके बाणोंकी मार करारी थी और बेंतके इनके बाणोंके फलक लोहेके थे। लोहेके फलकवाले बाणोंका प्रयोग पश्चिममें सर्वप्रथम इसी युद्ध-में पाँचवीं सदी ई० पू०में भारतीयोंने ही किया था। भारतीय धनुर्धरोंके कपासकी रुईके बने वस्त्रोंने भी ग्रीकोंमें बड़ा कुतूहल उत्पन्न किया था।]

दारयवौपके विस्तृत साम्राज्यके कई भागोंमें भारतीय सैनिक नौकर थे। परन्तु जब फ़ारसके सम्राट्ने सिन्धुकी विजय कर ली तब तो पंचनदीय भारतीयोंका ईरान विशेष प्रेम-भाजन बन गया। दलके दल भारतीय योद्धा दारयवौपके उत्तराधिकारीकी सेनामें भरती होने लगे।

क्षयार्षाकी आकांक्षाएँ आकाशसे बात करती थीं। जब उसका प्रभुत्व उत्तरकी दुर्द्धर्ष जातियोंने मान लिया, वे और भी असंयत हो उठीं। उसने

ईरानी पताका यूनानके नगर-राज्योंपर भी फहरानी चाही। उसके दृप्त सेनापतियोंने उसकी अभिलाषाओंको और उठाया—एशियाके देशोंको कुचलकर युरॅपपर जब-तब आक्रमण करके।

पश्चिमी राष्ट्रोंमें यूनानियोंके नगर-राज्य प्रमुख थे। क्षयार्षाने उधर दृष्टि फेरी। मारदोनिअस्ने यूनान-विजयका बीड़ा उठाया।

चुने हुए योद्धा उसकी सेनामें एकत्र किये जाने लगे। भारतीय धनुर्धरोंका एक विख्यात दल मारदोनिअस्की ध्वजाके नीचे आ डटा। वसन्त बीत रहा था। ग्रीष्म युद्धकी सुविधाएँ लिये आ रहा था। सेनापतिने सैनिकोंके नाच-रंग कुछ समयके लिए बन्द कर दिये। द्राक्षासव विसर्जित हुआ। पानभूमिकी क्रीड़ाएँ केवल स्मृतिमें रह गयीं और ईरानी विलासिनियोंके कटाक्ष विस्मृत हो गये।

अब केवल सैन्य-क्षेत्रमें संचालन और नियन्त्रण होने लगा। वीरोंके बल और दल दोनों बढ़ने लगे। मारदोनिअस् नित्य सैनिकोंके आवासमें आता और उन्हें सब प्रकारसे उत्साहित करता। स्वयं सम्राट् क्षयार्षा कभी-कभी इन विदेशी भारतीय वीरोंकी पीठ ठोंक जाता, उनके प्रति अपनी और ईरानकी कृतज्ञता प्रकट कर जाता। भारतीय सैनिक अपनी इस प्रतिष्ठापर गर्व करते, फूले न समाते। उत्साहसे भर वे ईरानी सम्राट्का जयजयकार करते।

ईरानियोंकी प्रबल विजयवाहिनी चली, धराको कम्पित करती, शत्रुओंके हृदयोंमें हूक उठाती। जब मारदोनिअस् अपनी विपुल सेना लिये राजधानीसे निकला, ईरानी बालिकाओंने प्रासाद-पृष्ठोंसे सेनापर पुष्पवर्षा की। समीपके आश्रित राजा भी धीरे-धीरे बढ़ती हुई सेनासे आ मिले।

विशाल ईरानी साम्राज्यको पार करनेमें ही मारदोनिअस्को कई मास लग गये। पश्चिमकी सीमापर यूनानी नगर-राज्योंके रक्षित-राज्योंकी एक बड़ी सेनाने मारदोनिअस्की सेनाका सामना किया। ईरानी सेनाकी हरा-

वल भारतीय धनुर्धरों-द्वारा बनी थी। इस हरावलके बाणोंकी मारसे जर्जर हो शत्रु भाग चले। ईरानी सेनाने उन्हें रौंद डाला।

परन्तु यह यूनानियोंकी विशिष्ट सेना न थी। यह तो केवल ईरानियों-की बाढ़ रोकने और नगर-राज्योंको तैयारीका अवकाश देनेके अर्थ भेजी गयी थी। अबतक नगर-राज्य भी अपनी तैयारी कर चुके थे। यूनानके असाधारण योद्धाओंकी एक सेना बनी थी। यह दो भागोंमें विभक्त थी। एक भाग ईरानियोंकी नौसेनासे लड़ने समुद्रमें उतरा था, दूसरा उनकी स्थल-सेनासे लोहा लेने प्लातियाकी ओर बढ़ा।

प्लातियाके सुविस्तृत रणक्षेत्रमें दोनों सेनाएँ मिलीं। ईरानियोंकी हरावल भारतीय धनुर्धरोंने सँभाली और यूनानियोंकी एथेन्सवासियोंने।

घमासान युद्ध छिड़ गया। भारतीय धनुर्धरोंने लौह-फलकोंवाले छहत्थे बाणोंसे विकट मार प्रारम्भ की। एथेन्सवालोंके वर्म छिद गये। ईरानी अश्वारोहीकोंने यूनानियोंके वाम पार्श्वपर प्रचण्ड आक्रमण किया जिसका उत्तर उन्होंने ईरानियोंके दक्षिण पार्श्वपर अपनी सवार सेना चढ़ाकर दिया। शवोंसे क्षेत्र पट गया। लहूकी नदी बह चली। परन्तु हारनेवाला कौन था? ईरानी सहस्रों कोस दूर अपना देश छोड़कर आये थे पराजित हो कैसे लौटते? उधर यूनानी भूमिके अर्थ, स्वतन्त्रताकी रक्षाके हेतु जान लड़ा रहे थे।

तुमुल युद्ध छिड़ा था। दिनों सेनाएँ गुँथी रहतीं फिर थककर अपने-अपने शिविरको लौट जातीं। एक मास तक दोनों सेनाएँ शिविरमें पड़ी रहीं। यूनानियोंको जीवनके सिवा और किसी वस्तुकी चिन्ता न थी परन्तु ईरानियोंकी खाद्य-सामग्री धीरे-धीरे कम हो चली। अब उन्हें विजयके अर्थ नहीं, जीवनके हेतु लड़ना था।

दूसरे दिन भारतीय हरावलने प्रबल वेगसे यूनानी हरावलपर आक्रमण किया। यूनानी हरावल टूट गयी पर उसका स्थान झट अन्य नगरोंकी सेनाओंने ले लिया। भारतीय धनुर्धरोंने पुनः एक बार प्रबल आक्रमण कर

एथेन्सकी सेनाके पैर उखाड़ दिये। इसी समय ईरानी अश्वानीकोंने यूनानी सेनाके दोनों पार्श्वोंपर भीषण आक्रमण कर उन्हें रौंद डाला।

परन्तु यूनानियोंसे मैदान लेना कुछ साधारण कार्य न था। एक-एक मृतकके स्थानपर दो-दो आ डटते। मृत्युसे खेलना कोई उनसे सीखता।

जब ईरानियोंकी प्रबल मारसे यूनानियोंके पार्श्व कुचल गये ठीक तभी भारतीय हरावलका नेता ईरानी पताका लिये एथेन्सकी सेनामें पिल पड़ा। उसकी सेना असि लेकर शत्रुकी हरावलपर फिर टूटी।

इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिसने रणका पासा पलट दिया। सामुद्रिक युद्धमें यूनानियोंने ईरानियोंके सारे पोत डुबा दिये और झट स्थल-सेनामें परिवर्तित हो उन्होंने ईरानी स्थल-सेनापर पीछेसे आक्रमण किया। ईरानी सेनाका व्यूह टूट गया। मैदान शवोंसे पट गया। भारतीय हरावल मारदोनिअस्की अध्यक्षतामें लड़ती रही। उनके नेताने वीरगति पायी। उसके करसे एथेन्सकी सेनाने ईरानी पताका छीन ली।

मारदोनिअस् बन्दी हुआ, भारतीय सेना भी बँध गयी।

भारतीय गृहीत सैनिक एथेन्सके श्रीमानोंके दास हुए। युद्धके बन्दियों-का यूनानमें यही दण्ड था। सैकड़ों ईरानी और भारतीय एथेन्समें दासत्व-की शृंखलामें बँध गये।

भारतीय दासोंके श्वेत रुईके बने वस्त्रोंपर एथेन्सवासी चकित दृष्टि डालते। कितनोंने उनके वस्त्र छीन लिये। उनके लक्ष्यवेधकी प्रशंसा सारे नगरमें होती। फिर भी उनके साथ भी अन्य दासोंकी ही भाँति उनके प्रभुओंका नृशंस व्यवहार होता। कुछ भारतीय उसे सहन न कर सकनेके कारण तलवारके घाट भी उतारे गये।

फिर भी इन अभागोंके लिए भी कुछ हृदय द्रवित होते थे—ये थे एथेन्सकी नागरिकाओंके। उनके विलासी नेत्रोंने अपने प्रसारसे भारतीयोंका

वक्ष नापा, ऊँचाई देखी, शक्ति आँकी और वे मुग्ध हो गये। जब कभी एकान्तमें सुविधा होती ये नागरिकाएँ इन अभागे विदेशियोंपर अपना अनुराग वर्षण कर देतीं। ऐसे ही भाग्यवान् दासोंमें कुरु रैवतक भी था। वह एथेन्सके सेनापतिके भागमें पड़ा था। उसकी शक्ति देखकर सेनापतिने उसे दासोंका नायक बना उनसे काम लेनेके कार्यपर नियुक्त किया था।

उसे सेनापतिकी कठोर आज्ञा थी कि कोई दास व्यर्थ बैठने न पाये और उनसे कठोरताका व्यवहार किया जाये। पर यह रैवतकसे सम्भव नहीं था। दासोंमें कई भारतीय भी थे। रैवतक उनपर हाथ नहीं उठा सकता था। एक दिन जब सेनापति लौटा, उसने रैवतकको अपनी कन्यासे हँस-हँसकर बातें करते देखा।

उसकी कन्या सुन्दरी मीदिया एथेन्सके युवकोंके हृदयकी रानी थी। उसकी प्रतिमूर्तियोंसे एथेन्सका बाजार भरा था। वह रैवतकको हृदयसे चाहती थी। मातृहीना कन्यासे उसका पिता प्राणोंसे बढ़कर स्नेह करता था। जब वह बाहर चला जाता मीदिया रैवतकसे लिपट-लिपट खेलती। जब सेनापतिने रैवतकको इस प्रकार मीदियासे हँस-हँसकर बातें करते देखा, उसके क्रोधकी मात्रा चरम हो गयी। उसने अपने अश्वसे रैवतकका दाहिना पाँव कुचल डाला और लगा उसपर कोड़ोंकी वर्षा करने। यदि सेनापति उसकी प्रेयसीका पिता न होता तो रैवतक उसे मार डालता। उसने सेनापतिके करसे कशा छीनकर तोड़ फेंकी।

सेनापतिने क्रोधको पीकर जब प्रासादमें प्रवेश किया मीदिया आगेकी विपत्तिकी कल्पना कर काँप रही थी। उसने, खिड़कीसे रैवतकको संकेत किया—"भाग जाओ।" पर रैवतक भागकर कहाँ जा सकता था? फिर मीदियाको छोड़कर कहीं जाना उसके लिए असम्भव था। वह रुका रहा।

सैनिकोंने रैवतकको बाँध लिया। वह जानता था कि उसका दण्ड मृत्यु है। मीदिया भी इससे पूर्णतया अवगत थी। जब सेनापतिने न्याया-

धोशोंसे अपने दासको प्राणदण्ड देनेकी व्यवस्था माँगी तो उन्होंने देल्फीके ओरैकिल—देवीकी वाणी—का सहारा लिया। सारे एथेन्सने सुन रखा था कि भारतीय सिंहसे मल्लयुद्ध करते हैं। ओरैकिलने कहा, "दास भूखे सिंहके सम्मुख छोड़ दिया जाये।" यह व्यवस्था सबकी जानी थी, सबकी प्रिय।

एथेन्सके 'ओलिम्पिक'—खेलवाले—मैदानमें मंचोंपर नागरिक बैठे थे। सेनापति भी था, उसकी कन्या मीदिया भी थी। रैवतक नीचे 'अरेना'में सिंहके कटघरेके सम्मुखवाले कटघरेमें था।

बड़ी उत्सुकता थी, बड़ी व्यग्रता। पशु-मानव-युद्ध बड़े कुतूहलका था। नर-नारी सतर्क बैठे थे। अकस्मात् रैवतकका लौहद्वार खुला। वह प्रांगणमें उतर आया। सामने मीदिया बैठी थी, पिताके पार्श्वमें। रैवतकके रोम-रोममें शक्ति भर गयी, उत्साह बस गया। शान्त-गम्भीर वह सिंहके द्वारकी ओर मुड़कर खड़ा हो गया।

धीरे-धीरे सिंह-द्वारके सींकचे ऊपरसे खींच लिये गये। चार दिनका भूखा सिंह मानव आखेटको देख उसकी ओर लपका। भूखसे उसकी कोख भीतर धँस गयी थी। उसने पलक मारते रैवतकपर आक्रमण किया। रैवतकने पैंतरा बदलकर वार खाली किया।

मानव-पिशाच ऊपरसे देख रहे थे। उनके लिए यह मनोविनोद था। उनकी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी।

सिंहने फिर चोट की। रैवतक फिर बाल-बाल बच गया। सिंह गरजा। इस बार उसने दाढ़ोंको खोलकर पंजोंका कठिन प्रहार किया। भरपूर पंजा रैवतकके वाम स्कन्धपर पड़ा और उसका वह भाग लहूलुहान हो गया। परन्तु रैवतकको उसकी चिन्ता न थी। उसे कदाचित् उस आघातका पता भी न चला। वह सिंहके अगले आक्रमणकी बात सोचने लगा।

मीदियाने उसका व्रण देख चिल्लाकर नेत्र बन्द कर लिये। सारा

एथेन्स आनन्दपूर्वक यह खेल देख रहा था। कुतूहल था, परन्तु दया न थी। थी भी तो कदाचित् पशुके प्रति। लोग सोच रहे थे सिंहका वार कहीं ख़ाली न जाये।

रैवतक भी जानपर खेल रहा था। पशु पीछे हट कुछ झुका, फिर उसने अपनी पूँछ पटकी। अभी पूँछ पटकनेकी ध्वनि मरी न थी कि उसका फुर्तीला शरीर हवामें एकाएक उठकर रैवतकपर फिर टूटा। सचेत रैवतक प्रतीक्षा कर रहा था। उसने सँभलकर शक्ति-भर घूँसा मारा, पशु चीत्कार कर दूर जा रहा।

मीदियाका हृदय संशय और आतंककी दोलामें झूलने लगा। लोग डरते थे—कहीं रैवतक बचकर निकल न जाये। मानव मानवका शत्रु था।

सिंह फिर उठा। उसने अबकी आक्रमण नहीं किया। वह लगा रैवतकका चक्कर काटने। रैवतक भी उसकी ओर मुँह कर घूमने लगा। सहसा सिंहने पूँछ पटकी। रैवतक सधकर खड़ा हो गया—अन्तिम युद्धके लिए।

पशु वायुमें फिर उठा। परन्तु इस बार रैवतकने उसे अवकाश न दिया। वह पलक मारते सिंहके पेटके नीचे जा पहुँचा और उसने पशुके पिछले पाँव दोनों करोंमें पकड़ लिये। फिर अवकाश न दे वह लगा उसे बलपूर्वक घुमाने। दर्शक भाग चले—कहीं वह उसे उनके बीच न फेंक दे। रैवतककी एक बार ऐसी इच्छा हुई भी परन्तु अपनेको रोका। वह सिंहको कुछ देर तक घुमाता रहा फिर उसे बलपूर्वक पकड़ उसने पृथ्वीपर दे पटका। सिंहका माथा फट गया और वह पृथ्वीसे चिमट गया। रैवतकने उसे खोदा पर उसने अपनी पूँछ और दबा ली।

पशु हार गया। परन्तु मनुष्य न हारा। उसने रैवतकपर पत्थर फेंके, मीदियाने फूल।

एथेन्सके नियमानुसार वह स्वतन्त्र हो गया। परन्तु उसका शत्रु

मनुष्य था, पशु नहीं। उसे विकराल मानव-पशुसे अभी बचना था। मीदियाके अनेक सम्भावित वर थे उन्होंने रैवतकका अन्त करनेकी ठानी।

जब मीदियाके साथ जाते रैवतकपर उसके प्रतिस्पर्धियोंने अचानक आक्रमण किया, उसने भी आत्मरक्षामें उनपर खड्ग चलाया। उसके सिरमें कड़ी चोट आयी। रक्त प्रवाहित होने लगा। अकेला युद्ध निरर्थक विचार मीदियाको समुद्रकी ओर भागनेका संकेत कर वह स्वयं भी उसी ओर भागा। दोनोंके अश्व उड़ चले। औरोंने पीछा किया। द्रुत वेगसे।

मीदिया समझ गयी। तटकी एक नौकापर चढ़ उसने उसे खोल दिया। मीदियाको अवकाश देनेके लिए रैवतक शत्रुओंसे लड़ रहा था। अब वह समुद्रमें कूद पड़ा और मीदियाकी नौकाकी ओर तैर चला। शत्रुओंने उसका पीछा किया।

मीदियाकी सहायतासे रैवतक शीघ्र उसकी नौकापर चढ़ गया परन्तु उसके शत्रु भी उनसे दूर न थे। रैवतक अद्भुत वेगसे डाँड़ चला रहा था और उसके सिरका रक्त मीदिया पोंछती जा रही थी। परन्तु रक्तका वेग न थमा, न शत्रुओंकी नौकाओंका ही। रैवतक देरतक अपनेको न सँभाल सका। धीरे-धीरे चेतनाहीन हो वह मीदियाकी गोदमें जा गिरा। शत्रु अब कुछ ही दूर रह गये थे।

मीदियाने बस एक उपाय देखा। वह रैवतकको नौकाके कर्णपर खींच ले गयी और उसे लेकर समुद्रमें कूद पड़ी। शत्रुओंने आश्चर्यपूर्वक देखा—सागरमें कुछ वृत्ताकार रेखाएँ उठीं फिर विलीन हो गयीं।

१ अक्तूबर १९४०
रात्रि ७.३०—१०.३०



वितस्ताके तटपर

[पूर्वविजयी मेसिदोनके अलेग्ज़ेंडर (सिकन्दर) ने ३२६ ई० पू०में भारतपर आक्रमण किया परन्तु वह विपाशा (व्यास) से पूर्व नहीं बढ़ सका था। एरियन लिखता है कि उससे चन्द्रगुप्त मिला था और उसने उसे नन्दके साम्राज्यपर आक्रमण करनेके लिए उकसाया भी था। प्रस्तुत कहानीका विषय सिकन्दर और पोरसका युद्ध है जो झेलमके तटपर हुआ था। अलेग्ज़ेण्डर शब्दका भारतीय रूपान्तर अलिकसुन्दर है जो हमें अशोकके पाली शिलालेख (तेरहवें) से उपलब्ध होता है। अशोकके पाँच समकालीन युरोपीयन राजाओंमें-से एकका नाम अलेग्ज़ेण्डर था जो एपिरसका राजा था।]

मकदूनियाके बर्बर फ़िलिपने यूनानके नगर-राज्योंको कुचल डाला। जब वह अन्तिम युद्धसे विजयी हो लौटा, उसका बेटा अलिकसुन्दर मुरझाया बैठा था। उसे चिन्तित देख गुरु अरस्तूने पूछा, "अलिकसुन्दर, खिन्न क्यों बैठे हो?"

युवा सरोष बोला, "यदि पिताकी विजयोंका ऐसा ही ताँता रहा तो मेरी विजयके लिए क्या बच रहेगा?"

फिर वह यकायक उठा। उसने साईसके हाथसे पिताका उत्तुंग तुरग छीन लिया। फिर वह उसपर चढ़कर लगा उसे वायु-वेगसे दौड़ाने। सिवा फ़िलिपके इस घोड़ेपर कोई और सवार न हो सकता था। अश्व किसीको अंगीकार न करता था परन्तु इस ओजस्वी युवाके पुट्ठोंमें भी प्रचुर शक्ति

था। सामनेके मैदानमें अलिकसुन्दर अश्वको तबतक वेगसे दौड़ाता रहा जबतक दोनों स्वेदसे नहा न गये।

अलिकसुन्दरका वेग प्रभंजनका था। उसके सम्मुख राज्य उड़ गये, साम्राज्य उखड़ गये। मिस्रके राजाओंका विशाल पुस्तकालय अग्निकी लपटोंके भीतर समा गया, मासों जलता रहा।

और वह कुरुका खड़ा किया विशाल पारस-साम्राज्य काँपकर गिर पड़ा विक्रान्त विजयीके चरणोंमें। सुग्धके युद्धमें अलिकसुन्दरने क्षयार्षके यूनानपर आक्रमणका बदला फेर दिया। दारयवौष् (द्वितीय) बल्हीकके उत्तरी पर्वतोंमें जा छिपा। पारसपुरके राजप्रासाद, शूषा और एकबताना-की प्रस्तर-कला ग्रीकोंके हथौड़ोंसे चूर-चूर हो गयी।

हिन्दूकुश पार हो गया विक्रान्त यवन। स्वात और बाजौरके राज्य ध्वस्त हो गये। मस्सगके नर-नारी बाल-वृद्ध एक-एकने युद्ध ठाना। एक-एक मारा गया। ओलिम्पिकके खेल पर्वतोंमें होते रहे। तक्षशिलाके अधिपति पौरवके शत्रु आम्भीने दूतों-द्वारा धन और स्वातन्त्र्य भेजा। अलिकसुन्दरने पौरवको आत्मसमर्पण कर देनेको कहलाया। मनस्वी केकयराजने उत्तरमें कहला भेजा—वह उद्दण्ड यवनकी वितस्ताके तटपर प्रतीक्षा करेगा।

दुर्दान्त सामरिक विश्वविजयीकी भौंहें तन गयीं। "विशाल पारस-साम्राज्य जिसकी चोटोंसे टुकड़े-टुकड़े हो गया उसके सामने क्षुद्र कैकेयका यह साहस?"—उसने विचारा। उसने-दाँत पीस लिये। फिर वह धीरे-धीरे बोला, "अच्छा, 'वितस्ताके तटपर।"

ग्रीष्मकी प्रचण्ड लूसे पंचनदके मैदान झुलस रहे थे। वितस्ताके पश्चिम तटपर अलिकसुन्दर और उसके दुर्द्धर्ष योद्धा स्कन्धावारोंमें पड़े थे—सुयोग-

की प्रतीक्षामें।

इस पार केकयका एकवीर पौरव अपनी सेना लिये विदेशीकी गति-विधि लक्ष्य कर रहा था। विजयी ग्रीकसे दो-दो हाथ लेनेके लिए उसकी भुजाएँ फड़क रही थीं।

दोनों सेनाएँ नदीके तटोंपर अपने-अपने स्कन्धावारोंमें पड़ी थीं। दोनोंकी दृष्टि परस्पर मिली। महीनों सेनाएँ बैठी रहीं—यवनोंकी सुयोगकी प्रतीक्षामें, भारतीयोंकी सतर्क।

नित्य सारा दिन सारी रात ग्रीकोंकी नौकाएँ वितस्ताके ऊपर-नीचे जलकी गहराई नापती फिरतीं, पार जानेकी सुविधाके लिए। सुविधा मिली, सुयोग आया। निदाघका ताप द्रवित हुआ। आकाशमें मेघ मँड़राने लगे। रात्रिकी नीरवतामें अलिकसुन्दरके माँझियोंने उपयुक्त स्थल ढूँढ़ निकाला।

वितस्तामें चढ़ावपर आठ कोस ऊपर जल कुछ कम था। जहाँ वितस्ताकी धारा टूटकर दक्षिण ओर बहती थी वहीं उसके मोड़में वनोंसे ढँका एक छोटा-सा द्वीप था। अलिकसुन्दरने अपना कार्यक्रम स्थिर कर लिया। उसके ललाटकी रेखाएँ कुछ मिट गयीं।

ग्रीकोंके स्कन्धावारमें रसद जुटायी जाने लगी। समीपके गाँवोंसे महीनोंकी खाद्य सामग्री उनके शिविरोंमें आने लगी। इस पारके शिविरोंमें संवाद आया—विदेशी सामग्री संचय कर रहा है, वह, अभी रुकेगा, कदाचित वर्षा-भर। उनमें कुछ निश्चिन्तता आयी।

धीरे-धीरे मेघोंने आकाशको ढँक लिया। रात्रिमें अन्धकारके मेघोंकी घनताने वितस्ताके प्रवाहपर भारी परदा डाल दिया था। कई दिनोंसे ग्रीक स्कन्धावारमें नाच-रंग हो रहा था। विविध प्रकारके उत्सव मनाये जा रहे थे। दिन-भर खेल होते, रात्रिमें गायन।

आज इस अन्धकारमें जलवृष्टि भी प्रारम्भ हो गयी। वितस्ता पहलेसे

भरी थी, पर्वतका हिम गल रहा था। इसी समय चुनी हुई बीस सहस्र अश्वारोही, पदाति और धनुर्धरोंकी सेना ले अलिकसुन्दर नदीके ऊपरकी ओर चल पड़ा, तटसे कुछ दूर-दूर, झाड़ियोंकी आड़में।

ग्रीक स्कन्धावारमें पाँच सहस्र सेनाके साथ क्रातेरस् आदेशकी प्रतीक्षामें बैठा रहा। उसे आज्ञा थी कि जब अलिकसुन्दर अपनी सेना लेकर नेत्रोंसे ओझल हो जाये वह उस पारकी भारतीय सेनाका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करनेका प्रयत्न करे।

सहसा ग्रीक शिविरोंमें प्रदीप प्रज्वलित हो उठे। गणिकाएँ नाच उठीं। रंग जम गया। समीपके गाँवोंसे बलपूर्वक लायीं नारियोंके साथ ग्रीक सैनिक सामनेके विशाल शिविरमें क्रीड़ा करने लगे। दो सहस्र सैनिकोंकी टुकड़ी क्रातेरस्के सामने तुमुल नाद करने लगी। उस पारकी भारतीय सेनाने जाना—ग्रीक विलासमें तल्लीन हैं।

परन्तु यह प्रवंचना थी। अलिकसुन्दर गरजते बादलोंकी छायामें मनवांछित स्थलपर जा पहुँचा। बेड़े तैयार थे। सिन्धुकी नौकाओंने आज फिर सहायता की। ग्रीकोंकी सेना वितस्ताके मध्यके वन-द्वीपपर जा उतरी। परन्तु वहाँ उतरकर प्रातःकालके अँधियारेमें उसने देखा यह तट नहीं है, अभी एक और गहरी धारा पार करनी है। इसी समय दूरकी पौरव सेनाने विद्युत्के प्रकाशमें ग्रीकोंके पीतलके चमकते टोपोंको देखा। अलिकसुन्दर और ग्रीक स्कन्धावारके बीच स्थान-स्थानपर तीन सेनापति अपनी-अपनी सेनाएँ लिये आदेशकी प्रतीक्षामें खड़े थे। मिलीगर बीचमें था।

पौरवका पुत्र दो सहस्र अश्वानीक और कुछ रथसेना लेकर दुर्दान्त विदेशीकी ओर बढ़ा। इसी समय वक्ष तक जलमें हलते हुए पदाति और तैरती हुई अश्वारोही सेना जल गारती तटपर आ खड़ी हुई।

उधर क्रातेरसने अपने शिविरोंमें और अधिक हल्ला मचाना आरम्भ कर दिया। पौरव अब भी सम्मुख तटके पारके स्कन्धावारको ही ग्रीकोंका

मुख्य भाग समक्ष तटकी रक्षामें बैठा रहा। क्रातेरस् आज्ञाकी प्रतीक्षामें था। उसे आदेश था कि जब भारतीय सेना युद्धमें पूर्णतया संलग्न हो जाये, वह उस पार उतरकर उसपर आक्रमण करे।

पौरवका पुत्र मुट्ठी-भर सेनाके साथ ग्रीकोंको वीरवाहिनीपर टूट पड़ा। कोइनस्ने उसे कुचल डाला। उसका एक-एक सैनिक मारा गया।

पिता क्रोधसे तमतमा उठा। चला वह अलिकसुन्दरकी सेनाकी ओर अपनी विशाल सेनाके साथ। हयदल, रथदल, गजदल, पदाति वेगसे नयी रणभूमिकी ओर बढ़ चले। यवनराज अपना व्यूह रचे पौरवकी प्रतीक्षामें खड़ा था। उसकी दाहिनी ओर कोइनस् था।

पौरवने भी अपनी सेनाको व्यूह रचा। दो सौ विशाल गज पचास-पचास पगोंकी दूरीपर सम्मुख हरावलमें खड़े हुए। दोनों पार्श्वमें चार सहस्र अश्वारोही सामने तीन सहस्र रथोंको खड़ाकर डट गये। पीछे और बीचमें पदाति धनुर्धर तूणीर बाँधे, असि और भाले लिये आक्रमणकी प्रतीक्षा करने लगे। व्यूह दुर्गकी भाँति दिखाई देने लगा, गज दिखने लगे प्राचीर-स्तम्भोंकी भाँति।

विदेशीने अपने कई सेनानायकोंको छह सहस्र पदाति सेना ले रणक्षेत्र-से पृथक् प्रतीक्षा करनेकी आज्ञा दी और अपने एक सहस्र अश्वारोही धनुर्धरोंको नदी तटसे लगी भारतीय सेनाके वाम स्कन्धपर आक्रमण करनेका संकेत किया। धनुर्धरोंने प्रबल आक्रमण किया और अलिकसुन्दर स्वयं अपनी रक्षक सेनाके साथ उसी पार्श्वपर टूट पड़ा। भारतीय अश्वारोही सेनाका दक्षिण स्कन्ध पीछेसे होकर वामस्कन्धकी सहायताको दौड़ा। इसी समय कोइनस् अपने सवारोंको ले पौरवकी सेनाके दक्षिण स्कन्धका वेगसे चक्कर काट उसके अश्वारोही और रथसेनाके पश्चात् भागपर टूटा। जब भारतीय सेना पश्चात्के आक्रमणका सामना करनेके लिए पीछेको मुड़ने लगी, उसकी विनयस्थिति बिगड़ गयी। सैन्य-संचालन

कुछ कठिन हो उठा। व्यूह टूट गया। यवन योद्धाने मौका चूकना न जाना था। उसने घोड़े फिराते सवारोंके पृष्ठ भागपर भरपूर चोट की। वह ठीक बैठी। भारतीय पंक्तियोंके दोनोंके स्कन्ध टूट गये और दोनों ही रक्षाके निमित्त गजोंके संघट्टमें भागे। रथ व्यर्थ हो चले, उनके चक्के भींगी पृथ्वीमें धँस जा रहे थे।

पौरव और तिथोनस लड़ते-लड़ते खुले मैदानमें निकल आये थे। तिथोनसने दूरसे पौरवपर बरछेका वार किया था। दोनों एक-दूसरेको ललकारते योद्धाओंके संघट्टसे मैदानमें एक ओर निकल आये। दोनों वेगसे एक-दूसरेपर भल्लोंकी चोट कर रहे थे। दोनों शक्तिशाली थे। परन्तु दोनोंमें अन्तर भी था। ओलिम्पिक खेलोंका एकमात्र नायक, शूषाका विजेता तिथोनस अभी युवा था, पौरव प्रौढ़, उसके पिताकी आयुका। परन्तु पुत्रकी मृत्युने उसमें अद्भुत शक्ति भर दी थी। उसके विशाल दैत्य-सरीखे शरीरसे अलिकसुन्दरके प्रमुख सेनापति दूर-ही-दूर रहते थे। स्वयं यवनराज कई बार पैंतरे बदल उसके सामनेसे हट चुका था। केवल तिथोनस अपने जीवनसे खेल रहा था, उसे हथेलीपर लिये। दोनों पक्ष स्तम्भित-से हो उनका युद्ध क्षण-भर देखते रहे। स्वयं अलिक-सुन्दर कैकेयकी इस मारसे आकुल, चिन्तात हो उठा। कोइनस काँप गया। योद्धाओंके भल्ल हवामें उठे ही रह गये, धनुर्धरोंकी उँगलियाँ तूणीरोंसे चिपकी रह गयीं। इसी समय पौरवका घातक बरछा चमका, रक्त रविकी किरणोंके स्पर्शसे, ऊपर उठा, और सहसा तिथोनसके वामस्कन्धमें प्रवेश कर दक्षिण कुक्षिको विदीर्ण करता बाहर निकल आया। तिथोनसके गिरते ही अलिकसुन्दर जैसे सोतेसे जगा। उसके संकेतसे सौ अश्वारोहियों-ने एक साथ पौरवपर तलवारसे आक्रमण किया। रणमत्त पौरव जूझनेको तत्पर था, उनसे जा भिड़ा। लोहेसे लोहा बज उठा। उसकी ओरके घुड़सवार भी व्यूह छोड़ उसकी रक्षाके अर्थ दौड़ पड़े।

भयानक तत्परतासे पौरवकी लम्बी असि चलने लगी। जो उसके

सम्मुख आया, मारा गया। शवोंसे उसके सामनेका मैदान पट चला। उसी समय एक ग्रीक सैनिकका फेंका बाण पौरवकी कोखमें लगा पर रणमत्त योद्धा इस समय चोटोंका जैसे मित्र था। उसके ऊपर उनका प्रभाव न होता था।

क्रोध और आकुलतासे यवनराज भर गया। पाँच सौ चुने सवारोंके साथ उसने पौरवपर आक्रमण किया। पौरवने भी अपना भाला सँभाला। तौलकर जो उसने भाला मारा वह अलिकसुन्दरकी बायीं रानके समीप घोड़ेके पेटपर भरपूर बैठा। घोड़ा अपने स्वामीको लिये धीरे-धीरे बैठ गया। पौरवने भाला फिर सँभाला। यवन और भारतीय सैनिक, पदाति और अश्वारोही घमासान युद्ध कर रहे थे। जैसे ही पुत्रका बदला फेरनेके लिए पौरवने भाला उठाया उसके रक्षकोंके बीचसे फेंका हुआ आम्भीका भाला उसके स्कन्धमें लगा। पर घाव सांघातिक न था।

अलिकसुन्दर बाल-बाल बच गया था। घोड़ा बदलनेके अर्थ वह पीछे हटा। पौरव भी पीछे हट गजोंके संघट्टमें जा पहुँचा। घावोंकी पीड़ासे वह व्याकुल था। उसे अब हौदेके अवलम्बकी आवश्यकता थी।

यवनराज कुपित था, क्रोधसे अन्धा। परन्तु फ़ारस-साम्राज्यके विजेता उस दुर्द्धर्ष ग्रीकमें अद्भुत क्षमता थी। हृदयको उसने संयत किया। उसने जाना कि सम्मुख समरमें पौरवको जीतना सम्भव नहीं। अब उसने नीतिका अवलम्बन किया। सौ सधे धनुर्धरोंको दूरसे गजोंके नेत्रोंमें बाण मारनेकी उसने आज्ञा दी। नेत्रोंके बिंध जानेसे गज चिंघाड़ते हुए भभरकर भागे, शत्रु-मित्रोंको क्रोधपूर्वक कुचलते। भारतीय सेना व्याकुल हो उठी। अपने ही गजोंसे वह कुचली जाने लगी। पौरवका गज भी पीड़ासे अन्धा हो भाग चला।

इसी समय घोड़ेपर चढ़े आम्भीने पौरवको पुकारकर अलिकसुन्दरका सन्देश सुनाया। कैकेयने अपने शत्रुपर भालेसे प्रबल आक्रमण किया। वार ख़ाली गया और वेगके कारण हौदेके साथ ही पौरव भी नीचे आ

गिरा। व्रणोंसे रक्तप्रवाह निरन्तर हो रहा था। अब शक्तिके अत्य न क्षय हो जानेसे गिरते ही पौरव संज्ञाहीन हो गया। वह

यवन पक्षके कितने ही योद्धा और आम्भी उसका अन्त कर देनेके हि दौड़े परन्तु वीरपुंगव अलिकसुन्दर चिल्लाता हुआ स्वयं उधर दौड़ पड़के वीरको जीवित पकड़कर प्राणदान देना उसने अधिक उत्तम समझ रक्तरंजित पौरवको ग्रीक सैनिक अपने शिविरमें उठा ले गये।

इधर कोइनस्ने अपने अश्वानीकोंके साथ भारतीयोंपर फिर आक्रमण किया। मरती हुई भारतीय सेना फिर एक बार ग्रीकोंकी वाहिनीसे गुँथ गयी। इसी समय क्रातेरस्, मिलीगर और अन्य सेनानायकोंने वितस्ता पार कर भीषण आक्रमण किया। जिन सेनानायकोंको यवनराजने युद्धक्षेत्रसे आज्ञाकी प्रतीक्षा करनेके अर्थ विलग कर रखा था, अब वे भी उसका संकेत पा ग्रीकोंकी नयी सेनाओंसे आ मिले।

भारतीय सेनाका वीर सेनापति कैकेय पौरव गिर चुका था। सैन्य-संचालन दूरकी बात थी। अब योद्धाओंका व्यक्तिगत रूपसे लड़ना भी कठिन था। परन्तु भागते गजोंके बीचसे निकल-निकल उन्हींकी रौंदसे आकुल भारतीय योद्धा खुले मैदानका आश्रय किये यवनोंसे जान रहते लोहा लेता रहा।

परन्तु इस समय भारतीय आकाशकी मूर्धापर सूर्यकी भाँति ही अलिक-सुन्दरका शौर्य भी तप रहा था।

अलिकसुन्दरने फ़ारस-साम्राज्य-जैसे विशाल साम्राज्योंको जीता था परन्तु जितना सुख उसे इस छोटे-से राज्यके अधिपति पौरवको जीतकर हुआ पहले कभी न हुआ था। उसने अपने सैनिकोंको उत्सव करनेकी अनुमति दी।

ग्रीक स्कन्धावारमें विविध प्रकारके उत्सवोंका तुमुलनाद होने लगा। ओलिम्पिकके खेल, नाच-रंग होने लगे। परन्तु अलिकसुन्दर इनमें न था। वह अपने शिविरमें धीरे-धीरे टहल रहा था। विजयके हर्षके साथ-ही-

साथ एक प्रकारका अनजाना त्रास उसके हृदयको शंकित कर रहा था, खेलोंमें योग देनेसे वंचित कर रहा था। "यदि भारतकी देहलीपर ही" वह विचारता, "इस छोटे-से राज्यने यह टक्कर ली तो आगे नन्द-साम्राज्यकी शक्तिका सामना कैसे कर सकूँगा ?" भयका लेश जिसने कभी न जाना था, फ़ारस-साम्राज्यको जिसने कुछ धक्कोंसे ही गिरा दिया था उस विश्वविजेताकी बाढ़ वितस्ताके तटपर रुक गयी।

"यदि कहीं पोरस विजयी होता ?" उसने फिर अपने-आपसे पूछा—"तब ?" "तब"—उसने स्वयं कहा—"ग्रीकोंके मुँहपर कालिख पुत जाती। संसारकी विजय पराजयमें परिणत हो जाती।" वह काँप उठा।

उसने घुटने टेक दिये। नेत्रोंमें आँसू भरे उसने देवताओंको धन्यवाद दिया जिन्होंने कृपा कर पौरवके रथोंको व्यर्थ कर दिया था, उनके चक्के पंकमें धँसा दिये थे।

वह यकायक बाहर निकल आया। द्वारपर उसके सेनानायक खड़े थे। सामने मैदानमें उत्सव मनाये जा रहे थे जहाँ छोटे-छोटे कुरते पहने सुपुष्टांग दीर्घकाय ग्रीक सैनिक खेलोंमें व्यस्त थे। इस युद्धका प्रमुख विजेता कोइनस् था। आजका उत्सव उसीके नामपर था। उसीकी पूजा हो रही थी। अलिकसुन्दरने उत्सव-व्यसन बन्द कर दिये। अब उसने देवताओंकी पूजाका आयोजन किया। नयी बलिवेदियोंपर अनेक पशु बलि दिये गये। कई दिनों तक ज़ीयुस, अपोलो और एथेनीकी पूजा होती रही और वह दुर्दान्त विजेता अपनेको तुच्छ मान देवताओंकी प्रार्थना करता रहा।

किसीने उसके भीतरके उठते और लय होते विचारोंका मर्म न जाना।

पूजाओंसे शान्ति और शक्ति लाभ कर अलिकसुन्दरने दरबार किया। उसके दोनों ओर सुविस्तृत ग्रीक साम्राज्यके दुर्द्धर्ष सेनानायक अपने छोटे कुरते और पीतलके चमकते ऊँचे शिरस्त्राण पहने, ऊँचे भाले लिये, पंक्ति बाँध खड़े हुए—हेफ़ेस्तियन, सिल्यूकस, पर्दिक्कस, तोलेमी, कोइनस्,

क्रातेरस, मिलीगर, फ़िलिप्पस, पिउकेस्तस, लिओनेत्तस, एब्रिअस, नियरकस, आम्भी। उसके पीछे विक्रान्त शरीररक्षक खड़े थे। और सामने खुले मैदानमें विशाल ग्रीक सेना भाले लिये खड़ी थी। उनके ऊँचे टोपों और चौड़े वक्षस्त्राणोंको आज कई दिनोंके बाद निकला सूर्य चमका रहा था। अलिकसुन्दर स्वयं ग्रीक कुरता पहने और अपना विख्यात व्याघ्रमुख टोप धारण किये स्वर्ण सिंहासनपर विराजमान था।

इस ऐश्वर्य समारोहके बीच उसने पौरवको बुला भेजा। वह जानता था कि बन्दीका हृदय अभी विजित नहीं हुआ। पर अवश्य ग्रीक शिविरका वैभव और उसकी शक्ति देख वह सहम जायेगा, आतंकसे भर जायेगा।

बन्दी आया—विशालकाय बन्दी, साढ़े चार हाथका ऊँचा नर-पुंगव, धीरे-धीरे ग्रीक सैनिकोंसे घिरा, सेनाओंके मध्य होता। अलिकसुन्दर कुछ गम्भीर हो बैठा, उसके सेनानायक स्थिर हो रहे। परन्तु विजेताने विजितके मुखपर वे चिह्न न देखे जिनकी उसे आशा थी जिनके लिए यह समारोह रचा गया था। बन्दी न सहमा, उसके मुँहपर आतंकके चिह्न न दिखाई दिये।

अलिकसुन्दर विचारने लगा—वह किस प्रकार उससे मिले। बन्दीने किसीकी ओर नहीं देखा। केवल उन्नत मस्तक किये विजेताके नेत्रोंसे अपने नेत्र मिला वह चुपचाप खड़ा हो गया। विजेता उसका विशाल शरीर देख चकित रह गया। उसने अपने सेनानायकोंकी ओर फिरकर देखा—कोई उतना ऊँचा न था।

अलिकसुन्दरने सहसा पूछा, "पोरस, तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाये?"

उसका प्रश्न पूरा होते-न-होते उत्तर मिला—"जैसा राजा राजाके साथ करता है!"

चकित विजेताने अपने सेनानायकोंपर भाव-भरी दृष्टि डाली। अभी राजा 'राजा' था, उसका हृदय नहीं हारा था। ऐसा उत्तर ग्रीक संसारसे

बाहर अलिकसुन्दरने कभी न सुना था—उस सुविस्तृत विजयभूमिमें जो अब 'हेल्लेस्पान्त'से 'हाइफ़ैसिस' तक फैली थी। विजेता वीर था। उसका वीरहृदय प्रसन्न हो उठा।

आसन छोड़ वह उठा, धीरे-धीरे बन्दीके समीप जा खड़ा हुआ। विशालकाय बन्दीके कान तक ही विजेताका व्याघ्रटोप पहुँच सका। उसने देखा बन्दी उससे कितना ऊँचा था!

बन्दीका कन्धा ठोंक उसने कहा, "पोरस, तुम वीर हो। तुम्हारे साथ मैं वही व्यवहार करूँगा जो राजा राजाके साथ करता है।"

फिर उसने सेनानायकोंकी ओर देख पौरव-विजेता कोइनसको लक्ष्य कर कहा, "कोइनस, पोरस राजा है।"

फिर उसकी दृष्टि आम्भीपर पड़ी। आम्भी नतमस्तक हो अपनेको कोस रहा था।

२ अक्तूबर १९४०
रात्रि ७. ३०—११



ग्रीक लौटे

[प्रस्तुत कहानीके ग्रीक सेनानायकोंके नाम ऐतिहासिक हैं और सैनिकोंके कल्पित। ग्रीक लोग पौरवको पोरस, नन्दको जैन्द्रमस और पाटलिपुत्रको पालिबोथ्रा कहते थे। समय : चौथी सदी ई० पू०।]

"आह, हेलेन, तुम्हारे लिए मैंने क्या नहीं किया ?" हृदयकी वेदना अधीर हो कण्ठसे फूट पड़ी।

"देखो, माइकस, उसे अब भूल जाओ। जीवनमें इस प्रकारके परिवर्तन होते हैं। स्वदेशसे इतनी दूर होकर हमें संयम और आन्तरिक शक्तिसे काम लेना होगा।"—अपोलोदोतसने धीरे-धीरे माइकसको समझाया।

"परन्तु इस प्रकार कैसे, कबतक चलेगा, अपोलोदोतस ?" समीप बैठे एक तीसरे सैनिकने अपने केशपट्टसे केशोंको सँभालते हुए पूछा।

अपोलोदोतस स्वयं चिन्तित था, चुप हो रहा।

मेरोने भालेके ऊपर अपना भार डालते हुए कुछ और तिरछे होकर कहा, "बोलो, अपोलोदोतस, वास्तवमें इस प्रकार कैसे, कबतक चलेगा ?"

उत्तर अपेक्षित न था और न अपोलोदोतसने दिया ही। उसने अपना टोप भूमिसे उठाकर पहन लिया।

"आज यदि मैं एथेन्समें होता," माइकसने अपनी बात दोहरायी।

किसीने कुछ न कहा।

"आज यदि मैं एथेन्समें होता"—माइकसने फिर कहा।

माइकसको बढ़ावा अपेक्षित था। पर कोई बोला नहीं। सब अपनी-अपनी चिन्तामें थे। अपोलोदोतसकी माँ दूर मकदूनियामें मर चुकी थी, मेरोका भाई एपिरसमें घायल पड़ा था, मिनान्दरका बेटा थेसकी सड़कोंपर भीख माँगता था। सबको अपनी-अपनी चिन्ताएँ खा जा रही थीं।

"आज यदि तुम एथेन्समें होते तो क्या होता, माइकस?" प्रेतरने पूछा। उसकी अनुपस्थितिमें उसकी प्रेयसीको उसका प्रतिद्वन्द्वी ले भागा था।

"आज यदि मैं एथेन्समें होता"—माइकसने अपनी बात पूरी की, "तो उस अभागे क्लेतोको इस प्रकार तोड़ देता।"

उसने अपने हाथकी लकड़ी तड़से तोड़ दी। अपोलोदोतसने धीरे-धीरे उसके कन्धेपर अपना हाथ रखा।

इसी समय कोइनसके शिविरसे लौटकर कुछ सैनिक उसी सिकता भूमिपर बैठ गये।

अपोलोदोतसने बात बदलनेके लिए एकसे पूछा, "कहो क्या संवाद है?"

"अच्छा नहीं" कहकर गोनेतस चुप हो रहा।

सबकी उत्सुकता बढ़ चली। सबके नेत्र उसपर आ टिके। केवल माइकस अपने हाथकी टूटी लकड़ियाँ उछालता रहा। उसका जैसे इस वार्तालापसे कोई सम्बन्ध न था।

"क्या बात है, गोनेतस?" प्रेतर, मिनान्दर, मेरो, अपोलोदोतस सबने पूछा। माइकसके कान भी खड़े हो गये।

"क्या बात है?" गोनेतसके प्रश्नने सुननेवालोंकी उत्सुकता और बढ़ा दी।

गोनेतसका एक साथी कुछ कहनेके लिए झुका। परन्तु उससे पूर्व

गोनेतस स्वयं बोल उठा—"बुरी, बहुत बुरी। दूरकी यात्रा है—सुदूर प्राचीकी। पालिबोथ्रा जाना होगा, भारतके हृदयमें, गंगा और शोणके संगमपर, जैन्द्रमससे लड़ने। कहो जाओगे ?"

सैनिक एक-दूसरेको देखने लगे, चिन्तित, सशंक, त्रस्त।

माइकसने विद्रोहका सूत्रपात किया। वह बोला, "मैं नहीं जाऊँगा। पागलपन है पालिबोथ्रा जाना।"

प्रेतरने अपने कानोंपर हाथ रख लिये। गोनेतसने घूमकर पीछे ग्रीक स्कन्धावारकी ओर देखा।"

अपोलोदोतसने धीरे-धीरे कहा, "माइकस, संयत हो। धैर्य और शान्तिसे काम लो। सेनापति बिना विचारे कुछ न करेंगे।"

स्वयं अपोलोदोतसको पाटलिपुत्र जाकर नन्दसे लड़नेकी बातपर आश्चर्य हुआ।

गोनेतसने पूछा, "और जानते हो यह जैन्द्रमस कितना प्रबल है ?"

"बड़ा—सुना है।" मेरो बोला।

मेरोकी बात अनसुनी कर गोनेतसने कहा, "बड़ा प्रबल है जैन्द्रमस। देरियसके साम्राज्यसे उसका सामाज्य विपुल है। उसकी सेना संख्यातीत है। उसमें सहस्रों पोरस-सरीखे सैनिक हैं। जैन्द्रमसके कोषमें अनन्त धन है। और उसकी राजसभामें मन्त्र मारनेवाले जादूगर हैं जो मन्त्र पढ़कर बाण मारते हैं।"

सैनिक आश्चर्यसे भर गोनेतसकी बात सुनते रहे।

गोनेतस कहता गया—"वहाँ जैन्द्रमसकी सेनामें अनेक अद्‌भुत सिंह हैं, दो पूँछोंवाले, देवियोंके वाहन। ये सिंह सेनाकी सेना खा जाते हैं और इन्हें देवियोंके प्रभावके कारण न भाले छेद सकते हैं, न बाण।

अपने वक्तव्यका प्रभाव श्रोताओंपर होता देख क्षण-भर दम लेकर गोनेतसने फिर कहा, "कुछ वाहन मूषक और महिष हैं, कुछ मेष और वृषभ, कुछ उलूक और गर्दभ। ये दैवी शक्तिसे मनुष्यपर आक्रमण करते

हैं, उसका नाश कर डालते हैं। जब जैन्द्रमस युद्ध करता है उसके दो सेनापति, जिनमें एकका वाहन वृषभ और दूसरेका गरुड़ है, नाग और अग्नि उगलते रहते हैं। शत्रु ठहर नहीं सकता।"

ग्रीक सैनिक त्राससे भर रहे थे। अपोलोदोतस धीरे-धीरे हँस रहा था। क्षत्रान्तक महापद्मनन्द और धननन्दका आतंक ग्रीक स्कन्धावारपर छा रहा था।

"सुनकर ही आया हूँ यवनराज, और जान पड़ता है यह संवाद निराधार नहीं है।"—सुगठित सुन्दर युवा कुछ मुसकराता हुआ बोला।

उसका अश्व अलिकसुन्दरके वाजिराजको मानो ललकार रहा था। सिल्यूकस, नियरकस और फ़िलिप्पस भी अपने घोड़ोंपर समीप ही सवार थे। युवकका वक्तव्य सुन यवनराज कुछ तीव्र हो गया।

वह बोला, "यह संवाद नितान्त मिथ्या है, युवक।"

"यदि ऐसा है यवनराज, तो हम दोनों मगधराज नन्दपर आक्रमण कर उसके राज्यको नष्ट-भ्रष्ट कर दें। वह स्वयं शूद्र और क्षत्रिय-शत्रु होनेके कारण देशमें घृणास्पद है। विजयके पश्चात् हमारी परस्परकी सीमा व्यास होगी।" युवक बोला।

"सो ठीक। परन्तु राज्यकी सीमा निर्धारित करनेका कार्य सम्राट्का है युवक, तुम्हारा नहीं।"—अधिकारपूर्वक सम्राट् बोला।

युवक कुछ हँसा, फिर बोला, "वह कार्य यथार्थतः शक्तिका है, ग्रीकराज।"

"तुम मेरे साथ शक्ति तोलोगे, युवक!" अलिकसुन्दरके गर्वको ठेस लग रही थी। वह कुछ तन गया।

"शक्ति तोलूँगा ?' अच्छा, उसकी बात फिर होगी, यवनराज, इस समय केवल यह जानकर सन्तुष्ट हो जाऊँगा कि संसारका वह विजेता जिसके चरणोंमें फ़ारसका साम्राज्य लोटता है मेरा सार्धक्य स्वीकार

करेगा ?" युवकने पट्टबन्धसे लटकती असिकी म्यान अपने पाँवसे कुछ उछाल दी।

अलिकसुन्दर कुछ क्रुद्ध हो उठा परन्तु संयत हो उसने पूछा, "तुम कौन हो युवक ?"

युवक तत्क्षण बोल उठा—"मैं हूँ मगधराजका शत्रु, स्वच्छन्द सामरिक। परन्तु इसकी बात फिर होगी।"

"तो सुनो, युवक—'संसारका वह विजेता जिसके चरणोंपर फ़ारस साम्राज्य लोटता है' स्वच्छन्द सामरिकका सार्थक्य स्वीकार न करेगा।" अलिकसुन्दर कुछ हँसा।

रोषपूर्ण युवकने अश्वका मुख फेर लिया। फिर अपने भालेको ज़ोरसे मुट्ठीमें कस सीना तान उसने कहा—

"तो तुम भी सुनो, यवनराज। नन्द दारयवौष् नहीं है और न उसके सामन्त आम्भी हैं। पौरव उसका अन्तपाल होनेकी भी शक्ति नहीं रखता। मगध समुद्र है, ग्रीस उसमें डूब जायेगा"—बात पूरी होते-न-होते युवकने घोड़ेको एँड़ लगा दी।

अलिकसुन्दर तमक उठा। उसने सिल्यूकस और फ़िलिप्पसको चिल्लाकर कहा, "पकड़ो, उद्दण्ड युवकको!"

फ़िलिप्पस तो पहली चोटमें मूर्छित हो गया और सिल्यूकसके ऊपर जो युवकने भाला मारा तो उसका टोप उसके भालेमें आ अटका। विजय-चिह्न भालेमें अटकाये, भालेको ऊपर उठाये, टोप सूर्यकी नयी किरणोंमें चमकाता ग्रीक स्कन्धावारसे क्षण-भरमें दूर जा युवक दृष्टिपथसे ओझल हो गया।

फ़िलिप्पसको जब चेतना हुई उसकी शय्याके पास खड़े हो मलिनमुख यवनराजने फ़िलिप्पस और सिल्यूकसको धीरे-धीरे सावधान किया—"यह युवक जैन्द्रमसका ध्वंस कर भारतका सम्राट् होगा। इससे सावधान रहना।"

दोनों सेनानायक चुपचाप सिर नीचा किये सुनते रहे।

फ़िलिप्पस भारतीय प्रदेशका और सिल्यूकस हिन्दुकुशका शासक नियुक्त हो चुका था। केवल एक दिन पूर्व।

मध्याह्नमें स्वेदसे सना अश्वारोही जब घने वनमें पर्णकुटीके द्वारपर पहुँचा, एक ओजस्वी कृष्णकाय ब्राह्मण पीत यज्ञोपवीत पहने वहाँ खड़ा था। अश्वारोहीने ग्रीक-टोप ब्राह्मणके चरणोंमें रख दिया। अद्‌भुत तेजस्वी उस चतुर गम्भीर पुरुषके पीत नेत्र चमक उठे।

सेनाका आत्मविश्वास घट गया था। अलिकसुन्दरका उत्साहवर्धन किसी काम न आया। सेनाको एकत्र कर उसने उपदेश दिया।

उसने कहा, "ग्रीसके वीरो, दियानिसस् और हिरैकिल्स-जैसे विजेताओंसे तुम्हारी विजय कहीं बढ़कर है। फ़ारसका साम्राज्य तुम्हारे कुछ ही आघातोंसे बैठ गया। सारा एशिया तुम्हारे चरणोंमें लोट रहा है। अब साहस क्यों खोते हो?"

उसने दम लिया। अपने प्रभावको श्रोताओंके मुखमण्डलपर पढ़नेका वह प्रयत्न करने लगा। वहाँ भयका साम्राज्य था।

उसने फिर ललकारा—"अब क्या शेष रहा? भारतकी देहली पार कर चुके। हृदयपर आघात करना ग्रीक सैनिक जानता है।"

सैनिक चुप थे, मृतप्राय।

अलिकसुन्दरने फिर कहा, "पालिबोथ्रा बड़ा ऋद्ध नगर है। पारसपुर, शूषा, एकबताना उसके सामने कुछ नहीं। जैन्द्रमसके कोषमें अपार धन है।"

किसीने दबे स्वरमें कहा, "और उसकी सेनामें अपार सैनिक।"

यवनराजके नेत्रोंने इस शत्रुको खोजा पर वह न मिला। सैनिक पूर्ववत् निर्जीव बैठे रहे।

धीरे-धीरे उनका प्रिय सेनानायक पौरवका विजेता कोइनस उठा।

उसने सम्राट्को सम्बोधन कर कहा, सम्राट्, राजाके लिए मध्यम मार्ग प्रशस्त होता है। हमने संसारकी विजय की। अब हमें लौटना उचित है। हमारी सेनाएँ क्लान्त हो चुकी हैं। उनके अस्त्र-शस्त्र पुराने हो चुके। आत्मीय दूर पड़े हैं। आपकी सेना अविजित है परन्तु दैवका प्रकोप उसपर पड़े, इससे पूर्व ही लौट चलना उचित है। स्वदेश रह-रहकर पुकार रहा है।"

कोइनसके वक्तव्यके समाप्त होते ही सहस्रों सैनिकोंकी करतलध्वनिसे दिशाएँ गूँज उठीं। दैवचिन्तकोंने सम्राट्के मगधाभिमुख प्रस्थानको अशुभ-जनक बताया। सम्राट्की ग्रहदशा विपरीत कही।

अलिकसुन्दर अपने शिविरोंको लौट गया। तीन दिनों तक उसने अन्न-जल न छुआ। परन्तु सैनिकोंकी टेकके सम्मुख उसे अपनी टेक छोड़नी पड़ी। उसने लौटनेकी आज्ञा दे दी।

यवनसेना लौट पड़ी।

रावीके दोनों ओर शक्तिशाली मालवोंका संघराज्य फैला था। व्यासकी ऊपरी धाराके पास आयुधजीवी क्षुद्रक निवास करते थे। दोनों संघ-राज्योंमें घनी शत्रुता थी। परन्तु विदेशी शत्रुके समक्ष उन्होंने अपना वैर भुला दिया। मिलकर उन्होंने ग्रीकोंका नाश कर देनेकी सोची। अपनी शत्रुताको भूल जानेके लिए दस सहस्र मालव युवतियोंने क्षुद्रकोंको वरा और इतनी ही संख्यामें क्षुद्रक रमणियोंने मालवोंका वरण किया।

परन्तु निश्चित तिथिपर दोनों संघराज्योंको मिल जानेका अलिक-सुन्दरने अवकाश न दिया। खेतोंमें पौधे निराते मालव किसानोंपर वह टूट पड़ा और उनके अप्रस्तुत नगरोंको उसने नष्ट कर डाला। ब्रह्मपुरके

मनस्वी ब्राह्मणोंने जब उसका सामना किया उसने उनमें-से एक-एकको मार डाला।

आगे एक छोटा-सा पुर था। उसके थोड़े-से वीर नागरिकोंने दुर्गद्वार बन्द कर दिया। अलिकसुन्दरके ग्रीक उसपर जा चढ़े। परन्तु इस छोटे-से दुर्गको लेना आसान न था। एक-एक मालव स्वतन्त्रताका उपासक था, जानपर खेलने लगा।

उनके शौर्यका सिक्का तीन बार ग्रीक सेनाकी पीठपर बैठा। तीन बार विदेशियोंने इस दुर्गपर आक्रमण किया, तीन बार उन्हें मुँहकी खानी पड़ी। अलिकसुन्दर क्रोध और ग्लानिसे भर गया। निसैनीसे दुर्गप्राचीरपर चढ़ने कितने ही ग्रीक सैनिकोंको रोषपूर्वक उसने नीचे फेंक दिया और उनके हाथसे निसैनी छीन वह स्वयं प्राचीरपर चढ़ गया।

एक-एक बाणका लक्ष्य था वह ग्रीक वीर, उस खुले प्राचीरके ऊपर। और एक उसे आ लगा छह हत्था बाण। ताम्र-वर्म छिद गया। क्रुद्ध भारतीय बाणने ग्रीक विजेताका रुधिर पी लिया।

अलिकसुन्दर बाणको हाथसे पकड़े नीचे भीतरकी ओर कूद पड़ा। बड़ी कठिन समस्या थी। सेना बाहर थी। दुर्गद्वार बन्द था।

प्युकेस्तास दर्पके साथ निसैनीकी सहायतासे उछलकर प्राचीरपर जा चढ़ा। लियोनातस और एब्रिअसने उसका अनुसरण किया। पलक मारते तीनों प्राचीरसे नीचे भीतरकी ओर कूद पड़े।

अलिकसुन्दर थोड़ी दूरपर एक वृक्षके नीचे गिरा था। अभी-अभी शत्रुओंने उसे देखा था और वे उसकी ओर दौड़ पड़े थे। प्युकेस्तास अलिकसुन्दरके ऊपर लेट गया, उसने ईलियनकी लायी पवित्र ढालसे उसकी रक्षा की। इसी समय लियोनातस सम्राट्के पार्श्वमें लेट गया। सम्राट्की तो सत्वर मृत्युसे रक्षा हुई परन्तु लियोनातस शत्रुकी चोटोंसे चल बसा।

इसी समय ग्रीक सेनाने दुर्गका सिंहद्वार तोड़ दिया। वह उस ओर उमड़ चली जिस ओर क्रुद्ध नागरिक अलिकसुन्दरका अन्त किया चाहते

थे और दुर्गपाल अपना वक्ष खोले अपनी सेनासे कह रहा था, ''आहत शत्रुको न मारो। जो उसे मारेगा पहले मुझे मारेगा।'

शत्रु मुग्ध थे उसकी इस वीरतापर। पर औदार्यका पुरस्कार सदा कृतज्ञता नहीं होता। प्युकेस्तासने पीछेसे बलपूर्वक तानकर जो भाला मारा वह दुर्गपालके पृष्ठ देशको विदीर्ण करता सम्मुख वक्षमें निकल आया।

इसी समय ग्रीकवाहिनी दुर्गसेनापर टूट पड़ी। उसने एक-एकको तलवारके घाट उतार दिया। बालक, स्त्री, वृद्ध कोई न बचा।

कुछ दिनोंमें अलिकसुन्दरका व्रण भर गया परन्तु शीघ्र बावेरुमें वही उसका घातक बना।

५ अक्तूबर १९४०
प्रातः ७–१०

वैराग्य

[कहानी कल्पित है। ताया अन्तिओक नगरकी एक विख्यात वेश्या थी। ग्रीक कथाओंके अनुसार उसका अलेग्जैण्डरपर बड़ा प्रभाव था। कहते हैं कि उसीकी इच्छानुसार ईरानके जगत्प्रसिद्ध नगर पर्सिपोलिसको ग्रीक-विजेताने जला डाला। 'ताया' नामका सर्वांगसुन्दर उपन्यास, जिसपर अनातोल फ्रान्सने नोबेल-पुरस्कार पाया था, इसी 'ताया'से सम्बन्ध रखता है। ताया उसकी नायिका है परन्तु उपन्यासकार अपनी इस कृतिमें शायद काल-दोषका दोषी हो गया है क्योंकि इसमें वर्णित कथा इतिहासकी तायाके पाँच सौ वर्ष पश्चात् रोमक सम्राटोंके राज्यकालमें खुलती है। तायाका विवाह शायद अलेग्जैण्डरकी मृत्युके बाद तोलेमीके पितासे हो गया था। आर्त्तकामा ईरानी राजकुमारी थी जिसका विवाह अलेग्जैण्डरके सेनापति तोलेमीसे हुआ। तोलेमीने मिस्रके विख्यात तोलेमी राजवंशकी नींव डाली। निषध पर्वत हिन्दूकुशका प्राचीन नाम है जिसे ग्रीक परोपनिसस, पर-उप-निषद, कहते थे। चन्द्रगुप्त शायद जैन होकर दक्षिण श्रवण-बेलगोलाकी ओर चला गया था। समय : तृतीय सदी ई० पू०।]

"फिर, प्रिये, फिर ?"

"फिर विजयीने नीतिको भुला दिया, आर्यपुत्र। तायाका मादक विभ्रम अब सैनिकके औदार्यपर शासन कर रहा था। अलिकसुन्दरका उन्नत शरीर उस अन्तिओककी वारवनिताकी काम-यष्टिसे कहीं छोटा हो चला था। पुरुषका चित्त कितना वश्य है, देव ?"

"सही, देवि, सत्य ही—जहाँ उसका इष्ट पिण्ड है। अच्छा फिर ?"

"फिर तायाके विलासने मानवताकी कोखमें अग्निभाण्ड उलट दिया। बर्बरताका नग्न नृत्य होने लगा। विश्वका वह विख्यात नगर पारसपुर धाँय-धाँय जल उठा। विलासके विशाल भवन, क्षयार्षकी संचित समृद्धि—सब उस ताण्डवमें भस्म हो चले। ज्वाल-जिह्वा अनन्त नागोंकी भाँति ललक-ललक राजाप्रासादके कनक-पीत कलश-कँगूरोंको चाटने लगी।"

"और विजयी ?"—सम्राट्ने कुतूहलपूर्वक पूछा।

"और विजयी ?' विजयी अब विजयिनीका बन्दी था। दूर, नगरके मुख्य द्वारके ऊपर, प्राचीरोंकी विस्तृत पीठपर भल्लका सहारा लिये वाम कर तायाके स्कन्धपर डाले वह मन्त्रमुग्ध-सा खड़ा था, कदाचित् अग्नि-ज्वालाओंके पार सुदूर पूर्वमें गन्धार सीमाकी ओर लौ लगाये, अथवा कौन जाने—कदाचित् उस विलासिनी-द्वारा प्रस्तुत नव विलासकी वासना जगाये।"

"तो विजयी देखता था, प्रिये ?"

"विजयी देखता था, प्रिय, निर्मम निर्निमेष नेत्रोंसे—वह दहन-कार्य, वह घोर अग्निकाण्ड, वह भयानक नरयज्ञ। और सुनता था वह आर्त्त जन-कोलाहल, उस अवश्य-मरणका चीत्कार, उस संहर्त्री मृत्युका उल्लसित हुंकार।"

सम्राट्ने ललाटका स्वेद पोंछ लिया।

"वह देखता रहा, सुनता रहा"—सेलिउककी कन्या फिर कहने लगी—"परन्तु उसके नेत्रोंमें ताया बसी थी, कानोंमें तायाका सरस नाद भरा था। उसका दृष्टिपथ शून्य था, श्रवणमार्ग भरा।"

"और ताया ?"

"और ताया ?' तायाकी वह विश्वविमोहक मुसकान विकृत हो गयी थी। उसका विद्रूप हास्य घृणित हो उठा था। उसने पूछा—'विजयी, उन लपटोंके उस पार देखते हो ?' 'देखता हूँ, ताया, उन लपटोंके उस पार

देखता हूँ अनन्तविलास-जनयित्री मधुरमानिनी ताया'—विजयी बोला ।

" 'रहने दो, विजयी, इस समय व्यसनका वह स्वप्न', ताया बोली, 'संहारका अन्त विलाप नहीं विभूति है, ऐश्वर्य। बोलो, अलिकसुन्दर, यशस्वी फ़िलिपके एकमात्र वंशधर, तपस्वी अरस्तूके सँवारे ग्रीक, हरिकुल-के स्वप्न, बोलो—उन मेघचुम्बी ज्वालाओंके पीछे क्या देखते हो ?' तायाने उठती धूमराशिके मध्य लपकती लाल लपटोंकी ओर हाथ उठा दिया ।"

"उन मेघचुम्बी ज्वालाओंके पीछे, ताया, मैं देखता हूँ एक नये जगत्के प्राचीरोंका प्रसार और सुनता हूँ उसपर ग्रीक सैनिकोंके आक्रमणके आघात, फिर देखता हूँ विश्वका अन्तिम छोर, एक विपुल सागरका सिकतातट और सुनता हूँ अम्बुधिसे भी गम्भीर तायाका अविराम स्वर।' तायाके उठे हाथकी ओर विजयीका हाथ स्वतः उठ गया।"

"मैंने धीरेसे पितासे पूछा—'पिता, क्या तुम भी वही देखते हो जो ताया और विजयी देखते हैं ? क्या सामने ग्रीकोंकी वर्वरतापर पारसिकों-की मानवता नहीं हँस रही है ?' "

"मेरे पिताने धीरे-धीरे कम्पित स्वरमें कहा—'हेलेन, मैं वह नहीं देखता। मैं देखता हूँ उन लपटोंके पार विजयीके उस नये जगत्के प्राचीरों-के भीतर अपने वंशकी परम्पराका स्वप्न।' "

हेलेनने सम्राट्के वक्षमें अपना मुख छिपा लिया। उसकी पिंगल कुंचित केशराशिने बिखरकर चन्द्रगुप्तका मुखमण्डल ढँक लिया। विजित-विलज्जित चन्द्रमरीचियाँ क्षुब्ध हो क्षितिजकी ओटमें फिसल पड़ीं।

जब चाणक्यने कमरेमें प्रवेश किया साम्राज्ञी उसकी प्रतीक्षामें बैठी थी। सम्राज्ञीने एक पग बढ़कर अभिवादन किया। आचार्यने उसके झुके मस्तकपर कर फेरते हुए आशीर्वाद दिया—"सौभाग्यवती हो, देवि। तुम्हारे चक्रवर्ती तनयका शासन सार्वभौम हो।'

बाहर पक्षियोंका कलरव प्रारम्भ हो गया। प्राची गगनके धुँधले गवाक्षसे उषा छिप-छिप झाँक रही थी। बाहर आचार्यका अन्तेवासी चन्द्रगुप्तका गुरु-भाई लोकक्षेम खड़ा कुछ सोच रहा था। भीतर सम्राज्ञी अभी अपने स्वर्णासनके समीप खड़ी ही थी कि बाहर सिंहद्वारपर प्रभातके घण्टे बज उठे। वैतालिकने प्रातःकालका ललित विरुद गाया।

चाणक्यने व्याघ्रचर्मवाले अपने नित्यके आसनपर बैठते हुए सम्राज्ञीको बैठनेका संकेत किया।

फिर उसने पूछा, "बेटी, क्या समाचार है? क्या चन्द्रगुप्त अब भी दुरूह है?"

"अभी उनकी थाह नहीं मिलती, आचार्य। रह-रहकर उन्हें जैसे कोई मार्मिक वेदना होती है, वे कराह उठते हैं। फिर मुझे बोलनेसे रोक देते हैं। कर्कश जगत्को धिक्कारते अन्तर्मुख हो जाते हैं, सो जाते हैं।"—सम्राज्ञी बोली।

"देखो, बेटी, चन्द्रगुप्त वीर होकर भी सदाका अबोध है। किसीके हाथोंमें रहकर ही वह उछलता है, कूदता है। पहले वह मेरे हाथोंमें था, अब तुम्हारे हाथोंमें है। मैंने उसे उत्तरापथ दिया, तुम दक्षिणापथ दो।"

"आचार्य, मैं भरसक प्रयास करती हूँ परन्तु न जाने क्यों अब उनकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर निर्ग्रन्थोंकी ओर झुकती जा रही है। मानवी पार्थिव शक्तिको वे क्षणिक, मिथ्या और हिंसाजनित कहते हैं...."

"मूर्ख!" चाणक्य सम्राज्ञीकी बात काटता हुआ बोला—"निर्बोध! अभी भ्रान्ति बनी हुई है।"

"देखा, बेटी, अभी भारतीय ग्रीकोंसे कई बातोंमें पीछे हैं।" आचार्यने फिर कहा—"भिखमंगोंने उन्हें पंगु बना रखा है।"

"ऐसा क्यों कहते हैं, आचार्य? सम्राट्का लोहा तो सारा एशिया मानता है। ग्रीकोंके खड्गकी धार तो वितस्ताके तटपर ही मुड़ गयी थी। और क्या आपको वह क्षण स्मरण नहीं जब भारतीय चोटसे ग्रीकोंका

लाड़ला फ़िलिप्पस धूल चाटने लगा था और जब सेल्यूकस-सा योद्धा अपना शिरस्त्राण खो श्रीविहीन हो गया था ?"—मनस्विनीका गर्व अब पतिके मानकी रक्षा कर रहा था ।

'सही, देवि, सही । पर मुझे उतनेसे अभितृप्ति न होगी । मैं चाहूँगा कि भारतीय निषधकी ऊँची दीवारको लाँघ ईरान और पश्चिमी संसारको रौंदता एथेन्सकी व्यायामशालाओंमें यवन वीरोंको ललकारे ।"

"वह शक्ति आचार्य ही प्रदान कर सकते हैं ।"—सम्राज्ञी बोली ।

"न, बेटी । अब आचार्यके शब्दोंमें वह जादू न रहा, न उसकी प्रतिज्ञाओंमें वह दृढ़ता ही रही । वह आशा अब मृगतृष्णा-सी जान पड़ती है । और चाणक्य मृगतृष्णाओंके पीछे नहीं दौड़ता ।"

"फिर आचार्य ?"

"फिर, आचार्यका कार्य नहीं, बेटी, तुम्हारा है । आचार्यने तुम्हें निषध-सुमेरु पर्यन्त उत्तरके प्रदेश दिये । अब तुम इसे दक्षिण सागर पर्यन्त प्रदेश दो ।"

"मैं दूँ, आचार्य, आपको ?"

"हाँ, हाँ, देवि, तुम दो, मुझे ।"

"वह क्योंकर, आचार्य ?"

"बालक चन्द्रगुप्तके बच्चे कानोंको ग्रीकोंकी वीरता और उनकी विजय-कथाओंसे भर-भरकर । उसमें नृशंस भावोंको जगा-जगाकर ।"

"आचार्य, आपके बताये पथपर नेत्र मूँदे चली जा रही हूँ । आजकी रात मैंने सम्राट्से पारसपुर-दहनकी आँखों-देखी कथा कही ।"

"ठीक । अब अगली रात ईरानकी उस अद्वितीय सुन्दरी राजकुमारी आर्त्तकामा और तोलेमीके विवाह तथा मिस्रके राज्यप्रसारकी कथा कहना ।"

"जैसा आदेश, आचार्य । परन्तु क्या आचार्यका विश्वास है कि इन कथाओंसे सम्राट्का हृदय कठोर हो जायेगा ?"

"विश्वास ? पूरा। धीरे-धीरे ये कथाएँ उसके कानोंमें प्रवेश करेंगी। फिर नित्य उनके श्रवणसे जब नृशंसता और मानव-हत्या उसे प्राकृतिक जँचने लगेगी तब अभ्याससे हिंस्र भावोंका उदय होगा और उनमें दक्षिण-का सारा भारत डूब जायेगा। जाओ, बेटी, शक्ति-भर यत्न करो।"

सम्राज्ञीके भवनसे निकलते हुए आचार्यने धीरे-धीरे कहा, "चन्द्रगुप्त अब किसीके वशका नहीं रहा। चाणक्य अब तुम्हारी वह सारे भारतकी एकछत्र-कामना फलवती न होगी।"

जगत्के उस विस्मयकारक मौर्य राज्यप्रासादमें चन्द्रगुप्तकी सभा लगी थी। स्वर्णके बृहदाकार रत्नजटित सिंहासनपर सम्राट् और सम्राज्ञी बैठे थे। सिंहासनके पीछे अनेक यवनियाँ चँवर झल रही थीं। स्वर्णखचित श्रीवितानके नीचे सभाके स्तम्भोंपर हीरकों और मुक्ताओंके पक्षी वैदूर्य और पन्नाकी बेलोंमें रह-रहकर जैसे हिल रहे थे। विशाल रत्नभाण्ड सामने तीर्थोंके जलसे भरे थे। संसारके विख्यात रत्न सम्राट् और सम्राज्ञी-के मुकुटोंमें चमक रहे थे। बायीं ओर कुछ दूरपर बैठा सेलिउकका ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज विश्वविभूति उस चन्द्रगुप्तके ऐश्वर्यको एकटक निहार रहा था। जब कभी सम्राज्ञीपर उसके नेत्र पड़ते गर्वसे उसका मस्तक उन्नत हो जाता।

धीरे-धीरे विदेशके राज्यों और विजितोंसे आये उपायनोंको स्वीकार करते हुए सम्राट्ने प्रत्येकको उपयुक्त भेंटें प्रदान कीं। फिर वह उठकर अन्तःपुरको चला।

जैन साधुके उपदेश समाप्त होते ही चाणक्यने प्रवेश किया। उसके श्याम शरीरपर पीत पट दमक रहा था। परन्तु उसका ललाट चिन्ता और क्रोधकी रेखाओंसे भर गया था। उसके होठ फड़क रहे थे।

उसके प्रवेश करते ही सम्राट् उठ खड़ा हुआ। चरणस्पर्शके अर्थ वह आचार्यकी ओर बढ़ा। परन्तु चाणक्यने उसे रोक दिया—

"ना चन्द्रगुप्त, चाणक्यके चरणस्पर्शका अधिकार तुम्हें नहीं। चाणक्य क्लीबके स्पर्शसे अपावन हो जायेगा। और यह क्षपणक……"

सम्राट् तमक उठा। उसने चाणक्यकी बात पूरी न होने दी। वह बोला, "गुरुदेव, जैन आचार्य मानव-विभूति हैं।

चाणक्यने और भी परुष हो कहा, "चन्द्रगुप्त, भारतकी विभूतियाँ मिट चुकीं। अब उसका वक्ष क्षपणकोंकी लीलाभूमि है।"

फिर जैन आचार्यकी ओर हाथ उठाकर उसने कहा, "भारतके सम्राट्को कापुरुष बनानेवाला आचार्य उपाधिधारी क्षपणक आज साम्राज्य-का बन्दी है।

एकाएक उसके इस निर्देशपर स्तम्भोंके पीछेसे निकल कुछ सैनिक जैन आचार्यकी ओर बढ़े।

अपने इस अपमानपर चन्द्रगुप्त बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसके नेत्रोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं।

एक पग आगे बढ़ वह बोला, "आचार्य, सम्राट्के नाते मैं आपको राजप्रासादसे बाहर निकल जानेकी आज्ञा देता हूँ।"

क्रोधकी ज्वालाको भीतर ही दबाते हुए चाणक्यने अट्टहास किया।

फिर वह बोला, "चन्द्रगुप्त, यह विस्तृत साम्राज्य राजन्यकी भुजाओं-से नहीं विप्रकी मेधासे प्रादुर्भूत हुआ है—यह विशाल साम्राज्य—निषध-सुमेरुके शिखरसे नर्मदाकी तलहटी तक।"

श्याम मुखमण्डलपर श्वेत केशोंकी एकाध अलकें हिल रही थीं। लम्बा श्वेत श्मश्रु करस्पर्शसे कुछ हिल रहा था।

अपनी अवमाननाके विषके घूँट पीता हुआ चन्द्रगुप्त नतमस्तक हो वेगसे कमरेसे बाहर निकल गया। किसीने उसे न रोका।

सम्राज्ञीने जब उसे रात्रिके समय न पाया वह उद्विग्न हो उठी। परन्तु उसके अनन्त प्रयत्नसे भी चन्द्रगुप्तका पता न चला।

दो मास पश्चात् चाणक्यके चरोंने उसे बताया चन्द्रगुप्तकी आकृतिका एक जैन भिक्षु नर्मदाके पार उतर दक्षिणकी ओर चला गया।

चाणक्यकी परुष चेष्टा और भी विकृत हो गयी। सम्मुख फलकपर रखे साम्राज्यके मानपत्रके उसने टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसी क्षण वह कुटीसे वाहर निकल गया और कुछ ही दिनोंमें वह राजगिरके महाकान्तार-में जा घुसा।

८ मई १९४१
मध्याह्न ११—१



अप्रियदर्शी

[असन्धिमित्राकी मृत्युके बाद प्रियदर्शी अशोकने वृद्धावस्थामें तिष्य-रक्षिता नामकी एक असाधारण सुन्दरीसे विवाह किया। खंजन-से नेत्रवाले सपत्नी-पुत्र कुणालके प्रति तिष्यरक्षिताके हृदयमें प्रेमवासना जगी। परन्तु साधु-प्रकृति कुणाल पुण्यात्मा बना रहा। जब तिष्य-रक्षिताकी दुरभिसन्धि न फली तब उसने अशोकसे कुणालकी मन्त्रि-परिषद्को आज्ञा भिजवायी कि वह कुणालके दोनों नेत्र निकालकर भेज दे। कुणाल उस समय तक्षशिलाका मौर्यशासक था। समय : तीसरी सदी ई० पू०।]

समरविमुख प्रियदर्शीने धर्मविजयकी ठानी। धर्ममहामात्र साम्राज्यमें धर्म-प्रसार करने लगे। चुनारकी पर्वतश्रेणीसे प्रसूत स्तम्भोंपर धर्म-आचार खुद गये। इन चमकते प्रस्तर स्थाणुओंने विजितके कोने-कोनेमें धर्मका घोष पहुँचाया। शिलाखण्डोंने जनसमूहोंको अहिंसा और शीलके उपदेश किये। उपदेशक विजितसे बाहर अन्तोंमें जा पहुँचे, उनसे भी दूर अफ्रीका, यूरॅप, एशियामें उमड़ पड़े। खुत्तन, स्वर्णभूमि, सिंहल बुद्धकी प्रेम-भावनासे प्रेरित हो उठे। राजपथोंपर फलोंसे लदे छाया-वृक्ष खड़े हुए, कूप खुद गये। देश-विदेशमें नर और पशुके चिकित्सालय औषधि वितरण करने लगे। अशोकके प्रासादमें भी एक पौधा लगा।

यौवनने उसे विशेष हरा कर दिया। वसन्त उसे नित्य नये साधनोंसे

पनपाने लगा। अशोक लोकाराधनमें व्यस्त रहता। उसे वैराग्यसे स्नेह हुआ। संघ-परिवार राजसभामें उमड़ पड़ा। तिष्यरक्षिताकी ओर उसे देखनेका अवकाश न था।

कुणालके नेत्र वास्तवमें खंजन-से थे, चंचल, अस्थिर। किसी अद्भुत अस्त्रकी भाँति वे सद्यःपरिणीता तिष्यरक्षिताके हृदयमें सहसा प्रवेश कर चारों ओर तीव्रतासे चुभने लगते। सद्यःपरिणीता विकल हो उठी। उसने एक दिन अपना प्रस्ताव कुणालसे कह डाला। धर्मभीरु कुणाल घबरा उठा। वह उस घृणित प्रस्तावसे, घृणित प्रासादसे, घृणित नगरसे भागा——उदीचिकी ओर, तक्षशिलाकी शरणमें, जहाँका वह शासक मनोनीत हो चुका था।

तिष्यरक्षिताका मोहन वृद्ध सम्राट्पर चला गया। अपने ही तनयके जीवनपर दुर्बल प्रणयीने प्रबल आघात किया——मर्मान्तक। जब उसने पत्रपर अपनी मुद्रा अंकित की, तिष्यरक्षिता हँसी——व्यंग्य और शक्तिसे। फिर रोयी। शत्रुके हृदयमें कुणालके लिए विशिष्ट स्थान था। पिता रूपका दास था, सौन्दर्यका बन्दी।

राज्यपरिषद्ने तक्षशिलामें कुमारके सम्मुख वह मुद्रांकित शासन रख दिया। वह उसका अन्तिम शासन-पठन था। कुणालके नेत्र एक बार चमककर ज्योतिहीन हो गये।

तिष्यरक्षिताने उन नेत्रोंको चूमा फिर उसने उन्हें अपने ज्योतिहीन कोटरोंमें रख लिया।

प्रियदर्शीकी एक ओर नेत्रहीन युवा खड़ा था, दूसरी ओर नेत्रहीना युवती। दोनों सौन्दर्यकी मूर्ति थे। ईषत् हास्यसे उनके होंठ कुछ विलग

हो रहे थे। अशोकके मुँदे नेत्र रह-रहकर हिल उठते और जब वे हिलते उनसे वारिधारा बह चलती।

अशोकने धीरे-धीरे कहा—"प्रियदर्शी, तू अप्रियदर्शी है!"

८ मई १९४१
अपराह्न ३—४



गर्जन

•

गर्जन

क्रान्ति

अश्वमेध

तक्षकका साम्राज्य

राज्य-लिप्सा

गरुड़ध्वज

संकर

प्रतिशोध

अतृप्ति

अभितृप्ति और अभिशाप

• •

गर्जन

[प्रस्तुत कहानीका कथाभाग कल्पित है। भारतका विदेशोंसे बड़ा सामुद्रिक व्यापार था। विदेशी पोतोंपर जलदस्युओंके आक्रमण भी होते थे। व्यापारका विवरण प्लिनी और पेरिप्लसके रचयिता दोनों-ने दिया है। सिमुक सातवाहन आन्ध्र वंशका प्रतिष्ठाता था। ज्यो-तिषकी पुस्तक गार्गीसंहिताके युगपुराणमें 'दुष्टविक्रान्त यवनों' और शकों-द्वारा पाटलिपुत्र ('कुसुमध्वज') का ध्वंस होना लिखा है। कुसुमपुर ऐसा पुरुषोंसे रहित हो गया कि छह-छह स्त्रियोंने एक-एक पुरुषको वरा। ग्रीक राजाओंमें सबके नाम ऐतिहासिक हैं परन्तु अभी यह बताना सम्भव नहीं कि किस यवन-विशेषने पाटलि-पुत्रका ध्वंस किया था। लेखकको ऐसा जान पड़ता है कि पाटलि-पुत्रका यह यवन-आक्रमण सम्भवतः दिमित (दिमित्रियस, २००-२१६ ई० पू०) का था, मिलिन्द (मिनान्दर, १६०-१४० ई० पू०) का नहीं, क्योंकि प्रस्तुत कहानीका आक्रमण पुष्यमित्रके राज्यारोहणके पूर्व हुआ था जो सम्भवतः सोमशर्मा मौर्यके राज्यकालमें हुआ होगा। यह दशा शक अम्लाटके आक्रमणके बाद भी हो सकती है। गार्गीसंहिताके अनुसार यह आक्रमण शालिशूक मौर्य (वायु-पुराणका इन्द्रपालित) के बाद ही हुआ था, इस कारण यह सम्भवतः सोमशर्मा मौर्य (वायुपुराणका दशवर्मा, देववर्मा) के राज्यकालमें हुआ। पुष्यमित्रके समयका आक्रमणकारी यवनराज हारकर लौटा था। शूलपाणि कल्पित है। कावेरिपत्तनको करि-कालने बादमें बसाया, परन्तु इसका आरम्भ पहले ही हो चुका होगा। यह अब बालूसे भठ चुका है। कलिंगपत्तन अब भी सागर-तटपर बी० एन० आर० के चिकाकोल रोडके समीप सुरक्षित है। समय लगभग २०० ई० पू०।]

"गर्जन, निरन्तर गर्जन।"

"तुमुल नाद, सिन्धुका गम्भीर गर्जन।"

जहाँ आज पुरीकी बस्ती है उससे कुछ उत्तर हटकर सिन्धुकी मोड़पर एक विशाल तटवर्ती वन था। उस वनके जललग्न दक्षिण भागमें विक्रान्त जलदस्यु शूलपाणि निवास करता था। आन्ध्र सिमुक सातवाहन इसी समय मौर्योंकी दुर्बलतासे शक्तिसंचय कर रहा था। परन्तु उसके मार्गमें चैत्रोंका कलिंग कठिन अवरोध था। अब सिमुकने नयी युक्ति निकाली। उसने सामुद्रिक दस्युता संगठित की। उसके दस्युओंके आक्रमण दक्षिण सागरके पूर्वी छोरपर सर्वत्र होते। उसके सेनानी दस्यु बावेरु मिस्र आदिके ऋद्ध पोतोंपर छापा मार उनकी सम्पत्ति हस्तगत कर लेते। इस अर्जनमें आधा भाग सिमुकका होता, आधा विजेता दस्यु-विशेषका।

इस प्रकारकी जलदस्युतासे सिमुकने एक दूरके लाभकी भी आशा की थी। उसने विचारा यदि इसी प्रकारके प्रबल आक्रमण विदेशी पोतोंपर निरन्तर होते रहे तो पश्चिमी यवन-राष्ट्र निश्चय कुपित हो उठेंगे और उनके कोपके भाजन होंगे प्राचीके मगध और कलिंग। यवन-पोतोंपर जलदस्युओंके आक्रमण भी विशेषकर कलिंगतट और गंगासागरके समीप होते। सिमुक सोचता कि इस प्रकार जब यवनोंके क्रोधानलमें मगध और कलिंग जल मरेंगे, वह स्वयं उठकर विदेशियोंको निकाल बाहर करेगा और यदि प्राचीके राष्ट्र जीवित भी रहे तो वह शीघ्र अपनी नवीन उठती शक्ति-द्वारा उनका ध्वंस कर डालेगा।

यवन-पोतोंपर आक्रमणसे उपलब्ध सम्पत्ति श्रीकाकुलंके ऋद्ध प्रासादोंमें भरने लगी। सुन्दर सुदर्शन गौरवर्ण यवनदास कृष्ण सिमुककी परिचर्या करने लगे और यवनी-दासियाँ चमर झलती जब-तब उसकी बाहुओंकी शक्ति परखने लगीं। करिकालके भावी कावेरिपत्तनकी नींव कावेरी और सागरके संगमपर, वनके निभृत कोणमें धीरे-धीरे पड़ने लगी। इस कावेरिपत्तनके दक्षिणसे लेकर गंगासागर-संगम तक सारा समुद्र सिमुककी

शक्तिको मस्तक नवाता और चैत्रोंका तटवर्ती नगर स्वयं कलिंगपत्तन आक्रमणोंसे सुरक्षित न था।

कलिंगपत्तनसे दूर उत्तरमें पुरीके निकटस्थ तटवर्ती वनमें पूर्व महोदधिसे सटा शूलपाणिका आश्रय था। शूलपाणि कलिंगपत्तनसे गंगासागर तकके विशाल समुद्रका स्वामी था। उसके नामसे यवन वणिक् काँपते, उसकी भयंकरताका यवनियाँ स्वप्न देखतीं। जब कभी उसके आक्रमणकी आशंका होती, यवनपोत कलिंगपत्तनमें लंगर डाल मासों पड़े रहते, परन्तु कभी-कभी अमावस्याकी रात्रिमें वहाँ भी उनकी रक्षा कठिनतासे हो सकती और उन्हें धीरे-धीरे यह सन्देह भी हो चला कि सम्भवतः कलिंगराज भी इस दस्युतामें भाग पाते हैं। शूलपाणि जब इस प्रकारकी बातें सुनता, मुसकरा पड़ता और अपने आक्रमणोंका वेग द्विगुणित कर देता।

शूलपाणिकी एक प्रेयसी थी यवनी क्रीता, जिसका नाम उसने बदलकर उसके रूपके अनुरूप 'फेनका' रख दिया था। फेनका बावेरुके एक पोतस्वामीकी कन्या थी जिसे उसने उसके पितासे छीन लिया था। फेनका युवती थी, सुन्दरी, अल्हड़। उसने समुद्रोंको पार किया था पिताके पोतोंमें और विक्रान्त जलदस्युता देखी थी दक्षिण महासागरके वक्षपर। परन्तु अन्तिम संघर्षमें वह शूलपाणिके शौर्यपर रीझ गयी थी। दुर्द्धर्ष सामरिक यवनोंकी विशाल नौकापर जब शूलपाणिकी हिंस्रिका चढ़ दौड़ी थी और जब स्वयं वह कृष्णकाय दुर्दम्य दस्यु एक करसे क्रीताको छीन दूसरेसे असि-संचालन करने लगा था, क्रीता स्वयं उसकी शक्तिपर आसक्त हो यवनोंके पराभवकी कामना करने लगी थी। जब उसके पिताका पोत आहतोंको लिये धीरे-धीरे सागरके उदरमें बैठ चला, उसने दुःखभरी साँस ली, फिर अपना मुख उसने दस्युराजके वक्षमें छिपा लिया। शूलपाणिके घने मोरपंखोंने क्रीताके पिंगल केशोंमें अपनी नील-स्वर्णिम आभा डाली।

फेनका शूलपाणिकी सखी थी, प्रेयसी ही नहीं। उसमें भी शूलपाणि-

की भाँति ही एक दुर्दमनीय शक्ति थी। समुद्रकी लहरियोंसे उसका सख्य था। साहसकी वह मूर्ति थी। जबसे उसका पिता बावेरुके नगरोंको छोड़ सामुद्रिक पोतोंका स्वामी वणिक् बना तभीसे फेनकाने भी सागरकी लहरों-से बन्धुत्व किया। अब जबसे वह शूलपाणि-से शक्तिशाली जलदस्युकी रूपगर्भा प्रणयिनी बनी थी, स्वयं उसके पोतसमूहका संचालन करती, उसके आक्रमणोंमें योग देती।

धीरे-धीरे युग बीत गया। शूलपाणि वृद्ध हो चला, फेनका प्रौढ़ा हो चली। अब फेनकाको धीरे-धीरे सागरसे अरुचि हो चली। उसने शूल-पाणिके साथ आक्रमणोंमें जाना छोड़ दिया। वह चुपचाप सागरके तटपर बैठी उसकी लहरियाँ गिना करती, सिन्धुका शाश्वत गर्जन, अमित कोला-हल सुना करती। सागरके निर्घोषसे उसके कान बहरे हो चले। लहरियों-को गिनती वह सदा तटपर बैठी रहती, नारिकेलों, पुन्नागोंकी छायामें।

धीरे-धीरे स्वदेशकी स्मृति उठी। बावेरुका रेतीला मैदान नेत्रोंके सम्मुख रह-रहकर नृत्य कर उठता और आँसुओंकी झड़ी लग जाती। अब उसके सुपुष्ट पुत्रोंका स्पर्श भी उसे सुखी न करता, न शूलपाणिका विलास ही उसमें स्फूर्ति भरता। वह एकान्तका सेवन करती और समुद्रके गर्जनसे दूर वनकी एकाकी निर्जनतामें भागकर शरण लेती, परन्तु वहाँ जब सागरका कोलाहल कर्णगोचर न होता, नारिकेलों, पुन्नागोंकी अनन्त पंक्तियोंसे होकर वायुका तीव्र स्वर उसे विक्षिप्त कर देता। वह वहाँसे भी भागकर फिर समुद्रतटका आश्रय लेती, कानोंको मूँदती, खोलती, फिर स्तब्ध, नीरव हो बैठती। बावेरुके विशाल भवन उसकी स्मृतिमें उठते, निलय होने लगते, नीलसागर फिर उसके भूरे नयनोंमें तरंगित होने लगता।

वह धीरे-धीरे तटपर आ बैठी। नारिकेलासवसे उसका अन्तर शीतल हो चुका था। शूलपाणि नित्य-नैमित्तिक कार्यपर गया हुआ था। आ

बठी वह तरंगित सागरके सिकता-तटपर। देर तक वह सिन्धुका घनघोर गर्जन सुनती रही। दूर, सुदूर क्षितिजपर आकाश सागरको चूम रहा था। तरंगें बारी-बारी उठ-उठ तटपर टकरा-टकरा टूट रही थीं। निरन्तर, एकके बाद दूसरी। दूर एक हलकी लहर उठती, धीरे-धीरे वह आगे बढ़ती, प्रत्येक पगमें ऊँची उठती, फिर यकायक टूट पड़ती, विशाल दुर्गके भग्न प्राचीरकी भाँति। उसकी टूटी लहरियोंका बिन्दुक्षेप अनन्त मात्रामें पसरकर विपुल वेगसे बढ़ता और तटके ऊपर सिकताप्रसारपर बिखर जाता। सहसा बालुका-तटके असंख्य जीव अपनी क्षुद्र माँदोंमें जा दुबकते, फिर फेनके हटते ही जल ऊपर फेंक आ निकलते और लहरोंके आनेपर फिर अपने गृहमें जा डूबते। लहरोंका ताँता न टूटता।

देर तक फेनका सागरकी उठती-गिरती लहरोंको गिनती रही। धीरे-धीरे सामने जलगर्भसे चन्द्रमा निकला, पूर्ण चन्द्र, और उसकी कौमुदी सर्वत्र फैल गयी। पूर्णिमाकी धौत चन्द्रिकामें नीली लहरोंके रजत-जलकण चमचम चमकने लगे। फिर वही उनका टूटना और फेनका बिखरना। उनका उठना गिनते-गिनते फेनका थक गयी। उसने विचारा—क्या इन लहरियोंका अन्त नहीं? सनातनसे ये लहरें ऐसे ही उठती, टूटती और निलय होती रही हैं, अनन्त काल तक ऐसे ही ये उठती, टूटती और निलय होती रहेंगी। इनका फेन इसी प्रकार सदा तटपर बिखरता रहेगा। प्रातः सूर्य और सान्ध्य सोम इसी प्रकार सागरके निश्चल वक्षसे सदा प्रसूत होते रहेंगे। और मैं? फेनकाकी विचारगति रुक गयी। अकस्मात् सामने दूरके उठते प्रभंजनमें उसने जैसे एक पोत-श्रेणीकी अस्पष्ट श्याम-रेखा सागरकी नील-पट्टिकापर मिटते देखी। उसने जाना—यह उसके अन्तरका प्रतिविम्ब था और वह पोत-श्रेणीकी अस्पष्ट श्याम-रेखा थी उसके पिताकी स्मृति। उसके नेत्र भींग चले।

जब उसकी संज्ञा लौटी, उसने सुना सदाका वही गर्जन, सागरका तुमुल नाद, अम्बुधिका ताण्डव।

उसने धीरे-धीरे कहा—
"गर्जन, निरन्तर गर्जन।
"तुमुल नाद, सिन्धुका गम्भीर गर्जन।"

पूर्वसागरके आक्रमणोंसे मिस्र और बावेरुकी बड़ी हानि हुई। उन्होंने भारतीय पश्चिमी सीमाके यवन राजाओंसे सहायताकी प्रार्थना की। बावेरु स्वयं सीरियाके राजा अन्तिओक महान्‌के अधीन था। अन्तिओकके वाणिज्यको अधिक क्षति हुई। बाह्लीकका व्यवसाय भी गंगा-यमुनाके जल-मार्गोंसे होकर गंगासागर और वहाँसे सामुद्रिक मार्गसे रोम आदि देशोंको जाता था। परन्तु पूर्वसागरकी जलदस्युतासे सारे उत्तरी भारत और दक्षिणी मध्य एशियाका वाणिज्य सिमुक और उसके दस्युओंके हाथ लगा। अन्तिओककी क्रोधाग्नि भड़क उठी। इसी समय बाह्लीकने विद्रोह किया था। इस कारण अन्तिओकके हाथ बझ गये थे, परन्तु बावेरुकी आय इतनी व्यवसायजन्य थी कि उसे उसके सम्मुख राजनीति छोड़ देनी पड़ी। उसने बाह्लीक युथिदेमोको दे डाला और उसके तथा अन्य यवन राज्योंके साथ सन्धि कर भारतपर आक्रमण करके बावेरु-वाणिज्यको मगध और कलिंगके चंगुलसे बचाना चाहा। सारे यवन राज्योंका विश्वास था कि वणिक्-पोत प्राची-राष्ट्र मगध और कलिंग-द्वारा ही लूटे जाते हैं। सिमुक-का कौशल काम कर गया, वह स्वयं सुरक्षित बना रहा।

अन्तिओक महान्‌ने हिन्दुकुश पार कर काबुलके हिन्दू राजा सुभागसेन-को हराया। परन्तु आगे बढ़ना कुछ आसान न था। अपनी महत्तामें कालिख लग जानेके भयसे अन्तिओक महान् अपनी सेना पीछे छोड़ सीरियाकी ओर लौट चला। परन्तु सेनापति आन्द्रोस्थीनिकी अध्यक्षतामें उसकी सेना बाह्लीक आदि यवन राज्योंकी अन्य सेनाओंके साथ मगधकी ओर बढ़ी।

शालिशूक मौर्यका अभी-अभी देहावसान हुआ था और सोमशर्माके दुर्बल करोंमें मौर्योंका राजदण्ड अस्थिर हिल रहा था। यवनवाहिनीने मथुरा और साकेत लाँध मगधकी सीमामें प्रवेश किया। अजातशत्रुका राजगृह अब सोमशर्माका पाटलिपुत्र था। अब पाटलिपुत्रमें न तो सिल्यू-कसका विजेता चन्द्रगुप्त था और न उसका पथ-प्रदर्शक चाणक्य। यवनोंकी सेनाका मार्ग कहीं न रुका। सोमशर्मा मौर्य गोरथगिरिकी ओर भागा और मगध-साम्राज्यकी सेना पहलेसे ही बौद्ध हो चुकी थी। संघके प्रचुर प्रभावने मगधका शौर्य पानी कर दिया था। साम्राज्यकी सेनाने हथियार डाल दिये। केवल मौर्योंके पुरोहित-वंशका नवसेनापति कुछ समय तक यवनोंकी अपार वाहिनीसे लोहा लेता रहा, फिर पराजय अनिवार्य जान बौद्धोंको कोसता वह भी गंगा पार उतर गया। मगधकी राजधानी कुसुमपुरने यवनोंको स्वीकार किया। परन्तु यवन कुसुमपुरको भोगने नहीं आये थे। वे आये थे उसका ध्वंस करने।

यवनोंको प्रतिशोध लेना था, बावेरु और मिस्रके वाणिज्यका, उनके यवन-वणिकोंकी मृत्युका, अपनी खोयी यवनियोंके दासत्वका। बावेरु और मिस्रमें, सीरिया और बाह्लीकमें, पूर्वसागरको जलदस्युतासे विधवाओंकी संख्या बढ़ गयी थी, बच्चे पितृविहीन हो गये थे। यवन पाटलिपुत्रपर टूट पड़े। नगरमें हाहाकार मच गया। युवा तलवारोंके घाट उतारे जाने लगे, बालक घोड़ोंकी टापों-तले रौंदे जाने लगे, वृद्ध अग्निकी ज्वालासे चीत्कार कर उठे। सारा नगर अग्निकी लपटोंसे धाँय-धाँय जलने लगा। संघका विशाल विहार भी अपने त्रिपिटकोंके बल अपनी रक्षा न कर सका। कुसुमपुरके नागरिकोंके रक्तसे गंगाकी धारा रँग चली।

पाटलिपुत्रकी पतिव्रताएँ यवन सैनिकोंके विलासका साधन बनीं, मौर्योंके शुद्धान्त (अन्तःपुर) की सतियोंने दुष्ट विक्रान्त यवनोंका आश्रय लिया। नगरके कोने-कोनेमें धन और सौन्दर्यकी लूट मच गयी। राजमार्ग-पर, वीथिकाओंमें, शवोंके ढेर लग गये। नगरके प्राचीरोंके नीचे, छतोंके

ऊपर विभीषिकाका ताण्डव होने लगा—नागरिकाएँ नग्न, धूसरित होने लगी। नगरके पंच-पर्वतोंके जैन देवोंने लज्जासे अपना मुख छिपा लिया।

यह मौर्योंके भाग्यकी विडम्बना थी। अभागा सोमशर्मा गोरथगिरिसे फिर न लौटा। उसका अभाग्य फिर-फिर यवनोंके मस्तकपर तिलक लगा रहा था। यवनोंकी विलासप्रियतासे एक लाभ अवश्य हुआ—कलिंगकी यौवनश्रीकी माँग धुलते-धुलते बच रही। दुष्टविक्रान्त यवन पाटलिपुत्रके पर्यंकोंपर अपना शिलातल भूल गये। न उन्हें आगे जानेकी सुध रही, न पीछे फिरनेकी।

ठीक इसी समय उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्तपर विद्रोहके बादल मँडरा रहे थे। यवन सेनापतिने अपने क्रूरकर्मा यवनोंको कठिनतासे एकत्र किया और विलाससे मत्त उन सैनिकोंने कुसुमपुरकी सुन्दरियोंको अपने आगे कर पंचालकी ओर प्रस्थान किया। भागे नर लौटे।

पाटलिपुत्रकी कान्ति मलिन हो गयी थी, उसकी लक्ष्मी मसल गयी थी। राजधानीकी नागरिकाओंको इने-गिने पुरुषोंकी ओर देखते लज्जा आती। उनके पुरुषोंकी संख्या नहींके बराबर हो गयी थी। समाजकी व्यवस्था फिरसे हुई। एक-एक पुरुषको छह-छह स्त्रियोंने वरा। चारों ओर स्त्री-राज्यका आतंक-सा छा गया। बालक बलपूर्वक पति बनाये जाने लगे।

कलिंगराजने तीर्थंकरोंको धन्यवाद दिया। सिमुक अपनी नीतिकी विजयपर हँसा। शूलपाणिका व्यवसाय फिर जगा।

शरदागमसे आकाश स्वच्छ हो चला था, सागरका जल निर्मल नील। पूर्णिमाकी रात्रिमें फिर फेनका तटपर बैठी बड़ी देर तक लहरोंका उत्थान-पतन देखती रही। अनुकूल मन्द वायुके संसर्गसे वेलाका उदय-निलय वह निहारती रही। एक-एक लहरके साथ समुद्र अनन्त सीपियोंका संहार

उसके चरणोंमें वमन कर देता, शंख-निचय उसके सम्मुख बिखेर देता। वह प्रत्येक वेलाके साथ उठती, कुछ सीपी कुछ शंख चुनती फिर बैठकर कुछ गुनने लगती। सीपियोंपर अनन्त रंग चढ़े थे, एकका वर्ण दूसरेसे सर्वथा भिन्न था। फेनका आश्चर्यसे चकित रह जाती। कौन इन रंगोंको भरता है ? इन रंगोंकी विविधताका क्या कोई अन्त नहीं ? वह पूछती।

समुद्रका अविराम गर्जन हो रहा था। नील गगनके नीचे नील सागर तटपर लहरा रहा था। फेनिल लहरियोंके सोपान बड़े आकर्षक प्रतीत होते। फेनकाका हृदय, उसका प्रौढ़ मानस थिरक उठा, कुछ नवीन हो चला। उसकी बार-बार इच्छा होने लगी कि वह वेलानिर्मित इस सोपान-पथपर खटाखट चढ़ जाये। वेलाएँ पसर-पसर उसके चरणोंमें टकराने लगीं। उनका श्वेत फेन उसके चरणोंको धो-धो सूखने लगा। सागरतटकी बालुका-भूमि जो विविध वन्य जीवोंके पदअंकोंसे अंकित थी प्रत्येक वेलासे मिटने लगी। वेला आ-आकर मानो अंचलभूमि लीप देती, स्वच्छ तट-भूमि रह-रहकर चमक उठती। फेनका इस निसर्ग-क्रीड़ाको देखती, मन-ही-मन कुछ गुनती रही। कभी उसका मुख गम्भीर हो उठता, कभी सस्मित। फिर धीरे-धीरे उसकी भावनाएँ अन्तर्मुखी हो चलीं और टकराती वेलाओंके तटपर वह बावेरुकी यवनी अपने अन्तरमें बाह्य-जगत्-का प्रतिबिम्ब लिये, हृदय-पटलपर जलराशिका उद्वेलन करती अन्तर्जगत्में लीन हो गयी।

निशीथकी वायु देर तक फेनकाके पिंगल केशोंसे खेलती रही। कभी वह उसके कच-निचयको उठा ताल दे-दे थिरकाती, कभी उसके अधोवस्त्र-को लहरा-लहरा उसके कटि-प्रदेशको विवसित कर देती। जब शूलपाणिकी निद्रा अचानक टूटी, उसने अपना अंक सूना पाया। दस्युका हृदय तरल था, साधारण प्रणयीके हृदयकी ही भाँति। वह बाहर निकल गया फेनका-की खोजमें। उसने फेनिल तटपर दृष्टि पसारी। फेनका न दिखाई पड़ी। वह काँप उठा।

कुमुदबन्धुकी निर्मल कौमुदी अन्धकारमें समा गयी थी। सर्वत्र आकाशमें फैलकर बादलोंने उसे ढँक लिया था। आकाशकी नीलिमासे निसर्गकी श्यामता द्विगुणित हो चुकी थी। प्रभंजनका वेग बढ़ गया था और सागरकी उत्ताल तरंगें गगनको चूमती थीं। क्रूरकर्मा दस्युका हृदय भी एक बार इस कालकी विकरालतासे काँप गया। उसने सस्वर पुकार-फेनके !

सागरकी टूटती लहरोंने अट्टहास कर उत्तर दिया।

दस्युका मानस बैठ गया। नेत्र फाड़-फाड़ उसने उन आकाशचुम्बी लहरोंकी ओर भयसे उद्विग्न हो देखा, बार-बार उसका प्रयास व्यर्थ गया।

उसने फिर पुकारा—"फेनके!"

उसके स्वरकी प्रतिध्वनि सागरके गर्जनमें खो गयी।

एक बार और दस्युराजने अनुनय की—फेनके, बोलो, अन्यथा तुम्हारा दास पवनमथित इस व्यग्र सागरमें कूद पड़ेगा।

दस्युके स्वरमें भयका कम्पन था।

नारिकेलोंके झुरमुटमें सहसा कुछ श्वेत-सा हिला। विद्युत्के क्षणिक प्रकाशमें दस्युने उसे देखा और दूसरे ही क्षण वह कुंजमें जा घुसा। फेनका उछलकर दस्युकी शिराव्यंजित बलिष्ठ भुजाओंमें भर गयी। दस्युने उसके परिहासका उत्तर उसे अपने वक्षसे कुचलकर दिया।

अनेक रत्नोंसे भरे विलासभवनको छोड़ विक्रान्त दस्युने इस भयंकर रात्रिमें नारिकेलोंकी भूमिमें कामरचना की। निसर्गकी नग्न कोखपर नग्न मानव नाचा। उधर नग्न आकाशके नीचे नग्न जलनिधि नग्न पवनके सहारे नग्न रजनीकी श्यामतामें करवटें बदल रहा था, इधर नग्न दस्यु नग्न यवनीको झकझोर-झकझोर अपनी लम्बी भुजाओंपर उछाल रहा था।

प्रातःकाल फेनका नित्यसे कुछ देर कर उठी। उसने देखा—दस्यु-परिवार हिंस्रिकाओंको साज रहा है। दूसरे अनुचर दस्यु भी आज विशेष

प्रकारके आयुधोंसे नौकाएँ भर रहे थे ।

फेनका अपने वस्त्र सँभालती नारिकेल-कुंजसे दौड़ती तटपर आ खड़ी हुई ।

उसने शूलपाणिसे पूछा, "यह कैसा आयोजन है ? क्या आज भी जाओगे ?"

शूलपाणि हँसता हुआ बोला, "क्यों आज क्या कोई नयी बात है ? जाता हूँ नित्यके नैमित्तिक पथपर ।"

"आज नहीं, शूलपाणि, आज तुम नहीं जा सकते ।"

"क्यों ? आज क्या है, फेनके ? सागरकी लहरोंने क्या मुझे कभी रोका है ? आज तू इस प्रकार कातर क्यों हो रही है ?"

"नहीं, शूलपाणि, आज तुम्हें रुकना होगा । सागर आज ललकार रहा है ।" रमणी अड़ गयी ।

"आज मुझे जाना होगा, फेनके । सागर आज ललकार रहा है !"—शूलपाणिने कुछ गम्भीर होकर सागरकी ओर देखा ।

"मेरा हृदय काँपता है, शूलपाणि । आज मत जाओ । उन गगन-चुम्बी लहरोंको देखो ।" नेत्रोंमें आँसू भर नारीने घुटने टेक दिये ।

दोनों पुत्र उडुपोंपर बैठे लहरोंके वेगको पार कर हिंस्रिकाओं तक पहुँचनेका प्रयत्न कर रहे थे ।

शूलपाणि फेनकाको वक्षसे चिमटाते हुए बोला, "फेनके, तुम वीरकन्या, वीरपत्नी हो, उद्विग्न मत हो । इन गगनचुम्बी लहरियोंपर ही चढ़कर मेरी हिंस्रिकाएँ नाचेंगी । आज अन्ध्रराज सिमुक सातवाहनका विशेष संवाद आया है—स्वर्ण और रजत, ताम्र और कांस निर्मित भाण्ड, स्फटिक दीप, यवन मदिरा, द्राक्षासव, पारसके अजिन-रत्न सुन्दर यवन दास-दासी यवनोंके पोतमें भरे चले आ रहे हैं । फेनके, तुम्हारी सुन्दर परिचारिकाओं-की संख्या बढ़ जायेगी । स्वर्ण-रजतसे समृद्धि द्विगुणित हो उठेगी । मदिरा-से मानस उन्मत्त होगा ।"

फेनकाको चूम दस्यु समीपके उडुपपर कूदकर चढ़ गया और लगा लहरियोंसे संघर्ष करने। लहरें उसे उठा-उठाकर तटकी ओर फेंक देतीं और वह द्विगुणित उत्साहसे उनके पार जानेका प्रयत्न करता।

यवनी रोते-रोते देर तक चिल्लाती रही—"न जाओ! न जाओ!"

दस्यु लहरोंके उस पार हिंस्रिकाओंमें जा बैठा। चल पड़ीं हिंस्रिकाएँ मनुष्य और प्रकृतिसे लड़ने। फेनका उनका दूर क्षितिजपर विलीन होना देखती रही।

अपराह्न हो चला। आकाशका रंग मेघोंके संघट्टसे श्याम बना रहा। लहरियोंका उत्थान-पतन पूर्ववत् वेगसे होता रहा। फेनका तटपर बैठी लहरोंको गिनती रही। आज उसने भोजन छुआ तक नहीं। परिचारिकाओंको उसने दुरदुरा दिया। उसके हृदयमें अनेक भय रूप धारण कर उठते और वह काँप उठती। अनेक प्रकारके अपशकुन होते। वह चुपचाप लहरियोंको देखती रही, फिर बोली—"वही गर्जन, वही सिन्धुका तुमुल नाद। बन्द कर, अम्बुधि अपना यह कर्णकटु कोलाहल।"

सिन्धु गरजता रहा, फेनकाके हृदयको भयसे भरता रहा। फेनका ग्रीक और बावेरु, असुर और आर्य देवताओंको बारी-बारी मनाती रही, परन्तु हिंस्रिकाएँ दृष्टिगोचर न हुईं।

वह यकायक उठी और आश्रयकी ओर दौड़ गयी। उसने अपने केशोंको चौड़े स्वर्ण-पट्टसे बाँधा, फिर ऊपर एक ढीला अंशुक डाल कच्छ पहना। युगल दस्यु-रक्षकोंकी ओर संकेत कर वह समीपके उडुपपर कूद पड़ी। उसे रोकनेका न तो परिचारिकाओंको साहस हुआ न दस्युओंको ही। दूसरे उडुपोंपर दस्युओंने उसका अनुसरण किया।

लहरोंने उसे ललकारा। वह उनपर चढ़ दौड़ी। कभी जलमें तैरती, कभी उडुपपर चढ़ती। वह लहरोंकी पहुँचसे बाहर उस पार समुद्रमें पहुँच गयी जहाँ अकेली हिंस्रिका धीरे-धीरे हवाके सहारे हिल रही थी। दोनों

दस्युओंने डाँड़ सँभाला और फेनका कर्णपर जा बैठी। उठती लहरोंके ऊपर काँपती लहराती हिंस्रिका चल पड़ी सागरके अनन्त छोरकी ओर जिधर शूलपाणिकी हिंस्रिकाओंकी रेखा प्रातःकाल विलीन हो गयी थी।

दक्षिण-पश्चिमके कोणपर सुदूर एक काला धब्बा दिखाई दिया। फेनकाने उत्साहपूर्वक दस्युओंको ललकारा। उसकी हिंस्रिकाका वेग बढ़ गया। परन्तु लहरोंकी चपेटसे वह कभी आगे कभी पीछे हटने लगी। एक लहर उसे उठाकर आगे फेंक देती, दूसरी पीछे पटक देती। फेनका मृत्युसे संघर्ष करती बढ़ी चली जा रही थी।

काला धब्बा धीरे-धीरे बढ़ने लगा। वह बढ़कर श्याम रेखा-सा दिखाई देने लगा।

फेनकाकी नौका करवटें लेती बढ़ चली श्याम रेखाकी ओर। श्याम रेखा एकसे दो हो गयीं। हिलती हुई दो पोत-पंक्तियाँ दृष्टिगोचर हुईं। कुछ ही क्षणोंमें बादल छँट चले, परन्तु सन्ध्या भी धीरे-धीरे दृश्यको धुँधला करने लगी। फिर भी उस गोधूलिमें दूरसे फेनकाने दोनों पंक्तियों-को टूटते और बिखरते स्पष्ट देखा। यवनोंके ऊँचे पोत अनेक पालोंसे सुसज्जित थे, परन्तु दस्युओंके आक्रमणसे वे छिन्न-भिन्न हो रहे थे। अपनी विशालताके कारण उनका शीघ्रतासे चलना कठिन था, परन्तु तीव्र गतिवाली हिंस्रिकाएँ वेगसे घूम-घूम उनके पृष्ठभागपर आक्रमण करतीं। लहरें उन्हें उठा-उठाकर दूर फेंक देतीं, परन्तु दूसरे ही क्षण पोतोंके कर्णपर वे फिर जा चढ़तीं।

धीरे-धीरे पोत तितर-बितर होने लगे। उनकी संख्या घटने लगी। उनके कितने ही टूटे लौह और काष्ठखण्ड फेनकाकी हिंस्रिकासे आ टकराये। अब वह आनन्दसे थिरक रही थी। सोचती थी, किस प्रकार उड़कर वह शूलपाणिके पार्श्वमें जा खड़ी हो।

इसी समय शूलपाणि लड़ता हुआ अनेक दस्युओंके साथ विशिष्ट पोतके

ऊपर चढ़ गया। अब केवल यही पोत बच रहा था और इसके सैनिक अन्तिम संघर्ष कर रहे थे।

फेनका अत्यन्त निकट पहुँच चुकी थी। इसी समय उसने देखा—अपने अन्तिम क्षणोंमें पोतस्वामीने तानकर भाला मारा जो शूलपाणिका शिरस्त्राण भेदता हुआ कानके समीपसे निकल गया। घाव सांघातिक न था, परन्तु रक्तकी धारा बह चली और फेनका उद्विग्न हो उठी। उसे यह भी भान न रहा कि वह समुद्रमें है। कर्णसे वह पोतपर कूदनेके लिए उछली। मृत्युके मुखमें वह कूदी, परन्तु इसी समय उसके कनिष्ठ पुत्रकी हिंस्रिकाको लहरोंने उसकी हिंस्रिकासे टकरा दिया और वह गिरी पुत्रके अंकमें। ठीक तभी शूलपाणिने तौलकर जो भाला मारा वह पोतस्वामीके वक्षपर भरपूर बैठा। वह तत्क्षण लोट गया।

दस्यु पोतपर चढ़ दौड़े। फेनका भी मुसकराते हुए शूलपाणिके पार्श्व-में जा खड़ी हुई। पोत अब उसका था। वणिक् और दूसरे दास-दासी अब उसके थे। स्वर्ण और रजत, ताम्र और कांस-निर्मित भाण्ड, सुन्दर स्फटिक-दीप, यवन मदिरा, द्राक्षासव, पारसके अजिन-रत्न, सब अपने थे।

बादल छँट गये थे। आकाश निर्मल हो चला था, और चन्द्रमा अपनी वंचक हँसी हँस रहा था। परन्तु अभीतक प्रभंजनका वेग न थमा था। आकाशके मेघ झंझावात बुहार चुका था, अब वह सागरपर गम्भीर गर्जन करने लगा। सागरकी लहरें फिर वेगसे उठने-गिरने लगीं, झंझावातके गर्जनकी प्रतिध्वनि करने लगीं।

दस्युराज शूलपाणि अपने वैभवको देखने लगा। उसके समीप ही उसके अनेक सैनिक खड़े थे। उसके पार्श्वमें खड़ी फेनका लहरोंके उद्वेलनसे उठते-गिरते पोतके कारण उससे रह-रहकर टकरा जाती। उसके पुत्र भी अपने लाभकी अटकल लगा रहे थे, दास-दासियोंके सौन्दर्यको रह-रहकर घूर रहे थे। फेनका भी अपने ऐश्वर्यसे प्रसन्न थी।

कर्णकी ओर पड़ा एक आहत यवन सैनिक मोटे मस्तूलके पीछे

पालोंकी रज्जुओंपर लगातार छुरा चला रहा था। एकाएक प्रबल झटके और वेगके साथ पोतके पचासों पाल एक ओरसे कटकर वायुमें लहरा उठे। उनके वेगसे पवनका वेग यकायक बढ़ गया और दस्युओंके सँभलते न सँभलते वह विशाल पोत उछला और उलटकर जलराशिके गर्भमें बैठ गया, दस्यु-परिवारको लिये—उनके वैभवके साथ। स्वर्ण और रजत, ताम्र और कांस-निर्मित भाण्ड, स्फटिक-दीप, यवन मदिरा, द्राक्षासव, पारसके अजित-रत्न, सुघड़ यवन दास-दासियोंका वह संसार उठती लहरों-के क्षणिक बुद्बुदोंकी भाँति सहसा विलीन हो गया। सिन्धु पूर्ववत् घहराने लगा।

सागरकी उत्ताल तरंगोंने अट्टहास किया, फिर उसकी सनातन दिनचर्या चल पड़ी—

"गर्जन, निरन्तर गर्जन।"

"तुमुल नाद, सिन्धुका गम्भीर गर्जन।"

१७ अक्तूबर १६४०
प्रातः ७—११

क्रान्ति

[प्रस्तुत कहानीमें वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। पुष्यमित्र बृहद्रथका सेनापति था। बृहद्रथ मौर्योंका अन्तिम वंशधर था। उससे सेना और प्रजा ऊब उठी थी। किस प्रकार 'सेनापति'ने उसे सेनाके सम्मुख मारा इसका उल्लेख संस्कृत साहित्यमें कई स्थलोंपर मिलता है। अन्तिम उल्लेख 'हर्षचरित'में बाणभट्ट (सातवीं सदी) का है—'प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।' इस उल्लेखमें पुष्यमित्रके प्रति 'अनार्य' शब्दका व्यवहार कदाचित् बौद्धराज हर्षके प्रसादार्थ हुआ है। पुराण इस सम्बन्धमें केवल इतना ही लिखते हैं—'सेनापति पुष्यमित्र बृहद्रथको मारकर ३६ वर्ष राज्य करेगा।' महर्षि पतंजलि पुष्यमित्रके समकालीन थे, कदाचित् पुरोहित भी, जैसा उनके महाभाष्यके उदाहरणसे विदित होता है—'इह पुष्यमित्रं याजयामः।' यवनोंके आक्रमणोंका संकेत भी महर्षिने अपने महाभाष्यमें किया है—'अरुणद् यवनः साकेतम्। अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।' आक्रमणकारी यवनको मैंने मिलिन्द माना है। वह बौद्ध था, यह 'मिलिन्दपन्ह'से सिद्ध है। उस समय भारतवर्षमें ब्राह्मणोंका प्रभुत्व हो चला था। शुंग, चैत्र और आन्ध्र-सातवाहन तीनों ब्राह्मण-कुल थे। खारवेल और पुष्यमित्रकी समकालीनता सन्दिग्ध है। समय: द्वितीय सदी ई० पू०, लगभग १८५ से १५० ई० पू० तक।]

अमावस्याकी रात्रिमें अनन्त दीपशिखाओंके प्रकाशमें पाटलिपुत्रके राज-प्रासादके सर्वोपरि पृष्ठतलपर बैठा मगधसम्राट् बृहद्रथ मौर्य नर्तकियोंको

बिदा कर रहा था। आज उसका हृदय उद्विग्न था। आज नर्तकियोंकी नाट्यमुद्राएँ उसे आकर्षित न करती थीं, न उनकी भावभंगियाँ ही उसपर अपना जादू डालती थीं। विलासी आज घबराया हुआ था। उसका चित्त अस्थिर हो रहा था, संज्ञा विलुप्तप्राय हो रही थी। कारण अनजाना थ । एक अद्भुत त्रास उसके मानसको भर रहा था। वह अनुपम गायक, कलाका वह अद्वितीय पारखी, बौद्ध दर्शनका वह विचक्षण दार्शनिक आज अपने ही भावोंके स्रोतमें डूब-उतरा रहा था। रह-रहकर जैसे उसके हृदयको कोई मथ रहा था, क्षुरप्रसे धीरे-धीरे छील रहा था।

मगधराज हिरण्यके भद्रपीठसे उठा और पर्यंककी पृष्ठ-पट्टिकासे पीठ लगा विचारने लगा—"मैं प्रतिज्ञादुर्बल हूँ। अपने विलासमें रत प्रजाकी सुविधाओंका मैंने कभी विचार नहीं किया। सेनाको वर्षोंसे वेतन न मिला। पितामह सोमशर्मा मौर्यके समय जो यवन-आक्रमण हुआ उसका ताँता अबतक न टूटा और प्रजा आततायियोंके अत्याचारसे नष्ट-भ्रष्ट हो रही है। ईतियाँ दुर्भिक्ष-द्वारा उसका शोषण कर रही हैं – और मैं ? मैं...."

बृहद्रथ निष्प्रभ हो रहा। उसका कलेजा काँप उठा। कर्तव्यकी स्मृति उसपर चोटें कर रही थी और वह गहरी साँस ले-ले करवटें बदल रहा था। विलासकी कामना अनेक अनुरंजक दृश्योंसे उसे अपनी ओर खींच रही थी और कर्तव्यका कठोर मार्ग उसे उलाहने दे रहा था। उपालम्भकी ओर उसने पीठ कर ली और लगा वह अपने व्यसनानुभूतिके प्रवाहमें बहने।

"ना वह टससे मस न होगा"—उसने सोचा। प्रजा तो दरिद्रका उदर है, कभी भरता नहीं। उसे जितना दो उसकी याचना उतनी ही बढ़ती जायेगी।

हृदयके निभृत कोणसे कर्तव्यने ललकारा—"प्रजाको कब क्या दिया तुमने ? उसके स्वत्व तुम्हारी सभाके सभ्य कुचल रहे हैं, उसकी आराधना-

पर दृप्त श्रमण हँसता है, उसके देवताओंपर थूकता है। तू प्रतिज्ञादुर्बल है, सावधान !"

"मैं प्रतिज्ञादुर्बल हूँ"—बृहद्रथने स्वयं अपनेको धिक्कारा परन्तु व्यसनकी कमनीय धाराने उसके चौंकते विचारोंको दूर बहा दिया। आलोक शिखाएँ उसने दूर करा दीं।

भद्रपीठकी दक्षिण पट्टिकापर बृहद्रथका राजमुकुट रखा था। तारोंके क्षीण आलोकमें उसके रत्न झिलमिल-झिलमिल करते थे। ऊपरकी कलँगी-से लगी चूड़ामणि दीपशिखा-सी बदलती थी। उसका प्रकाश रह-रहकर दूर तक अन्धकारकी छाती विदीर्ण कर देता।

अन्यमनस्क सम्राट् आकाशमें एकटक उदय और अस्त होते नक्षत्रोंको देख रहा था। यकायक राज्यप्रासादके सभागृहवाले स्वर्णकलशपर कुछ 'फड़फड़' ध्वनि हुई। सम्राट्की दृष्टि उधर खिंच गयी। उसने देखा चंचुमें रक्तस्रावी मांसपिण्ड लिये एक विशाल गृद्ध उसपर आ बैठा। स्वर्णकलश-का कँगूरा गृद्धके विपुल पंखपुंजसे ढँक गया।

भयकी एक लहर सम्राट्के अन्तरमें उठी। उसने पुकारा—"मधुरिके !"

क्षण-भरमें सुन्दरी यवनी हाथ जोड़े आ उपस्थित हुई।

भयातुर, क्रुद्ध बृहद्रथने धीरेसे कहा, "मधुरिके, धनुष ले आ, बृहत्प्रकाश भी।"

मस्तक झुका यवनीने कहा, "देवकी जैसी आज्ञा।"

पल-भरमें यवनी धनुष-बाण लिये लौटी। प्रकाश दूर तक फैल गया

बृहद्रथने गृद्धपर शरसन्धाना, पर क्षुरप्रके छूटते-न-छूटते पक्षिराज उड़ गया। जबतक सम्राट्ने दूसरा बाण चढ़ाया, गृद्ध नीचेके प्रमदवनके प्राचीरोंकी ओट हो गया।

भावोंकी प्रगति मगधराजके वक्षमें पसरने लगी। भयकी मात्रा इस अपशकुनसे द्विगुणित हो उठी। उसके करोंसे गिरते धनुषको यवनीने

धीरे-से ले लिया।

इसी समय गृद्ध लौटा। रात्रिमें पक्षीका उड़ आना अस्वाभाविक लगा। लगा, उसका अभिप्रेत अशुभ साधना था। अचानक वह राजमुकुटकी कलँगीके साथ हेमसूत्रका चूड़ामणि ले उड़ा। राजमुकुट पक्षिराजके प्रबल प्रहारसे प्रासादके पृष्ठतलपर लुढ़क गया।

अशुभके ऊपर अशुभ! राजा काँप उठा। यवनी भी सन्त्रस्त हो उठी। राजा धनुष-बाण लिये पृष्ठतलपर दौड़ा। पक्षिराज अब भी समीप ही आकाशमें चक्कर काट रहा था। सम्राट्ने आकर्ण ज्या खींचकर बाण मारा। लक्ष्य खाली गया। सन्त्रस्त कुपित बृहद्रथके कर काँप रहे थे। उसने फिर बाण मारा। लक्ष्य फिर चूका। सम्राट्ने धनुष नीचे डाल दिया और ललाटके स्वेदबिन्दु पोंछता वह पर्यंकपर जा बैठा।

पक्षिराज अब भी प्रकोष्ठके कलशका चक्कर काट रहा था। यवनीने चित्त संयत कर जो बाण मारा, उससे उसके कुछ पंख झड़ गये। गृद्ध धीरे-धीरे दूर नगरकी ओर ऊँचा उड़ चला।

सम्राट्ने गम्भीर निःश्वास ले कहा, "मधुरिके, पौरसे कह, वह अपने नागरिकों-द्वारा पक्षीका पीछा करे और जब वह अपने नीड़में प्रवेश करे तब उसका वध कर वह चूड़ामणि हस्तगत कर ले।"

यवनीने मस्तक झुकाकर प्रस्थान किया।

बृहद्रथने उसे रोकते हुए फिर कहा, "मधुरिके, तनिक महामात्यको मेरे समीप आनेको कह।"

सम्राट्के शब्दोंमें उद्वेगका कम्पन था।

यवनी धीरे-धीरे मुसकराती पृष्ठतलसे नीचे उतर गयी।

जब महामात्यने प्रवेश किया, उसने बृहद्रथको अप्रतिभ पाया। अभिवादन कर आदेशकी प्रतीक्षामें महामात्य एक ओर खड़ा हो गया।

सम्राट्ने धीरे-धीरे मस्तक उठाया। महामात्यने फिर अभिवादन

किया। बृहद्रथके हृदयमें आचार-व्यवहारकी शक्ति न रह गयी थी। उसने महामात्यके अभिवादनका उत्तर न दिया। महामात्य स्वभावसे ही संयत था। उसने अपने मुखकी चेष्टा पूर्ववत् गम्भीर बना रखी।

कुछ क्षणोंके बाद बृहद्रथ बोला, "महामात्य, अपशकुन हो रहे हैं। जान पड़ता है, मगधका अपकार होगा।"

महामात्यका हृत्कमल खिल उठा। अपने ही शब्दोंके श्रवण-लोभसे वह युक्तिपूर्वक बोला, "देव, मगधका अपकार सम्राट्का अपकार है। परन्तु कर्तव्यशील मगधेश्वरको अपकारकी क्या चिन्ता?"

महामात्यका व्यंग्य बाणकी भाँति बृहद्रथके मर्मपर लगा। परन्तु अपनेको संयत कर उसने पूछा, "क्या प्रजा सन्त्रस्त है, महामात्य?"

महामात्यने मन-ही-मन कहा—"प्रजा सन्त्रस्त नहीं, राजन्, यह तुम्हारे पापोंकी विडम्बना है।"

उसने प्रकट कहा, "मौर्य सम्राट्-सा यशस्वी गोप्ता पाकर प्रजाको त्रास कैसा, देव?"

महामन्त्रीका व्यंग्यबाण पूर्वस्थलपर फिर बैठा, भरपूर। परन्तु आज बृहद्रथ संयत था, भयसे अवरुद्ध। मन्त्रसे वृत्तबद्ध भुजंग गुंजलक मार बैठा, उसने फुफकार तक न मारी। महामन्त्री स्वामीकी इस अनजानी शक्तिसे विस्मित हो उठा। यवनी पृष्ठतलके सोपानमार्गपर खड़ी धीरे-धीरे मुसकरा रही थी।

विषका घूँट पी सम्राट्ने कहा, "महामात्य!"

महामात्य बोला, "देव!"

"देखो, मेरा चित्त आज कुछ अस्थिर है। सम्भव है शयनकक्षसे नित्यवत् प्रातः न निकल सकूँ। इस हेतु सेनापतिसे कहकर कलका सैन्य-प्रदर्शन स्थगित कर दो।"—सम्राट्ने धीरे-धीरे कहा।

महामात्यका मुखमण्डल जो व्यंग्योंके प्रभावसे विद्रूप हो गया था, फिर गम्भीर हो उठा। उसकी भृकुटियोंमें बल पड़ गये। सोपानमार्गपर

खड़ी यवनीकी मुखाकृतिपर महामात्यकी आकारचेष्टाओंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था।

महामात्यने दृढ़तापूर्वक कहा, "देव, यह कैसे हो सकता है ? सारा सम्भार हो चुका है। केवल पाटलिपुत्रकी सेना होती तो कोई बात न थी। प्रत्यन्तोंसे भी सेनाएँ राजधानीमें लौट आयी हैं और अन्तपाल यहाँ दीर्घकाल तक रोके नहीं जा सकते। यवन फिर पश्चिमी सीमापर मँडरा रहे हैं और उनकी नृशंसता पाटलिपुत्रके निवासियोंको अभी भूली नहीं है। सामान्य यवनसेना भी नागरिकोंको आतंकसे भर देगी।

बृहद्रथने महामात्यके वक्तव्यमें विशेष तथ्य पाया। उसने विचारा—सत्य ही अन्तपालोंको उनकी सेनाओंके साथ मूलमें दीर्घकाल तक रखना विपत्तिको निमन्त्रण देना है। यवनोंकी स्मृतिसे सम्राट् काँप उठा।

फिर उसने दृढ़तापूर्वक महामात्यसे कहा, "महामात्य, कार्यक्रममें किसी प्रकारके परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं। मैं सैन्यनिरीक्षण करूँगा। जाओ।"

महामात्यने उसी गम्भीर आकृतिसे कहा, "जैसी आज्ञा, देव ! इतनी दूरसे आयी सेना वर्षोंसे अवैतनिक रहनेपर भी प्रभुका आश्वासन सुन सचेष्ट हो उठेगी।"

बृहद्रथको महामात्यका वक्तव्य कदाचित् कुछ अच्छा न लगा। उसने कहा, "जाओ, महामात्य, जाओ।"

जाते हुए महामात्यने अपने भीतर उठते भावोंकी बहती धारा यवनीके नेत्रोंमें देखी। उसने मुसकरा दिया।

इसी समय सोपानमार्गपर बृहद्रथका स्वर सुन पड़ा—"मधुरिके !"

यवनी पृष्ठतलपर दौड़ गयी।

"मधुरिके, धृष्टद्युम्नसे मेरा प्रसाद कह।" सम्राट्ने आदेश किया।

यवनी माथा झुका विद्युत्की भाँति पृष्ठतलसे नीचे उतर गयी।

सम्राट्ने अन्तमें अपनी शरीररक्षक सेनाका सहारा लेना ही उचित

समझा। परन्तु महामात्यके वक्तव्यका वह अनोखा वाक्य—'सारा सम्भार हो चुका है—' रह-रहकर उसे त्रस्त करने लगा। व्याकुल बृहद्रथ कभी पृष्ठतलपर टहलता, कभी पर्यंकपर जा लेटता, कभी भद्रपीठका आश्रय लेता। परन्तु बारम्बार जैसे उसकी स्मृतिके कोलाहलसे सुन पड़ता—"सारा सम्भार हो चुका है।"

यकायक प्रतिहारीका स्वर सुन पड़ा—"शरीररक्षक सेनाके अध्यक्ष 'सिंहविक्रम' धृष्टद्युम्न।"

सम्राट्ने कुछ उद्वेग, कुछ दृढ़तासे पूछा, "धृष्टद्युम्न, तुम्हारी शरीर-रक्षक सेना प्रस्तुत है?"

धृष्टद्युम्नने अभिवादन कर कहा, "देव, शरीररक्षक सेना आदेशके अर्थ सदा प्रस्तुत रहती है।"

बृहद्रथने महामात्यके वक्तव्यका सारगर्भित वाक्य धृष्टद्युम्नके वक्तव्यसे जोड़ा। वह काँप उठा। उसकी मुखश्री मलिन पड़ गयी। परन्तु शीघ्र अपनी दुर्बलता छिपाता शब्दोंमें शक्ति भर वह बोला, "धृष्टद्युम्न, सेना सन्नद्ध रखो। प्रातः मुझे सैन्य-निरीक्षणमें जाना है, मुझे उसकी आवश्यकता होगी।"

शरीररक्षक सेनाका अध्यक्ष मस्तक झुकाकर पृष्ठतलसे उतर चला। सोपानमार्गसे उ   उसकी पीठको धीरे-धीरे यवनीने थपथपाया।

कुछ देर तक सम्राट् महामात्य और धृष्टद्युम्नके वक्तव्योंकी अद्भुत समानतापर विचार करता रहा। फिर वैतालिकके स्वरसे उसकी विचार-निद्रा टूटी। वैतालिकने पुक   रात्रिका दूसरा पहर हो चला।"

अन्तःपुरके मार्गमें नौबत बज उठी। सम्राट्के हृदयमें फिरसे बल भरने लगा। वाद्यने उसके रोम-रोममें स्फूर्ति भर दी। अपनी दुर्बलतापर वह आप ही झुँझला उठा। फिर मुसकराते हुए उसने पुकारा—"मधुरिके!"

यवनी शीघ्र सम्राट्के सम्मुख आ खड़ी हुई। उसका सस्मित मुख

देख वह मन-ही-मन मुसकरायी।

बृहद्रथ बोला, "मधुरिके, मधुपात्र भर दे।"

यवनीने स्वर्णकलशसे स्फटिकका मधुपात्र भर दिया। सम्राट्ने शीघ्रतासे कई मधुपात्र रिक्त कर दिये। फिर जब वारुणीने अपने रंगमें उसका अन्तर-बाहर सब रंजित कर दिया, बृहद्रथ अपने पूर्व भयका स्मरण कर अट्टहास कर उठा। यवनी उसके भाव-परिवर्तनसे कुछ सन्त्रस्त हो उठी।

सम्राट् फिर बोला, "मधुरिके, शयनकक्षका मार्ग बता।"

यवनी शीघ्रतासे सम्राट्के समीप पहुँचकर बोली, "इधर, इधर, देव।"

सम्राट् जब अपनी देहका कुछ भार यवनीकी चमकती ग्रीवापर डाल सोपानमार्गपर लड़खड़ाता हुआ चला, यवनीको उसका कर कुछ गरम प्रतीत हुआ। झुके सम्राट्का गरम उच्छ्वास यवनीके शीतल कपोलपर कुछ अरुण राग भरने लगा।

आजकी निशा बड़ी भयावनी थी। पाटलिपुत्रका विशाल विपणिमार्ग सदाकी भाँति दूसरेपर ही नीरव हो गया। निशीथ हो चला था। आज सन्ध्यासे ही विस्तृत नगरमें एक अनोखे भयका संचार हो गया था। नागरिकोंके भयका कारण क्या था, सो स्वयं नागरिक भी न जानते थे। केवल प्रत्यन्तसे आये सैनिकोंके दलके दल शौण्डीगृह (पानालय) में, मार्गपर, अपने भल्लोंपर झुके अनजाने सुखका स्वप्न देख रहे थे।

निशीथके घण्टे जब सेनाके स्कन्धावारोंमें बजे, कुछ अद्भुत चहल-पहल आरम्भ हुई। दलके दल सेनानायक किसी गुप्त विषयपर विशेष शिविरोंमें परामर्श करने लगे। शिविरोंके द्वार निवृत थे, उनपर विशिष्ट प्रहरी सन्नद्ध थे। इन शिविरोंमें केवल उन्हींका प्रवेश हो सकता था, जिनके पास रक्तवर्णकी शलाका होती। प्रहरी आगन्तुककी शलाका देखकर

उसे शिविरका द्वार खोल भीतर कर लेते, फिर अपने भल्लोंको बलपूर्वक पकड़ धीरे-धीरे टहलने लगते। जो अद्भुत प्रवाह भीतर-ही-भीतर चल रहा था उसके विवरणका लोगोंको ज्ञान न था, फिर भी सैनिकोंको इतना विदित था कि प्रातः कोई असाधारण घटना घटेगी जिसमें उनका प्रचुर हाथ होगा और जिसका सम्बन्ध उनके कल्याणसे होगा। बस वे इतनेसे सन्तुष्ट थे। उनके लिए इतना पर्याप्त था। अब उनका वेतन वर्षोंके बाद मिल जायेगा। उन्हें इस बातकी चिन्ता न थी कि उसे कौन देगा। साधारण सेनानायक भी कार्यक्रमको पूर्णतया न जानते थे और विशिष्ट सेनानियोंकी मूक गम्भीर मुद्रा उन्हें कुछ पूछनेसे वर्जित करती थी। उनकी सैनिक विनय किसी प्रकारकी जिज्ञासा और उत्सुकता प्रकट करनेमें बाधा डालती थी। केवल दो शब्द जहाँ-तहाँ सुन पड़ते थे—'प्रतिज्ञादुर्बल सम्राट्' और 'कर्तव्यशील सेनापति'।

रात्रिका तीसरा पहर था। अन्धकार पाटलिपुत्रको निगल रहा था। सहसा मगधके विशाल स्कन्धावारके महासेनापति पुष्यमित्रके शिविरका द्वार खुला और प्रहरियोंने मस्तक झुका लिये। निभृत द्वारसे मगधके वयोवृद्ध महामात्य, सेनापति, शरीररक्षक सेनाके अध्यक्ष और प्रत्यन्तोंके अन्तपाल निकले। अन्तपाल अपने शिविरोंमें चले गये, रक्षक सेनाके अध्यक्ष राजप्रासादमें गुप्तद्वारसे प्रविष्ट हुए और महामात्यने अपने हर्म्यमें प्रवेश किया। सेनापति भी अन्धकारमें विलीन हो गये।

पाटलिपुत्रके बाहर गंगा और शोणके संगमपर महर्षि पतंजलिका तपोवन था। ब्राह्मणधर्मके एकमात्र स्तम्भ योगिराज पतंजलिकी अवहेलना स्वयं मौर्यसम्राट् बौद्ध बृहद्रथ नहीं कर सकता था। यदि किसीके समक्ष उसका मस्तक भयसे झुकता था तो केवल महर्षिके सामने। पाटलिपुत्रके बौद्ध विहारके महास्थविर स्वयं पतंजलिके सम्मुख माथा टेकते थे। और

वे निर्भीक तपस्वी योगिराज समाधिमें शक्तिका संचय कर उससे मगधके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंगको वीर्यवान् करते थे ।

सारा पाटलिपुत्र सोया पड़ा था । महर्षिके तपोवनमें भी शान्ति विराज रही थी । सारे ब्रह्मचारी और उनके आचार्य-उपाध्याय निद्रामें निमग्न थे ।

महर्षि व्याघ्रचर्मपर शान्त बैठे थे । एक प्रौढ़ उनके चरणोंमें माथा टेके पड़ा था ।

महर्षिने धीरे-धीरे आशीर्वाद दिया—"जाओ, प्रजाको मुक्त करो । तुरकावपेय-चाणक्यकी कीर्तिका पुनर्विस्तार करो ।"

प्रौढ़ उठा, धीरे-धीरे अन्धकारमें बिलीन हो गया ।

ब्राह्म मुहूर्तका समय हो चला था । तपोवनके ब्रह्मचारी गा उठे । मगधके स्कन्धावारमें दुन्दुभि, शंख और तूर्य बज उठे ।

पाटलि दुर्गके सुविस्तृत मैदानमें अटूट क्रमसे फैले स्कन्धावारोंके सामने मगध-साम्राज्यकी विपुल वाहिनी सैन्य-पद्धतिसे सज रही थी । प्रातराकाश-की लाली फूटनेके पूर्वसे ही सैन्यका यातायात प्रारम्भ हो गया था । अनेक गुल्मनायक, नायक, अधिनायक, चमूपति, बलाधिप, पदाति-सेनापति, हयाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, गजाध्यक्ष, नावाध्यक्ष अपनी सेनाका परिचालन कर रहे थे । पदातियोंके पदसंचालन, अश्वसेनाकी नियमित गति, हस्तिसैन्यके भारी शब्द और रथोंकी गड़गड़ाहटसे जो ध्वनि उठती, उससे दिगन्त व्याप्त हो जाता । बीच-बीचमें अश्वोंकी हिनहिनाहट और गजोंकी चिंघाड़से जो गम्भीर शब्द होता उससे भयका संचार होता । सेनाकी अविराम गतिसे गजोंके पदों और अश्वोंकी टापोंसे खुदकर धूल निकलती और पूर्वदिशाकी लालीको स्वनिर्मित मेघोंसे ढक लेती । रह-रहकर रणभेरी बज उठती ।

दूर राजप्रासादके एकान्त छोरपर आलोकशब्दोंकी प्रतिध्वनि गूँज उठी। सम्राट्के आगमनकी सूचनामें सेनाका पूर्वीय तूर्य-पक्ष सहसा बज उठा। सारी सेना निश्चल हो गयी। धीरे-धीरे पूर्व तोरणसे सम्राट्का विशाल गज निकला। मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ उत्तुंग गजपर स्वर्णके रत्न-जटित हौदेमें चमकते वस्त्रोंसे सुसज्जित बैठा था। उसके दोनों पार्श्वमें दो सुन्दर यवनियाँ धनुषपर वाण चढ़ाये वीरासनसे सतर्क बैठी थीं। उनकी कटिसे कटारें लटक रही थीं। शरीररक्षक सेना सम्राट्के गजके चारों ओर द्रुतगामी तुरंगोंपर आरूढ़ भल्ल, असि और धनुष-बाणसे सजी बढ़ती आ रही थी। उसका अध्यक्ष धृष्टद्युम्न विशाल गजके पार्श्वमें कुछ दूरीपर उन्नत मस्तक किये धीरे-धीरे चला आ रहा था। रह-रहकर वह अपना तुरग लिये सम्राट्के गजके अत्यन्त निकट आ जाता फिर दूर हट जाता। सम्राट्का वक्षवर्म उसके रंजित रत्नजटित वस्त्रोंके भीतरसे जब-तब झलक जाता। हौदेके ऊपर पड़ी उसकी दक्षिण भुजाके लौहवर्मपर शिरस्त्राणसे फिसल-फिसल बालरविकी किरणें पड़तीं और वह दमक उठता। सम्राट्के गजके पीछे क्रमशः महामात्य और युद्धामात्यके गज थे। उनके चतुर्दिक् भी पार्श्वचर रक्षक सेना थी।

धीरे-धीरे जब सम्राट्की सवारी प्रासादके पूर्व तोरणसे निकल खुले मैदानकी ओर चली, तब मगध-साम्राज्यका शक्तिशाली सेनापति उसके स्वागतको आगे बढ़ा। मौर्योंके पुरोहित शुंग-परिवारका पिता मनस्वी पुष्यमित्र सेनाका लाड़ला था। वह एक-एक सैनिकका जीवन था। सैनिक उसके नामकी सौगन्ध खाते, उसके नामपर एक-एकको चुनौती देते—प्रणयमें, कलहमें। वह भी एक-एक सैनिकको अपना सगा जानता। न्यायके क्षेत्रमें उसने अग्निमित्र और साधारण सैनिकमें अन्तर न जाना था, न डाला था। सेनाका वह प्राण था और वह उसके संकेत-पर नाचती। यह उसके स्नेहका ही परिणाम था कि वर्षोंसे वेतन न मिलनेपर भी वह किसी प्रकार संयत थी, विशेषकर जब एक-एक सैनिक

को बृहद्रथकी स्वार्थपरता और स्वच्छन्द विलासिताकी बात विदित थी। यदि पुष्यमित्र न रोकता तो प्रत्यन्तोंकी क्रोधाग्निमें बृहद्रथ कबका भस्म हो चुका होता।

सम्राट्के स्वागतमें पुष्यमित्र बढ़ा। उच्चैःश्रवा-सा उसका तुंग तुरग अत्यन्त कठिनतासे रुकता था। सेनापतिके वर्मकी झालर चमचम चमकते तुरगके पृष्ठकवचपर गिर रही थी और उसका उठा भल्ल-फलक अरुण सूर्यकी रक्तकिरणोंमें नेत्रोंमें चकाचौंध उत्पन्न कर रहा था। उसके उन्नत शिरस्त्राणका निम्न भाग वक्षवर्मसे मिल गया था और पार्श्व-लौहपत्तरका दक्षिण छोर कटिसे लटकती असिकी रत्नजटित स्वर्णमूठ छूता था। रानोंके पत्तर वाजिराजके ताम्र-साजसे रगड़ जानेके कारण रह-रहकर बज उठते थे। वामस्कन्धके ऊपर पृष्ठदेशसे अवलम्बित तूणीर मर्मभेदी बाणोंसे भरा था और चढ़े धनुषकी ज्याके भीतरसे होकर वाम हस्त तुरगकी रज्जु थामे हुए था। शक्तिपूर्वक रानोंसे अश्वके पार्श्वोंको दबाये गर्वीला मस्तक उन्नत किये अत्यन्त स्वेच्छाचारी वाजिको शक्ति और संकेतसे संयत करता यशस्वी शुंग जब सम्राट्की ओर बढ़ा, अपनी सेनाको वह सेनानी कार्त्तिकेय-सा प्रतीत हुआ।

पुष्यमित्रकी शक्ति देख बृहद्रथ कुछ सहमा, परन्तु उसे अपनी रक्षक सेनापर विश्वास था। वह आश्वस्त हो गया। सेनापतिने आगे बढ़कर उसका अभिवादन किया। सारी सेनाने मस्तक झुका दिया। परन्तु सम्राट्के क्रोधकी सीमा न रही जब सेनाने उसके बदले सेनापतिका जयघोष किया। उसने फिरकर महामात्यके गजकी ओर सार्थक दृष्टिसे देखा। महामात्यने अपना मुख सेनाकी ओर फेर लिया। सम्राट्ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि पुष्यमित्रपर डाली। परन्तु सेनापतिके नेत्र अड़ गये। उसकी दृष्टि सम्राट्की दृष्टिसे मिल गयी। सम्राट्की भौंहें तन गयीं। सेनापतिकी मुट्ठी भल्लदण्डपर कस गयी। फिर सेनाने उन्मुक्त घोष किया—"मगध-सेनापति शुंग पुष्यमित्रकी जय!"

सम्राट्ने अवस्था असाधारण जान युक्तिसे काम लेनेकी सोची। उसने शक्तिसे क्रोधका दमन किया। अपने सम्मुख सेना-द्वारा सेनापतिका जयघोष वह पी गया। उसने सेनापतिका प्रत्यभिवादन कर अपने उठते भावोंको दबा सस्मित मुद्रा बना पुष्यमित्रसे पूछा—"सेनापति, तुम्हारी सेना विशेष विनयी प्रतीत होती है।"

सम्राट्के बनाये स्वाभाविक स्वरमें एक घूँट विषका आ ही गया। अपने कोपका वह उच्छृंखल बृहद्रथ सर्वथा दमन न कर सका। उसकी ग्रन्थि भाषामें खुल ही पड़ी। प्रश्नमें पुष्यमित्रको व्यंग्यका प्रचुर पुट जान पड़ा। उसने उसी भाषामें उत्तर दिया—"देव, विनयस्थितिस्थापक सम्राट्की पादपीठी है। फिर कर्तव्यशील सम्राट्की उपस्थितिमें सेना विशेष विनयी क्यों न प्रतीत हो?"

महामात्यने उत्तर सुन मुसकरा दिया। रक्षक सेनाके अध्यक्षका घोड़ा कदाचित् सम्राट्के गजसे भड़ककर कुछ दूर हट गया।

बृहद्रथ विषकी घूँट कण्ठगत करता हुआ फिर बोला, "सेनापति, सैन्य-संचालनकी व्यवस्था करो। शीघ्र। मुझे विशेष कार्यसे लौटना है।"

सेनापतिने मस्तक झुकाकर अपना अश्व फिरा लिया। क्षण-भरमें वह विशाल सेनाकी मध्य पंक्तिके सम्मुख जा पहुँचा। अध्यक्षोंको उसने सधे संकेत किये। अबतक सम्राट्का गज ऊँची प्रस्तर-भूमिपर विशाल पटमण्डपके नीचे आ खड़ा हुआ था।

चतुरंगिणी सेना एक-एक कर बृहद्रथके सामनेसे अभिवादन करती निकलने लगी। पदाति-सेनाका विस्तार अनन्त-सा प्रतीत हुआ। मूल-सेनाके पश्चात् मगधकी सेना आयी, फिर अन्तों, फिर प्रत्यन्तोंकी। पदाति-सेना निकल गयी। वेगसे अश्वारोही सेना भी सम्राट्के सामनेसे निकल गयी। गजसेना धीरे-धीरे चली, उसके पीछे रथोंका संघट्ट चला। परन्तु बृहद्रथके हृदयमें एक तीव्र शूल उठ रहा था। यह वैभव उसने सोचा, कदाचित् उसका न था। जबतक सेनाएँ उसके सामनेसे निकलती रहीं

वह अर्धसुप्त-सा हौदेकी गद्दीसे पीठ लगाये चुपचाप पड़ा रहा। पूर्वाह्णके अनन्तर जब चतुरंगिणी सेना उसके श्रीवितानकी दूसरी ओर जा खड़ी हुई, उसने देखा—सेनाका एक स्कन्ध अभीतक जहाँका तहाँ खड़ा है। बृहद्रथने पुष्यमित्रकी ओर देखा, कुतूहलपूर्ण जिज्ञासासे। पुष्यमित्रने कहा, "वह साम्राज्यकी नौसेना है, सामुद्रिक वंगकी।"

सम्राट्ने पूछा, "निश्चल कैसे खड़ी है ?"

सेनापतिने नावाध्यक्षको संकेत किया। नावाध्यक्षने सेनाको विनय-लक्षणसे आदेश दिया। आदेश-शब्द जैसे बहरे कानोंपर पड़े।

सम्राट्को कुछ क्रोध हो आया। उसने स्वयं नौसेनाको आगे बढ़नेका आदेश किया। नौसेना निश्चल खड़ी रही। न हिली।

उसने एक स्वरसे माँगा—"वेतन !"

यह विप्लवका निर्घोष था, सबल, संक्रामक।

सारी सेनाने एक साथ माँगा—"वेतन ! वेतन !"

सेनाके स्वरसे आकाश गूँज उठा। अश्वोंकी हिनहिनाहट और गजोंकी चिंघाड़ भी उसी स्वरमें जा मिली। बृहद्रथका रोष अन्तिम सीमा तक पहुँच चुका था।

उसने सेनापतिको आज्ञा दी—"नौसेनाको बन्दी करो।"

सेनापति बोला, "यह कैसे सम्भव है, देव ?"

"कैसे ?"—कुपित बृहद्रथ शीघ्र बोला—"सम्राट्की आज्ञासे।"

सेनापतिने धीरे-धीरे, किन्तु दृढ़ गम्भीर स्वरमें, उत्तर दिया—"देव, सम्राट्की आज्ञा तभीतक मान्य है जबतक सम्राट् राज्यारोहणके समय की गयी प्रतिज्ञाका पालन करता है। प्रतिज्ञादुर्बल सम्राट् राष्ट्र-शरीरकी केन्द्रीय ग्रन्थि खोल जब स्वयं स्वतन्त्र हो जाता है, राष्ट्रके शेष षष्ठांग भी अपनी ग्रन्थियोंको काट उच्छृंखल हो जाते हैं।"

सेनापतिने अपने नेत्र बृहद्रथके दृष्टिपथमें डाल दिये। उसके प्रशस्त ललाटपर एक भी रेखा न थी, एक भी स्वेदबिन्दु न था। क्रुद्ध बृहद्रथका

दक्षिण हस्त यवनीके धनुषकी ओर बढ़ा। सेनापतिने भल्लदण्डको अश्वके साजवाले अंकुशमें डाल दिया।

वृहद्रथने सस्वर पुकारा—"सेनापति !"

सेनापति उसी पूर्वस्वरमें बोला—"बृहद्रथ !"

मगधराजका धैर्य जाता रहा। दर्प और क्रोधसे अन्धे बृहद्रथने चिल्लाकर कहा—"धृष्टद्युम्न, सेनापतिको बन्दी करो।"

धृष्टद्युम्नका अश्व साजकी लौहरज्जुको दाँतोंसे काट रहा था, पृथ्वीको खुरोंसे कुरेद रहा था। उसका स्वामी चुपचाप अन्तरिक्षकी ओर देखता रहा जैसे उसने सम्राट्की आज्ञा सुनी ही नहीं। इसी समय सेनाने फिर 'वेतन ! वेतन !' की पुकार मचायी। साथ ही उसने सेनापतिके नामका फिर जयघोष किया।

सेनापतिका गम्भीर स्वर फिर सुन पड़ा—"बृहद्रथ, प्रतिज्ञादुर्बल सम्राट्की आज्ञा माननेवाला प्रजाद्रोही है, राष्ट्रका शत्रु। ऐसे सम्राट्की गति वेन और नन्दकी होगी।"

बृहद्रथने पार्श्ववर्ती यवनीके करसे झपटकर धनुष छीन लिया परन्तु उसके शरसन्धानके पूर्व ही पुष्यमित्रके आकर्णमुक्त विषाक्त क्षुरप्रने उसके वक्षवर्मको विदीर्ण कर दिया। सम्राट्का मस्तक धीरे-धीरे हौदेकी वेदिकापर लुढ़क गया। सेनापतिके जयघोषसे वातावरण गूँज उठा।

महामात्यने बृहद्रथके तप्त शोणितसे तत्क्षण पुष्यमित्रका तिलक कर दिया।

देर तक दिगन्तमें सेनाके निर्घोषकी प्रतिध्वनि होती रही—"सेनापति पुष्यमित्रकी जय !" "सम्राट् शुंग पुष्यमित्रकी जय !"

पुष्यमित्रके विरोधमें बौद्धसंघने विप्लवका झण्डा उठाया। पाटलिपुत्रका महाविहार बौद्ध षड्यन्त्रोंका केन्द्र बन गया। श्रमण बौद्ध उपासकोंको

सेनापतिके विरुद्ध सर्वत्र भड़काने लगे। परन्तु पुष्यमित्रने प्रबल करोंमें राजदण्ड धारण किया था। उसके समक्ष उनकी एक न चली। उसकी सेना उसके संकेतपर मर मिटनेके लिए सदा तत्पर रहने लगी। उसने भी सेनासे अपना आमृत्यु सम्बन्ध स्थिर रखनेके हेतु प्रतिज्ञा की कि वह सदा 'सेनापति' के नामसे ही अपने शासनोंको घोषित करेगा, 'सम्राट्' के नामसे कभी नहीं। इस आचरणने उसे सेनाके नेत्रोंमें और भी ऊपर उठा दिया।

ब्राह्मण-धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा हुई। प्राचीन धर्मसूत्रोंकी नींवपर भार्गवने मानव-धर्मशास्त्रका निर्माण किया। 'योगसूत्रों' की रचना कर पतंजलिने तृप्ति प्राप्त की। अब वे 'महाभाष्य' की बृहदट्टालिकाकी नींद खड़ी करने लगे। रामायण और महाभारतके इतिहास नवीन वसनोंसे चमके। पाली पिछड़ी, संस्कृत सिंची। पैशाची गयी, देवभाषा आयी। संघशरण छोड़ जनता यज्ञशरणकी ओर झुकी। याग-होमका पुनरुद्धार हुआ। ब्रह्मघोषसे मगधका वातावरण गूँज उठा। मुण्डित मस्तकोंपर शिखा-वैजयन्ती फहराने लगी। ब्राह्मण-क्षत्रिय-संघर्षकी यह पराकाष्ठा थी।

श्रमणोंके हृदयमें शूल उठा। गृहदाह एकमात्र अस्त्र दिखाई पड़ा। बौद्ध महाविहारमें अनेक विभीषण जनमे। महामेघवाहन खारवेल आन्ध्र-सातवाहन श्री शातकर्णीको पराजित कर वेणगंगाके प्रदेशको अभी-अभी छीन चुका था। जैन-धर्मावलम्बी कलिंगराजको पाटलिपुत्रके महास्थविरने सुझाया—यदि सद्धर्मके लिए नहीं तो स्वधर्मके लिए ही इस ब्राह्मणधर्मके संवर्धक पुष्यमित्रका नाश करो। अहिंसाकी मात्रा जैनधर्ममें सद्धर्मसे भी विशिष्ट है। मगधमें बलि हो रही है, पशु कट रहे हैं। अशोकका बदला क्यों नहीं फेरते? नन्दराज-द्वारा गृहीत वह ऋषभदेवकी अद्‌भुत प्रतिमा जैनोंके पराभव और कालिंगोंके कलंककी टीका होकर पाटलिपुत्रके प्रासाद-में तुम्हारी विजयोंपर व्यंग्यकी हँसी हँसती है—उसे क्यों नहीं लाते? और मगधका विस्तृत साम्राज्य क्या वेणगंगा-प्रदेशसे कम समृद्ध है?

खारवेलको युक्ति जँच गयी। कलिंगकी विशाल गजसेनाने मगधपर आक्रमण किया परन्तु पुष्यमित्रकी अश्वसेनाने उसे गोरथगिरिपर कई ठोकरें दीं। पुष्यमित्रने मथुराका मार्ग लिया, खारवेल कलिंगपत्तन लौटा। जिन-प्रतिमा उसे न मिली।

महामेघवाहन शक्ति संचय कर फिर मगधकी ओर बढ़ा। मगधके बौद्ध विहार और उपासक-नागरिक उसके साथ थे। एक वंचक भदन्तने मागध सैनिकके वेशमें नगरका सिंहद्वार खोल दिया। कलिंगके मातंगोंने मगधके रथोंको कुचल डाला। पुष्यमित्रने साहस न छोड़ा। उसने राज-कोश खोल दिया। लुटेरे धन लेकर भागे। ऋषभदेवकी प्रतिमा लेकर खारवेल कलिंग लौटा।

बौद्धोंका मन न भरा। उन्हें सद्धर्मका पुनरुद्धार करना था, ब्राह्मण-धर्मका सर्वनाश।

भारतीय सीमाके उत्तर-पश्चिमके प्रत्यन्त आकाशमें एक नक्षत्र धीरे-धीरे अपना प्रकाश फैला रहा था। महास्थविरके नेत्र उस प्रभापुंजपर जा टिके। महास्थविर उधर चल पड़ा—यवनराज मिलिन्दको सद्धर्ममें दीक्षित करने। वर्षोंके निरन्तर प्रयत्नसे महास्थविर सफल हुआ। यवनराज सद्धर्म-में दीक्षित हो गया।

शिष्यने जब गुरुके चरणोंमें मस्तक रख गुरु-दक्षिणा पूछी, गुरुने माँगा—"ब्राह्मण धर्मका ध्वंस, पुष्यमित्रका मस्तक, मगधका पराभव।"

मिलिन्दकी उच्चाकांक्षाओंमें गुदगुदी उठी। मगध-साम्राज्यकी उप-लब्धिकी आशासे उसके नेत्र चमक उठे। अलिकसुन्दर जिस कार्यको न कर सका, उसे वह सम्पन्न करेगा—यह सोचकर उसका हृत्कमल खिल उठा।

उसने प्रकट प्रतिज्ञा की—"जबतक ब्राह्मण-धर्मका निधन और मगध-का पराभव न कर लूँगा, जबतक पुष्यमित्रका मस्तक गुरुदेवके चरणोंमें न ला धरूँगा, विश्राम न लूँगा।"

महास्थविरका चित्त स्थिर हुआ।

बौद्ध विहारोंकी वंचकता मिलिन्दकी सहायक थी। मिलिन्द चला मगधके मूल पाटलिपुत्रकी ओर क़ाबुल, गन्धार और पश्चिमोत्तर पंचनदके दीर्घकाय विक्रान्त सामरिकोंकी सेना लिये। इस विशाल सेनाकी हरावल और पार्श्वमें मनस्वी यवन अश्वारोही सन्नद्ध थे।

मिलिन्दने सिन्धुनदका मुहाना अप्रयास ले लिया। सुराष्ट्र और पश्चिमी जनपद उसके चरणोंमें लोट गये। मथुराको यवनवाहिनीने रौंद डाला। माध्यमिकाकी लक्ष्मी छिन गयी, साकेतकी धवल कीर्ति मिट गयी। पाटलिपुत्रकी राज्यलक्ष्मीने अपने विक्रान्त गोप्ताकी ओर देखा। सेनानी देवसेना लिये दुर्गके प्राचीरोंसे बाहर असुरकी खोजमें निकल पड़ा।

दूरके खुले मैदानमें पुष्यमित्रकी सेनाने यवनोंकी विपुलवाहिनीपर आक्रमण कर कुछ ऐसी चोटें कीं कि क़ाबुल, गन्धार और पश्चिमोत्तर पंचनदके दीर्घकाय विक्रान्त सामरिक किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये, पार्श्वके अश्वानीकोंके छक्के छूट गये, यवनोंकी हरावल टूट गयी।

मागधोंने यवनोंको रौंद डाला। क़ाबुल, गन्धार और पश्चिमोत्तर पंचनदके दीर्घ विक्रान्त सामरिक भाग चले, हरावल और पार्श्ववर्ती मनस्वी यवन अश्वानीकोंको आगे किये। सबसे आगे था मिलिन्द और उसके पीछे था पाटलिपुत्रके बौद्ध विहारका महास्थविर।

पुष्यमित्रने भागती यवन-सेनाका पीछा किया। उसने प्रण किया कि अब वह मगधको यवन आक्रमणोंसे और ब्राह्मणधर्मको बौद्धोंकी वंचकतासे सदाके लिए सुरक्षित कर देगा।

उसके सेनाध्यक्षोंने माध्यमिका ले ली। स्वयं वह पंचालकी ओर बढ़ा। साकेत और मथुरा लाँघ उसने पंचनद ले लिया और पाटलिपुत्रसे जालन्धर तक सारे बौद्ध विहारोंकी उसने अग्निमें आहुति की और इस महायज्ञमें उसने महास्थविरके साथ ही उसके असंख्य अनुयायियोंको बलि दे दिया। मिलिन्द मध्यदेशमें ही खेत रहा। मिलिन्दकी राजधानी साकलमें पुष्यमित्रने

घोषणा की—"यो मे श्रवणशिरो दास्यति तस्याऽहं दीनारशतं दास्यामि—जो मुझे एक श्रवण मस्तक देगा उसे मैं सौ दीनार दूँगा।"

क्षत्रिय मूच्छित था, ब्राह्मण सजग।

१६ अक्तूबर १६४०
प्रातः ५—१०



अश्वमेध

[पुष्यमित्रने दो बार अश्वमेध किया जैसा कि उसके अयोध्यावाले शिलालेखसे विदित है। सेनासे अपना जीवित सम्पर्क बनाये रखनेके अर्थ सम्राट् होनेपर भी पुष्यमित्रने अपनेको केवल 'सेनापति' ही कहा। 'सेनापति'के नामसे ही उसके शासन-पत्र निकले, लेख घोषित हुए। ऐसा उसके शिलालेखोंसे प्रमाणित है। कालिदासने भी अपने 'मालविकाग्निमित्र'में पुष्यमित्रको इसी कारण 'सेनापति' ही कहा है। पुष्यमित्रका अपने वैदिशस्थ पुत्र युवराज अग्निमित्रको पत्र देना अनुमानतः ऐतिहासिक है और सम्भवतः कालिदासने उसकी नक़ल गुप्तोंके शासनविभागके किसी सुरक्षित पत्रसे की है। 'मालविकाग्निमित्र'के उस पत्रका भावानुवाद प्रस्तुत कहानीमें दिया गया है। यह अश्वमेध दूसरा होना चाहिए, अन्यथा सेनापतिके पौत्रका अश्वका रक्षक होना सम्भव न होता। पुष्यमित्र बृहद्रथका राज्य हस्तगत करनेसे पूर्व उसका सेनापति था। सेनापतिके पद तक पहुँचते-पहुँचते उसकी आयु ४० वर्षकी अवश्य हो गयी होगी। इस यज्ञके समय प्रौढ़ अग्निमित्र कालिदासके अनुसार विदिशाका राजा है। उसकी अवस्था यदि ४० मानी जाये तो वसुमित्र और सेनापतिकी क्रमशः २० और ६० होनी चाहिए। और यदि अग्निमित्रको विदिशाका गोप्तृत्व बृहद्रथके राज्यकालमें ही मिल गया हो, जो बहुत सम्भव है, तो सेनापतिकी आयु और भी अधिक हो सकती है। महर्षि पतंजलिने पाणिनिकी अष्टाध्यायीपर अपने 'महाभाष्य'में सेनापतिके अश्वमेधके प्रति संकेत किया है—'इह पुष्यमित्रं याजयामः'। सम्भवतः पतंजलि इस यज्ञके ऋत्विज भी थे। 'स्वर्ण', 'पुराण' और 'धरण'में-से पहला सोनेका और शेष दोनों रजतके मिश्रित सिक्के थे।]

"बधाई, कुमार, बधाई !"—मगध-साम्राज्यके महामात्यके एकमात्र तनय वासुकिने पौ फटनेके पूर्व ही पुष्यमित्रके पौत्र कुमार वसुमित्रके शयनकक्षमें प्रवेश करते हुए कहा।

वसुमित्रने दौड़कर प्रिय वयस्यको हृदयसे लगा लिया। समाचार बड़े महत्त्वका था। कुमार इस संवादके लिए सारी रात जागता रहा था और मगध-सम्राट् तथा महामात्य इसीके सम्बन्धमें सारी रात मन्त्रणा करते रहे थे।

"कुमार, देखो, तुम्हें अश्वका दक्षिण पार्श्व और युद्धमें सेनाकी हरावल मुझे देनी होगी।" वासुकिने फिर कहा।

वसुमित्र आनन्दके समुद्रमें लहरा रहा था। उसने वासुकिसे पूछा, "वासुकि, किससे सुना? आर्य महामात्यसे?"

"हाँ, वयस्य, पितासे। वे अभी-अभी सम्राट्के शयनकक्षसे लौटे और आते ही उन्होंने कहा, 'जा, वासुकि, अपने मित्रको बधाई दे आ। सेनापतिने कुमारको राजयज्ञके अश्वका गोप्ता नियुक्त किया है।' ऐसा जान पड़ता है, कुमार, सारी रात्रि मन्त्रणा होती रही है। पर अन्तमें तुम्हारी विजय हुई—न वसुज्येष्ठ नियुक्त हुए, न युवराज विदिशाधिपति।"

वसुमित्रने दीवारसे लटकते महर्षि पतंजलिके चित्रको मस्तक झुका दिया, फिर कहा, "गुरुदेव, आशीर्वाद दो, बल दो।"

इसी समय द्वारपाल वाहतकको सम्राट्के प्रासादकी ओरसे आते देख वासुकि बोल उठा, "वयस्य, देखो वे द्वारपाल आर्य वाहतक शुभ संवाद लिये आ रहे हैं। बोलो, कुमार, अश्वका दक्षिण पार्श्व और युद्धमें हरावल मुझे दोगे न?"

"दूँगा, वयस्य, दूँगा।"

कुमारकी बात समाप्त होते-न-होते द्वारपालने कक्षमें प्रवेश करते हुए कहा, "राज-अश्वके गोप्ता कुमार वसुमित्रकी जय हो!"

"आर्यको वसुमित्रका प्रणाम।" वसुमित्रने वासुकिके साथ ही द्वार-

पालका अभिवादन किया ।

द्वारपालने हेमदण्ड वाम करमें ले वसुमित्रके मस्तकपर धीरे-धीरे दक्षिण कर फेरते हुए कहा, "कुमार, सेनापति मन्त्रणागृहमें तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । सत्वर चलो ।"

वासुकिको एक वार फिर हृदयसे लगा वसुमित्र दण्डधरके साथ कक्षसे बहिर्गत हो गया ।

जब उसने मन्त्रणागृहमें प्रवेश किया सम्राट् शयनके वस्त्र पहने धीरे-धीरे कक्षमें टहल रहे थे । श्वेत लम्बे केश ग्रीवापर बिखरे थे और सकच्छ धोतीका उपरिभाग चौड़े उत्तरीयसे कुछ ढँका था । रात्रिके जागरण और कर्तव्यकी चिन्ताके कारण वृद्ध सेनापतिके मुखपर कुछ शिथिलता छा गयी थी । कुमारने प्रवेश कर जब पितामहके चरण छुए, सम्राट्ने कहा—"आयुष्मान्, वसुमित्र, कदाचित् तुम सुन चुके हो ।"

विनीत कुमारने नतमस्तक हो स्वीकार किया—"हाँ, देव, अभी-अभी वासुकिने कहा । परन्तु क्या संवाद गोपनीय था ?"

"नहीं, वसुमित्र, मैंने स्वयं यह इच्छा प्रकट की थी कि यह सन्देश तुम्हें शीघ्रसे शीघ्र मिले ।" सम्राट् कुमारकी ओर प्यारसे देखते हुए बोले ।

"अनुगृहीत हूँ, देव ।" कुमारने झुकते हुए कहा ।

सम्राट् वसुमित्रकी ओर एक पग बढ़कर बोले, "वसुमित्र, इस नियुक्तिमें कृतज्ञता-ज्ञापनसे कहीं बढ़कर राष्ट्र-सेवाकी आवश्यकता है । कार्य सुकर नहीं । वह है अत्यन्त कठिन । और तुम्हारा यह अनुग्रह-ज्ञापन मेरे प्रति नहीं, गुरुदेव महर्षि पतंजलि और महामात्यके प्रति अधिक उचित होगा । उन्हीं महानुभावोंके अनुरोधसे तुम्हारी नियुक्ति हुई है, कुमार । मैंने तो सारी रात्रि उनके प्रस्तावका विरोध किया है । और तुम जानते हो—क्यों ?"

वसुमित्र चुपचाप सम्राट्के चरणोंकी ओर देखता रहा ।

दक्षिण कर्णके कुण्डलको केशोंसे पृथक् करते हुए मगधराजने फिर

कहा, "देखो वसुमित्र, तुम्हें इस गोप्ता पदपर नियुक्त करनेमें मुझे विशेष आपत्ति थी, संकोच था। उसका कारण राजनीतिक नहीं, पारिवारिक है। तुम जानते हो कि अग्निमित्र विलासी है और सौभाग्यवती धारिणीके तुम एकमात्र धन हो। मैं जानता हूँ जहाँ एक ओर उसे तुम्हारे अधिकारसे गर्व होगा, वहीं इस घोर कर्मसे आकुलता होगी। मेरा दायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है, वसु, उतना ही जितना धारिणी क्लेशित है, उतना ही जितना तुम्हारा पिता विलासी है।"

मगधराज तनिक चुप हो रहे।

पिताकी निन्दा सुनकर वसुमित्रने ठण्डी साँस ली। फिर पितामहसे पूछा, "क्या सेनापतिका मेरे ऊपर अधिकार नहीं है?"

वसुमित्रका प्रश्न सुनकर कठोरहृदय सम्राट्के नेत्रोंमें आँसू भर आये।

सम्राट् बोला, "कितना धन्य होता मैं, वसुमित्र, यदि यही उत्तर तुम्हारे पिताने दिया होता। और तुम उसी पिताके पुत्र हो! मुझे बड़ी व्याकुलता है, कहीं वह अपनी धरोहर तुम्हारी अनुपस्थितिमें माँग न बैठे।"

सम्राट् फिर धीरे-धीरे मन्त्रणागृहमें टहलने लगे। वसुमित्रका हृदय वृद्धकी सहवेदनामें कराह उठा।

सम्राट्ने फिर कहा, "वसुमित्र, बड़े दायित्वका कार्य है। शक्ति और नीति दोनोंका प्रयोग करना होगा।"

वसुमित्र कुछ खिच उठा। बोला, "क्या मेरी शक्ति और साहसमें सेनापतिको सन्देह है?"

"नहीं, वसुमित्र, नहीं। मुझे कायर मत समझो और न यही समझो कि सेनापतिका वार्धक्य वात्सल्यसे दुर्बल हो उठा है। सो बात नहीं है, वसु। कभी-न-कभी मुझे अपना गुरुभार किसी-न-किसी कन्धेपर डालना ही होगा। सुनो, कुमार, मैं तुम्हें दुर्बल नहीं समझता, क्योंकि तुम्हारी ही वयमें मैं सोमशर्मा मौर्यके प्रधान गुल्मका अधिनायक था और उस अष्टादश वर्षकी अवस्थामें ही मैंने भीषण यवनोंसे इसी पाटलिपुत्रमें लोहा लिया

था ।" सम्राट् बोलते-बोलते रुक गये ।

वसुमित्र बलिष्ठ वृद्धके फूलते और संकुचित होते श्वेतश्मश्रुसे आच्छादित नयनोंको देखता रहा ।

सम्राट्ने फिर कहना प्रारम्भ किया—"देखो, वसु, सुनो । अश्वकी रक्षा असाधारण कार्य है, अत्यन्त घोर, अत्यन्त दायित्वपूर्ण । यदि कहीं अश्व न फिरा तो सारा विश्व मुझे प्रतारित करेगा, मुझपर हँसेगा । पहले अश्वमेधके अश्वका स्वयं मैं गोप्ता था । अभीतक सीमाप्रान्तपर यवनोंका प्रभुत्व है और इस अश्वमेधमें पंचनदको पूर्णतया हमें अपने वशमें करना है ।"

वसुमित्रने घुटने टेक दिये—"देव, वसुमित्र प्रतिज्ञा करता है कि विना अश्वके वह आपके चरणोंमें न लौटेगा और........"

वसुमित्रकी बात काट सम्राट्ने उसकी ओर बढ़ते हुए कहा—"बस, बस, वसु, रहने दे । तेरी प्रतिज्ञाकी दोनों ही अवस्थाएँ मुझे अग्राह्य हैं । और अधिक मुझे अधीर न कर ।"

फिर वसुमित्रके दोनों कन्धे पकड़कर हिलाते हुए सम्राट्ने फिर कहा, "अच्छा देख, वसु, तू अब जा । कल तेरी पूजा होगी, तेरे अश्वकी होगी । गुरुदेव करेंगे, मैं करूँगा, महामात्य करेंगे । कल मगध-साम्राज्यका तू सर्वश्रेष्ठ सैनिक बनेगा और एक वर्ष पर्यन्त तुझे विशेष आदर मिलेगा । तू जा, अब सो रह । बस इतना स्मरण रख कि शक्तिके दण्डपर बुद्धिका फलक और उस फलकपर नीतिकी तीक्ष्ण धार करना । जाओ ।"

जब वसुमित्र सम्राट्के आदेशसे अपने प्रासादको लौटा, उसके कन्धे दुख रहे थे । उसने जाना—वृद्धके करोंमें अभी प्रचुर शक्ति है ।

कक्षमें प्रवेश करते ही वसुमित्रने वासुकिको खिले कमलकी भाँति पुलकित पाया । वसुमित्रकी मुद्रा इस समय सेनापतिके मन्त्रसंघातसे गम्भीर हो गयी थी । वासुकिको देखते ही उसने कहा, "वासुकि, अब जाओ, मैं सोऊँगा ।"

परन्तु वासुकिके चले जानेपर वसुमित्र सोया नहीं। वह शुंग-मित्रोंके विशिष्ट देवता सद्यः उदित सूर्यकी ओर घुटने टेक बैठ गया और लगा शक्तिकी याचना करने।

फिर उठकर वह पतंजलिका आशीर्वाद लेने धीरे-धीरे चल पड़ा—उस तपोवनको जहाँ उसने ब्रह्मचर्य, ज्ञान और शीलशौर्यकी शिक्षा पायी थी।

आज पुष्यमित्र राजसूयके अर्थ यज्ञशरणमें बैठा। उसके श्वेत दुकूल शुभ्र शरीरपर अत्यन्त शोभते थे। आज उसके पार्श्वमें वसुमित्र भी अभिषिक्त होकर बैठा। वसुमित्रके उज्ज्वल गातपर रक्त दुकूल फबता था। अस्त्र-शस्त्र मन्त्रपूत कर महर्षि पतंजलिने उसको धारण कराये, फिर उसकी और रक्तवर्ण उत्तुंग अश्वकी पूजा की। महर्षिके पश्चात् यजमान पुष्य-मित्रने 'गोप्ता' और अश्वकी अर्चना की, तत्पश्चात् मगधकी अमात्य-परिषद्ने। अन्तमें ऐतरेय पद्धतिसे पूजा समाप्त हुई और महर्षिके अथर्व-मन्त्रोंके उच्चारणसे वसुमित्रको शक्ति मिली।

चपल तुरग शक्तिपूर्वक माथा ऊँचा उठाये पश्चिमकी ओर चला। शत राजपुत्रों-द्वारा परावृत वर्महर वसुमित्र उसकी रक्षाको बढ़ा। अश्वके दक्षिण पार्श्व और भावी युद्धोंमें हरावलका स्वामी महामात्यका तनय वसुमित्रका अभिन्न हृदय वासुकि था। रणावद्यसे आकाश जब गुंजायमान हो उठा, मगधवाहिनी अश्वके पीछे चली। पाटलिपुत्रकी रमणियोंने अट्टोंसे पुष्प और लाजकी वर्षा की।

मथुराकी मगधसीमासे निकल जब निरर्गल तुरग पंचनद मद्रकी ओर चला, एकके बाद एक राजा दान-उपायनसे दिग्विजयी वसुमित्रकी अभ्यर्थना करने लगे। जिसने अश्वको बाँधनेका दुःसाहस किया, गोप्ताने उसका

बलपूर्वक उच्छेद कर दिया। धीरे-धीरे वसुमित्र-द्वारा विजित राजाओंकी संख्या प्रचुर हो गयी।

पंचनदमें जहाँ-तहाँ यवन बिखरे थे। वसुमित्रके साथ शक्ति-तोलनका साहस तो उन्हें न हुआ परन्तु उन्होंने विजेताकी प्रभुता भी स्वीकार न की। अपने राज्य और प्रदेश छोड़ वे पश्चिमोत्तरकी ओर बढ़े। वसुमित्रने उन्हें ललकारा परन्तु वे पीछे हटते गये। गोप्ताने मद्र ले लिया और वह सिन्धुनदकी ओर वेगसे बढ़ा। गति उसकी अपनी न थी। राज-अश्वकी गतिपर उसकी गति भी निर्भर थी।

सिन्धुनदके दक्षिण तटपर मद्र और पंचालसे भागे यवनोंने डेरा डाला था। अब उन्होंने अश्वमेधयाजीके प्रतिनिधिसे युद्ध ठाना। अश्व सिन्धुनदकी धारमें कूद पड़ा। यवन सेनापतिके पुत्रने उसे बाँध लिया। वासुकिने बढ़कर भल्लका ऐसा हाथ मारा कि दीर्घकाय यवन अपने अश्वके साथ ही सिन्धुका जल पीने लगा। घोर सम्मर्द छिड़ गया। ग्रीस और मगधके बीच भारतीय साम्राज्यके लिए यह अन्तिम संघर्ष था। मगधकी चोट सांघातिक सिद्ध हुई।

पुत्रके अधिकारका संवाद जब धारिणीने सुना गर्वसे उसकी छाती फूल उठी, परन्तु भयसे आकुल हो धीरे-धीरे उसने कहा, "सेनापतिने पुत्रकको अति घोर कर्ममें नियुक्त किया है!"

अग्निमित्रने भी धारिणीके साथ ही पुत्रका यह विशिष्ट गौरव सुना। उसके विलासी जीवनमें भी विप्लव-सा उठ खड़ा हुआ। अन्तपाल वीरसेनको आज्ञा दे उसने विदर्भके मौर्यसचिवको बन्दी कर लिया, फिर शीघ्र विदर्भकी विजय कर उसने उसे करद राज्य घोषित कर दिया। मगधराज्यकी सीमा नर्मदाके दक्षिण वर्धाके तटसे जा लगी। पुष्यमित्र विलासीके इस गौरवसे हँसा।

यवनोंको जीत, वर्ष बाद अश्वके साथ वसुमित्र पाटलिपुत्र लौटा। अनेक विजित राजा उसके अनुचर थे। सारे मगधने स्थान-स्थानपर विजेताको अर्घ्य और लाज प्रदान किया, उसकी आरती उतारी। पाटलिपुत्रके राजपथ वन्दनवारों और मकरतोरणोंसे सज गये। नगरके प्रमुख द्वारपर स्वयं मगधाधिपति, गुरु और अमात्यपरिषद्के साथ, पूर्ण कलशोंके पीछे वसुमित्रके स्वागतके लिए खड़ा था। जब विजेताने सारे उत्तरापथकी विभूति उसके चरणोंमें रखते हुए उसकी वन्दना की, सेनापतिने उसे उठाकर हृदयसे लगा लिया। फिर भरे गद्गद कण्ठसे उसने महर्षिका अभिवादन किया।

पुष्यमित्रने अग्निमित्रको लिखा—"स्वस्ति। यज्ञशरणसे सेनापति पुष्यमित्रका वैदिशस्थ पुत्र अग्निमित्रको स्नेहालिंगन। विदित हो कि राजसूयके निमित्त अभिषिक्त मैंने वर्ष पर्यन्त स्वतन्त्र फिरनेके लिए निरर्गल तुरग छोड़ा और शत राजपुत्रोंसे परिवृत वसुमित्रको उसका गोप्ता नियुक्त किया। यह अश्व सिन्धुनदके दक्षिण तटपर विचरता हुआ यवनों-द्वारा प्रार्थित हुआ। तब दोनों दलोंमें भयंकर सम्मर्द छिड़ा। फिर विक्रान्त धन्वी वसुमित्रने शत्रुओंका पराभव कर शक्तिपूर्वक ले जाते हुए यवनोंसे मेरे वाजिराजको लौटा लिया। अंशुमानकी भाँति पौत्र वसुमित्र-द्वारा लाये गये अश्वसे अब मैं सगरकी भाँति यज्ञ करूँगा। अतः तुम विगतरोष चित्तसे शीघ्र मेरी कुलवधुओंके साथ आकर यज्ञमें भाग लो।

वसुमित्रकी विजयके संवादसे विदिशामें अनेक उत्सव हुए। धारिणी और अन्य रानियोंने प्रसन्नतासे अपने सारे आभूषण दान कर दिये। सेवक और अनुचर पारितोषिकोंसे ऋद्ध हो गये। अग्निमित्रने अपने प्रदेशके बन्दियोंको मुक्त कर दिया। शुक-सारिका तक स्वतन्त्र हो आकाशमें उड़ चले। बन्दी-वैतालिक वसुमित्रका सुयश गा उठे। विदिशाकी परिषद् पाटलिपुत्र पहुँची।

अश्वमेधकी क्रियाओंकी आज पूर्णाहुति थी। पुष्यमित्रका वैभव और तेज आज देखने योग्य था। अनेक विदेशी पराजित राजा उसके चरण धोते, चमर झलते थे और उस यशस्वी सेनापतिके नेत्र एक-एक क्रियाके अन्तमें चमक उठते थे। जब-जब वह बृहत् स्रुवासे अग्निकुण्डमें अर्चित अश्वके कटे भाग डालता धूमावृत लपटें उठ-उठकर उसके चमकते मुख-मण्डलको स्वर्णिम कर देतीं।

ऐतरेयकी क्रियाएँ जब समाप्त हुईं, महाऋत्विज महर्षि पतंजलिके साथ विशिष्ट होताओंके उन्नीस कण्ठ शक्तिदायी अथर्वमन्त्रोंका गान कर उठे। यज्ञके देवता इन्द्र और शचीके कानोंमें उसकी प्रतिध्वनि तप्त घृत-सी पड़ी।

प्रधान ऋत्विजने उपदेश किया—"युगल अश्वमेधयाजी सेनापति पुष्यमित्र, अपने इस एकछत्र साम्राज्यको भोगो। शक्ति और नीतिसे तुमने इसे प्राप्त किया है, बढ़ाया है, प्रेम और त्यागसे इसका पालन करो। लोकतन्त्र दण्डनीति है—देखो, कहीं उसका दुरुपयोग न हो। दण्डको बलपूर्वक ग्रहण करो। साहसीक सत्त्व-जनोंके अन्नाद न हों, दोष-रहित दण्डित न हों इसका विशेष ध्यान रखो। नागरिक-नागरिकमें उचित व्यवहारमें अन्तर न डालो। भक्ति और पूजनके जो विविध मार्ग और उपकरण हैं उनका विरोध न करो। ब्राह्मण और श्रमण, ऋषि और श्वपच तुम्हारी छत्रछायामें भ्रातृभावसे बढ़ें। तुम अनन्त ऐश्वर्य अनन्त त्यागके स्वामी हो। स्वस्तीति!"

मंगलवाद्य बज उठे। विजित राजा अपनी राजधानियोंको लौटे। बन्दी-वैतालिकोंने विजेता अश्वमेधयाजी सेनापतिका यश गाया। बन्दी छूटे, पंजरबद्ध पक्षी सेनापतिके शौर्यका संवाद ले दिगन्तमें उड़ चले। यज्ञके स्मारकस्वरूप प्रस्तरयूप और अश्व यज्ञशरणके द्वारपर खड़े हुए। 'स्वर्ण', 'पुराण' और 'धरण' (सिक्के) अश्वकी आकृतिसे चमके। सेनापतिकी प्रशस्ति गाथा अयोध्याके शिलालेखोंमें खुदी।

२. अस्कन्दरिया : तालेमीकी अश्वारोही मूर्ति—प्रतिमूर्तिके अनुरूप श्मश्रुल, दो सहस्र सुवर्ण।

३. साइरीन : भिक्षापात्रकी देव-अर्चना—तोरणके ऊपर, पाँच शत सुवर्ण।

४. मकदूनिया : अशोक-प्रतिमाएँ—दो—उपासक और श्रमण वेशमें, बैठी, सहस्र सुवर्ण।

५. एपिरस : यक्ष-प्रतिमा—बृहदाकार, सर्वतोभद्रिका, सहस्र सुवर्ण।

"यवन-भारतीय शैली :

१. पार्थव : मिथ्रदात-प्रतिमा—ऊर्ध्वार्द्ध, केश आग्रीव, श्मश्रुल, सोष्णीष, सहस्र सुवर्ण।

२. बह्लीक-यवन : दिवोदात-प्रतिमा—अश्वारोही, कुंचितकेश, पट्ट-बद्ध, दो सहस्र सुवर्ण।

३. कम्बोज : कम्बोजिका—खड़ी, नारी-आकार, त्रिभंगी, तुंगनासा, कुंचितकेशिका, विडालनेत्रा, अधोवस्त्र-भूषिता यवनी, दो सहस्र सुवर्ण।

"भारतीय शैली :

१. सिंहल : बोधिवृक्ष—पाँच शत सुवर्ण।

२. मंजुपत्तन : चारुमती-प्रतिमा—पाँच शत सुवर्ण।

३. ताम्रलिप्ति : संघमित्रा-प्रतिमा—पाँच शत सुवर्ण।"

मानसी पढ़ना समाप्त कर पट्टिका रखने चली। आचार्यने उसे रोकते हुए कहा, "मानसी, मृण्मूर्तियोंका विवरण नहीं पढ़ा।"

मानसीने पढ़ा—

"भारतीय-शैली :

१. गन्धार—दम्पति—दश सुवर्ण।

२. काश्मीर-श्रीनगर—किन्नर दम्पति—पाँच सुवर्ण।

३. सुवर्णभूमि—विकसित पद्म—दो सुवर्ण।

४. उज्जयिनी—वासवदत्ताहरण—दश सुवर्ण।

५. कामरूप—पंचबाण—खड़ी मूर्ति—पाँच सुवर्ण।"

मानसीने पट्टिका रख दी।

आचार्य तक्षक बोला, "सब ठीक है, मानसी। ये तक्षित प्रतिमाएँ प्रस्तुत कर कल मैंने गम्भीरागारमें रखवा दी हैं। आज उनके स्वामी उन्हें आकर ले जायेंगे। विदेशियोंकी प्रतिमाएँ वैदेशिक विभागके प्रतिनिधिके समक्ष दी जायेंगी।"

मानसी बोली, "वैदेशिक विभागसे कल ही एक राजपुरुष पूछने आया था कि प्रतिमाएँ तक्षित प्रस्तुत हैं कि नहीं?"

तक्षकने धीरे-धीरे कहा, "सेनापतिका वैदेशिक विभाग मौर्योंसे कुछ कम सतर्क नहीं है, मानसी। और देखता हूँ उसकी वह शोणितलिप्सा भी अब मिट चली है।"

मानसी कुछ मुसकराती हुई बोली, "आर्य, सो तो ठीक। परन्तु उसकी कठोर नीतिका कारण क्या श्रमणोंका अनाचार न था?"

"था क्यों नहीं। वह तो मैंने तुमसे पहले ही कहा था। मैंने तभी कहा था कि दृप्त स्थविर तथागतके उपदेशोंपर पानी फेर रहा है। परन्तु अब सब ठीक है, मानसी। यह सब महर्षिके उपदेशका फल है। कहीं सद्धर्ममें भी ऐसे ही देवता जन्म लेते।"—आचार्यने पर्यंकसे उठते हुए कहा।

मानसी हँसती हुई चली।

आचार्यने उसे रोका—"भला यह तो बताओ, तुमने मृण्मूर्तियोंको स्वयं देख लिया है?"

प्रसन्नवदन पत्नी बोली, "आर्य, देख ही नहीं लिया है प्रत्युत उनका वर्णस्पर्श भी मैंने ही किया है।"

तक्षकने फिर कहा, "और देखो, मानसी, एक काम करो। कोरी प्रतिमाओं और रंजित मृण्मूर्तियोंपर निर्यात-सम्बन्धी संकेत-चिह्न डाल दो और प्रत्येकपर उसके स्वामीका नाम भी अंकित कर दो।"

मानसी चली।

आचार्यने फिर रोका, "एक बात और, प्रिये, आजसे मुझे महाराज प्रियदर्शीके साँचीवाले स्तूपकी वेदिका और तोरणोंपर काम करना होगा। भारभुक्ति (भारहुत) की स्तूप-पट्टिकाएँ भी उसीके साथ देनी होंगी। समय कुल तीन मास रह गया। आज मैं प्रातः पूजन करूँगा और समाधिके अनन्तर तक्षण आरम्भ होगा। कलाविदोंको संवाद भेज दो। और देखो इसी कारण मैं निर्यातिके समय उपस्थित न रह सकूँगा। वहाँ तुम्हें ही रहना होगा।"

मानसी पट्टिका लिये चली गयी।

उसने दूरसे गम्भीरागारमें आचार्यकी फिर पुकार सुनी—"मानसी! मानसी!"

मानसी हँसती हुई शयनकक्षमें पहुँची। उसने उलाहना दिया—"आर्य, इस अनुशासनसे कुछ कर भी सकूँगी? ऐसी जल्दी क्या पड़ी रहती है? पूरे पच्चीस वर्ष बीत गये, अब तो कुछ संयमसे काम लो। और यदि मानसीके लिए ऐसी उतावली है तो वह तुम्हारी कलाकी पराकाष्ठा अद्भुत कोरी जो 'मानसी' शृंगार-फलकपर रखी है उसीसे क्यों नहीं तृप्ति करते?"

मानसी उलटे पाँवों फिर गयी, हँसती, किलकती। प्रौढ़ तक्षककी पुकार—"मानसी! मानसी!" मानो उसने न सुनी।

आचार्य उठा, मुसकराता हुआ। उसने धीरे-धीरे शृंगार-फलककी मानसीपर हाथ फेरते हुए कहा, "मानसी, यदि तुम्हारी वही चपलता, वाक्चातुरी, तरल विलासिता इस प्रतिकृतिमें होती!"

वह जा पहुँचा गम्भीरागारमें। सस्मितवदना मानसी आते ही कार्यमें व्यस्त हो गयी थी। पगध्वनि सुनते ही वह उठ खड़ी हुई।

आचार्यने हँसते हुए धीरे-धीरे प्रवेश किया। कहा, "मानसी, मेरे स्वागतमें खड़ी है न?"

"मैं कहती हूँ, वृद्धका विलास संयमसे परे जा रहा है।" मानसीने भृकुटिभंग कर हँसी रोके आचार्यको सावधान किया।

"तुम कहती हो, सही। पर वृद्ध तो ऐसा नहीं कहता, सखि ?" आचार्यने बढ़कर मानसीको अंकमें भर लिया, फिर उसके केशोंको चूमकर बोला। उसकी मुद्रामें वात्सल्य था, विलास नहीं।

मानसी आचार्यसे धीरे-धीरे विलग होती बोली—"वास्तवमें, आर्य, जब आप वेदिकास्तम्भोंके तक्षणमें, यक्षी-प्रतिमाओंके कोरनेमें तीन मास पर्यन्त समाधिस्थ हो बैठेंगे, आपकी समाधिमें शैथिल्य न होगा ?"

"नहीं, मानसी, उसमें शैथिल्य न होगा। शिथिलसमाधि वे कलाकार होते हैं जिनके ध्यानमें अगोचर मूर्तिकी रूपरेखा होती है। मैं तो अपनी समाधिमें मानसीका आदर्श देखता हूँ। तुम देखोगी—जब मैं वेदिका-स्तम्भोंकी यक्षियोंको कलासे अनुप्राणित करूँगा, एक-एकमें मेरी मानसी सजीव हो बैठेगी।" आचार्यने मानसीको फिर चूम लिया।

मानसी भागकर कम्बोजिकाके पीछे जा खड़ी हुई।

दिवसके आरम्भमें वैदिशिक विभागसे विदेशी अतिथियोंके साथ राजपुरुषने पाटलिपुत्रके अद्भुत कलावान् तक्षक बुद्धभद्रके विशाल प्रासाद-के विस्तृत चतुष्कमें प्रवेश किया। मानसी उनके स्वागतके अर्थ खड़ी थी।

मानसीने राजपुरुष और अन्य अतिथियोंसे निवेदन किया—साँची और भारभुक्तिके स्तूपोंके वेदिकातक्षणमें संलग्न आचार्य आपके परिचयका प्रासाद-लाभ न कर सकेंगे, इसका उन्हें बड़ा खेद है। ये प्रतिमाएँ आपके आदेशानुसार प्रस्तुत हैं।

फिर पट्टिकाका एक-एक विवरण पढ़कर वह एक-एक ग्राहकको उसका कला-धन देने लगी। राजपुरुष साम्राज्यपुस्तकमें मूल्यका अंकन कर क्रेता-विक्रेता दोनोंके हस्ताक्षर ले लेता।

मृण्यमूर्तियोंकी अद्भुत छवि विदेशियोंको देर तक रोके रही। हृदयमें

उन्होंने इनकी यवन कलाकृतियोंसे तुलना की, फिर सकुच गये। 'पंच-बाण' और 'वासवदत्ताहरण'में अद्भुत सजीवता थी। ये मानसीके राज्यकी अनोखी विभूतियाँ थीं, मानसीकी सिरजी। 'पंचबाण' और 'वासवत्ता-हरण' मथुरा और कौशाम्बीके अद्भुत कलाकारोंके गौरव थे जिनकी प्रतिकृति मानसीने मूलसे की थी। 'पंचबाण'में मदन विकसित फूलोंके पाँच बाण लिये, सुन्दर धोती और अनेक आभूषण पहने खड़ा था। उसके धनुषमें भ्रमरोंकी ज्या थी। ठीकरेपर पार्श्व, ऊर्ध्व और अधोभूमिमें विक-सित पुष्प बिखरे थे। 'वासवदत्ताहरण' भी कलाका अद्भुत आदर्श था। विलासी उदयन प्रेयसी वासवदत्ताको आगे किये हाथमें वीणा लिये चण्ड प्रद्योत महासेनकी राजधानी उज्जयिनीसे भागा जा रहा था। भागते गजके पृष्ठभागसे आक्रमणकारी अवन्ति सैनिकोंको दूर करनेके लिए सुवर्णवर्षा की जा रही थी। भागता गज विदेशी दर्शकोंके पगोंमें स्फूर्ति भरने लगा।

राजपुरुष तक्षकके इस कला-साम्राज्यके अद्भुत विस्तारपर चकित रह गया।

तीन मास बाद।

नगरके कोने-कोनेमें संवाद फैल गया कि साँचीके अशोकस्तूपकी वेदिका तक्षक आचार्यने प्रस्तुत कर दी। प्रदर्शनके अर्थ जब वेदिका अपने स्तम्भोंके साथ बुद्धभद्रके विस्तृत चतुष्कमें रखी गयी तब देश-विदेश सर्वत्र-से दर्शक और कलाविद् आ-आकर पाटलिपुत्रमें भर गये। मिस्र, यूनान, मकदूनिया, एपिरस, साइरीन और सीरियासे, ईरान-शकस्थानसे, बाह्लीक-तुखारसे, गन्धार-कम्बोजसे, सुवर्णभूमि-सिंहलसे, कलिंग-अन्ध्रसे, मथुरा-कौशाम्बीसे राजकीय कलाविदोंने आ-आकर बुद्धभद्र-द्वारा प्रस्तुत वेदिका देखी और उसकी एक-एक रेखाकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की। यक्षी-मूर्तियों-की सजीवताने किसके हृदयमें घर न कर लिया?

विशाल तोरणोंके कटे जंगलोंपर विस्तृत जुलूस उत्कीर्ण था। देवोंका, गन्धर्वोंका, मानवोंका, गजोंका। सुन्दर कलँगियोंवाले उष्णीषोंका अद्भुत तारतम्य लोगोंका मन हरने लगा। पट्टिकाओंपर खुदी गतिशील आकृतियों-की गति कुछ ऐसी सजीव थी कि दर्शकोंके पग उठने-से लगे। देश-विदेशके दर्शक साधारण जन और प्रतिभापूर्ण कलाविद् शिल्प-वस्तुकी इस चमत्कृत शक्तिपर दाँतों उँगली काटने लगे।

भीड़में दीवारसे लगा एक वृद्ध अपनी मुखाकृति कुछ छिपाये-सा खड़ा था। वह लोगोंकी दृष्टि बचा रहा था, परन्तु भले प्रकार देखनेवाला इस बातको बलपूर्वक कह सकता था कि वह कोई असामान्य व्यक्ति था जिसे कलाकी इन सुन्दर वेदिकाओंको देख गर्व होता था और विदेशियोंके प्रत्येक साधुवादसे जिसके नेत्र चमक उठते थे।

तोरणोंकी छवि निराली थी, विस्मयकारक। पश्चिमी और दक्षिणी तोरणोंपर युद्धके दृश्य उत्कीर्ण थे, सजीव, मनोहर। युद्ध अशोकका कालिंगोंके प्रति था। पश्चिमी तोरणवाला दृश्य आक्रमणका था। गज, रथ और पदाति सेनाने सबल आक्रमण किया था। एक-एक व्यक्ति, एक-एक सैनिक युद्धमें व्यस्त था। सूँड़ लपेटे, दीर्घ दाँतोंको उठाये गज अद्भुत धावा करते थे और युगलाश्व संयुत रथ आगे बढ़े जा रहे थे। सैनिकोंके वेगसे उष्णीषोंके नीचे लटकते केशोंके भीतरसे उनके कुण्डल मानो रह-रहकर हिल उठते थे।

वही सेना दक्षिणी तोरणपर दुर्गारोहण कर रही थी। पदाति सेना पीछे हट गयी थी और हरावलके गज और पार्श्वके रथ प्रबल वेगसे प्राचीरोंपर टूट रहे थे। सुन्दर मूर्तियोंसे सजे दुर्गके ऊँचे सुपुष्ट प्राचीरोंपर स्थान-स्थानपर सैनिक प्रहरी खड़े थे। अशोक स्वयं यदि इन दृश्योंको देखता, कदाचित् वह अपने बौद्ध चीवर वेगसे उतार फेंकता।

दीवारसे लगे खड़े उस असाधारण वृद्धके चरण-युगल कुछ गतिशील हो चले। वह उनमें एक विचित्र स्फूर्तिका अनुभव करने लगा।

पूर्वी तोरणपर स्वयं अशोक मूर्त था। उसका विशाल गज बैठा था और वह स्वयं उससे अभी-अभी उतरकर खड़ा हुआ था। उसके दोनों ओर चँवरधारिणी यवनियाँ थीं और आगे उसके वस्त्रको उठाता-सा एक बालक खड़ा था। समीप ही उसकी रानी सुन्दरी तिष्यरक्षिता अपने सस्मित वदनसे दर्शकोंको रोमांचित करती खड़ी थी। पीछे अनेक सम्भ्रान्त श्रीमान् और सभासद्, अनेक अनुचर खड़े थे। स्वयं अशोककी देवमुद्रा थी। वलयशोभित दक्षिण कर बालकके मस्तकसे लगा था। और त्रिभंगी मुद्राके कटिभागपर वाम कर टिका था। उत्तरीय गलेसे लटकता नाभिको छूता था और कुण्डलोंसे भूषित कर्णोंके ऊपर सुन्दर उष्णीष पत्रकलँगीसे फबता था। विदेशी इस सौन्दर्यको देख चमत्कृत हो उठे, देशी गर्वसे तन गये। दीवारसे लगे व्यक्तिकी बाछें खिल गयीं।

फिर वेदिकाके एक भागमें मनोहारी उपवनविनोदका दृश्य उत्कीर्ण था। ऊपर-नीचे दो दाबें थीं। ऊपरकी वेदिका-भूषित दाबको नीचेकी दाबसे एक सुन्दर सोपानमार्ग जोड़ता था। दोनों दाबोंके उत्कीर्ण दृश्योंमें उलटे शतदलछत्रके नीचे पार्श्वके कदलीस्तम्भोंके बीच दम्पति पर्यंकपर बैठे भरे चषकोंसे कादम्बरी सेवन कर रहे थे। दोनोंमें एक-एक और दम्पति अनेक उपकरणोंसे अपनेको प्रसन्न कर रहे थे। इनकी यह अद्भुत क्रीड़ा देख सेवक पार्श्वचर—नर और नारी—चकित हो परस्पर कुछ सुनते थे। नीचे कमलोंसे भरी दीर्घिकाका जल चमक रहा था।

भारहुतवाले स्तूपके अर्थ प्रस्तुत पट्टिकाओंके दृश्य भी अत्यन्त आकर्षक थे। देवसभा 'सुधर्मा' का आकर्षण तो अत्यधिक था। सबसे ऊपर अन्तरालके अर्धविकसित कमलोंके बीच चतुष्क पट्टिकाएँ एकके ऊपर एक रखी थीं, नीचे दोनों ओरके सुन्दर कटे स्तम्भोंके बीच कई दृश्य उत्कीर्ण थे। चैत्यमें रखे तथागतके उष्णीषकी अर्चना हो रही थी। प्रत्येक द्वारसे देवता निकल रहे थे। नीचे गन्धर्व और अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। एक दूसरे दृश्यमें जेतवनका क्रय करनेके लिए श्रेष्ठिराज सुदत्त भूमिको सुवर्णोंसे

पाट रहा था। और अन्तमें वेदिकाके एक भागपर उस निगमसभाके प्रमुख श्रेष्ठि सुदत्तका मस्तक उत्कीर्ण था। यह शुंग-कलाका वास्तवमें मूर्धाभिषिक्त रत्न था। पूर्ण विकसित शतदल कमलका आश्चर्यजनक मण्डल, और उसमें दक्षिण करसे दक्षिण कर्णकुण्डलका कलित स्पर्श। वक्षपर चौड़े हार और ग्रीवामें चित्रित ग्रैवेयक। और उस अपूर्व द्युतिमान प्रशान्त सस्मित मुखमण्डलपर वह उलटे केशोंपर शोभायमान शुंग उष्णीष। दक्षिण ओरकी वृत्ताकार चूड़ाके नीचेसे निकली फेटेके अनेक लड़ियाँ अनेक पट्टोंसे दबी पीछेकी चौड़ी खूँटमें खो गयी थीं।

दर्शक देखते रह गये।

दीवारसे सटा व्यक्ति, प्रसन्न, उत्फुल्ल, अपने स्थानसे हट धीरे-धीरे एक ओरको चला। उससे कुछ दूरीपर जाते हुए राजपुरुषने धीरे स्वरमें सुना—"सेनापति, तुम्हारी नगरी धन्य है जहाँ वुद्धभद्र और मानसी-से कलाकार शिल्प और वस्तुकी अक्षय कृतियाँ कोरते हैं। और, वुद्धभद्र, तेरा साम्राज्य तो सेनापतिके साम्राज्यसे कहीं विस्तृत है।"

दोनों धीरे-धीरे पाटलिपुत्रके विशाल राजप्रासादमें प्रविष्ट हुए।

मौर्य सम्राट् पुष्यमित्र शुंगके दण्डधरने जिस समय आकर वुद्धभद्रसे उसका प्रसाद कहा, कलाकारने जैसे कुछ सुना ही नहीं। उसकी गम्भीर मुद्रामें कुछ अन्तर न पड़ा।

दण्डधरने फिर कहा—"आचार्य, देवकी अभिलाषा है कि आप सम्राट्के सभाभवनके सभ्य हों, साम्राज्यकी सभामें नित्य बैठें।"

इस सम्मानने तक्षकको आकर्षित न किया। वह हँसता हुआ बोला, "मैं संसारका नागरिक हूँ, दण्डधर, साम्राज्यका नहीं। मुझे उस ऐश्वर्यसे क्या काम ?"

दण्डधरको आश्चर्य हुआ—जिसके प्रसादलाभके अर्थ अनन्त श्रीमान् अहोरात्र प्रयत्न करते हैं उसकी विभूतिको भी तुच्छ समझनेवाले मनुष्य इस वसुन्धरापर हैं। दण्डधर चुपचाप चला गया।

विजयादशमीके दिन साम्राज्यका महोत्सव था। पाटलिपुत्र नायिका-सी सजी थी। राजप्रासादका वैभव साम्राज्यके ऐश्वर्यसे दमक रहा था। इसी अवसरपर पुष्यमित्रने बुद्धभद्रकी साम्राज्यके प्रथम नागरिकके रूपमें प्रतिष्ठा करना चाही। उसकी पूजाके निमित्त बड़ी तैयारी की गयी। परन्तु जब उसे लानेके लिए दण्डधर भेजा गया, कलाकारने वही पूर्ववत् उत्तर दिया।

पुष्यमित्र राजप्रासादसे निकल पड़ा, मन्त्रि-परिषद्, अनुचर पीछे छोड़, जा पहुँचा सेनापति बुद्धभद्रके द्वार। सेनापतिको आया जान तक्षक मानसी-के साथ बाहर दौड़ा आया। उसने अतिथिका आदर किया, उसे मधुपर्क दिया।

अतिथिने पूछा, "आर्य, मेरे ऊपर इतनी अकृपा क्यों ?"

बुद्धभद्रने उत्तरमें कहा, "देव, ऐश्वर्यवान् सम्राट् और दरिद्र कला-कारका कैसा सख्य ?"

पुष्यमित्र बोला, "आचार्य, वास्तविक सम्राट् तो तुम हो। तुम्हारा साम्राज्य सेनापतिके साम्राज्यसे कहीं विस्तृत है—यह मैंने उस दिन देखा जिस दिन साँची-भारभुक्तिकी वेदिकाओंका प्रदर्शन था। पुष्यमित्र तो उस अनन्त साम्राज्यका क्षुद्र नागरिक-मात्र है। क्या उसके द्वारको तुम पवित्र न करोगे, आचार्य ?"

तक्षक विजित हो गया। सेनापतिके पीछे वह राजप्रासादको चल पड़ा।

२२ अक्तूबर १९४०
प्रातः ७–१०



राज्यलिप्सा

[कहानी अधिकतर ऐतिहासिक है। युक्रेतिदके विप्लव उसके तक्ष-शिला-दुर्गकी विजय और उसके पुत्र अपोलोदत्त-द्वारा उसके वधकी बातें ऐतिहासिक हैं। उनका उल्लेख जुस्तिनने किया है। दिमित (दिमित्रियस) बह्लीक (बाख्त्री) का राजा था और उसकी भारतीय चढ़ाइयोंके कारण उसे 'भारतीयोंका राजा' भी कहते थे। हेलियो-कलने अपने भाई अपोलोदत्तको मारकर अपने पिताकी गद्दी छीन ली, यह भी इतिहासपरक है परन्तु यह बात स्पष्ट नहीं कि यह कार्य उसने अपनी राज्यलिप्सासे अथवा पिताके वधके प्रतिशोधके अर्थ किया था। अपोलोदत्तके बहुतेरे सिक्कोंपर फिरसे युक्रेतिदकी प्रतिमूर्ति छपी है। सम्भव है, हेलियोकलने अपने पिताका बदला लेकर अपोलोदत्तके सिक्कोंपर पिताकी प्रतिमूर्ति छापी हो। उसके प्रतिशोधमें राज्यलिप्सा छिपी थी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। पर जब उसने पिताके नामपर भाईकी हत्या की तो उसके प्रमाणमें कुछ करना भी आवश्यक था। युक्रेतिदके अनुयायियोंको उसने इस प्रकार भाईके सिक्कोंपर पिताकी प्रतिमूर्ति छापकर अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इस कार्यसे उसको अपने राज्य-की नींव दृढ़ करनेमें बड़ी सहायता मिली होगी। किन्तु उसका शासन भी देर तक सुरक्षित न रह सका और हूणों-द्वारा भगाये ऋषिकोंसे भागे शकोंने हेलियोकलके समयमें ग्रीक-यवनोंके बाख्त्री राज्यका विध्वंस कर दिया। समय : २०० – १३० ई० पू०।]

भारतीय पश्चिमोत्तर प्रदेशका एक विशिष्ट भाग जीतकर जब युथिदेमोका पुत्र दिमित बह्लीक लौटा तब उसकी विजयके उपलक्ष्यमें एक विशाल

'ओलम्पिक' का आयोजन किया गया। वक्षुके तीरपर ऊँचे सपाट मैदानमें यूनानी यवनोंकी पंक्तियाँ बैठ गयीं। एकसे एक सबल युवक शक्तिपरिचायक अंगोंको हिलाते खेलके मैदानमें उमड़ रहे थे। यूनानके इस उपनिवेशमें कितने ही नवसैनिक स्वदेश छोड़ आ बसे थे। उन्हें एथेन्सकी धुँधली स्मृति पुनः स्पष्ट हो आयी।

खेलकी चहल-पहलसे युवकों और प्रौढ़ोंमें एक नवजीवनका उदय हुआ था, एक नवीन स्फूर्ति भर चली थी। यवनराज दिमित स्वयं इस खेलमें भाग ले रहा था और कितने ही कमनीय युवा उस शक्ति-परिचयमें योग दे रहे थे। ग्रीक नवेलियोंका वह पैंतीसवर्षीय सलोना, अनुपम और अप्रतिम युक्रेतिद जवानोंकी आँखकी किरकिरी था, युवतियोंके हृदयका दाह। हरिणके पगोंकी भाँति तीव्रगामी उसके चरण कभी थकते ही न थे, सिंहकी नाईं उसके पुष्ट चौड़े कन्धे विपक्षियोंके हृदयमें भयका संचार करते।

युक्रेतिदके दोनों बेटे अपोलोदत्त और हेलिओकल वयमें केवल एक वर्ष बड़े-छोटे थे। अपोलोदत्त सत्रह वर्षका और हेलिओकल सोलह वर्षका था। दोनोंकी शक्ति और कमनीयतापर पिताकी छाप पड़ी थी। अपोलोदत्त और हेलिओकल भी हँसते-कूदते मैदानमें उतरे। उनके साथ अनेक आये—मित्र और शत्रु, नवयुवक और प्रौढ़—सेलिउकका पुत्र गोनेतस, अन्तिओकका पुत्र फ्रेतर, क्रेतसका तनय कोमा, स्नाताका पुत्र पेतर, एकसे एक दुर्द्धर्ष, एकसे एक सबल।

ओलिम्पकके निर्णायक थे तीन वृद्ध—अग्रिमका तनय क्रेता, प्लेतोका पुत्र कोरस और प्रेतसका पुत्र कोनिस। तीनों अपने-अपने समयमें अनेक ओलम्पिकोंके विजेता थे, अनेक दलोंके नेता।

और उस विशाल ओलम्पिकका महान् आकर्षण, दृष्टि-केन्द्र थी दिमितकी सलोनी नवयुवती रानी एथेनी। आजके खेलोंको पुरस्कारदात्री, विजयका मधुपात्र अपने अधरसे सुवासित करनेवाली सुन्दरी नायिका वही

एथेनी थी। एथेनी अनन्त यौवनकी साध लिये अमित प्रभापुंजसे आलोकित नक्षत्र-सी बह्लीकके गगनमें उठी थी। जब दिमितने सीरियाके सम्राट्से लोहा लिया था तब उसकी चंचला कन्या एथेनीने दिमित-शक्तिपर मुग्ध हो उसका पतिरूपमें वरण किया था। वह सलिउककी प्रपौत्री थी।

एथेनी बह्लीक आयी, यौवनका भार लिये, विलासका उन्माद लिये। पर उसका संसार और था, दिमितका और। दिमित विलाससेवी न था पर एथेनी थी व्यसन-क्रीडाओंकी अल्हड़ उन्मादिनी। दिमितके प्रबल भुजदण्डोंने एथेनीको तक्षशिलाके दुर्ग-प्राचीरोंपर आकृष्ट किया था, परन्तु उसकी वह तृष्णा दाम्पत्य-कालके प्रारम्भिक दिनोंमें ही मिट गयी। उसे अब दिमितको शक्तिशाली भुजाओंका बल आकर्षित न करता। उसे अब वांछित था ऐसा नर जो उसके धीरे-धीरे उठते करोंको घुटने टेक धीरे-हो-धीरे सहलाता, फिर धीरे-धीरे उसकी मुँदती आँखोंपर अपनी आखें रख आलससंयुत द्विधा भिन्ना वाणीसे अपनी कथा कहता—वह मादक कथा जिसके मदसे वह एकाकी विलासिनी उन्मत्त हो उठती। एथेनीको चाहिए था वह मदिरासक्त जन जो उसकी नवतृप्त साधोंको नव प्रयाससे पुनरुज्जीवित करता, उसके अनन्त क्रमित मानोंका एक-एक कर शमन करता। दिमितका सिंहविक्रम उसके उठते कमनीय भावोंको झकझोर देता, मत्त मतंगकी भाँति वन्य कोंपलोंको, पद्ममुकुलोंको, कुचल देता था। उसके मानोंका अनुराग-भरा उत्तर दिमितके पास न था। फिर एथेनीका उठता हुआ सौरभ और दिमितका गिरता हुआ पौरुष—दोनोंमें प्रचुर वैषम्य था। और जैसे-जैसे वह यवन-विजेता अपने युद्धोंके अर्थ गृहसे दूर भारतके भीतरकी ओर अग्रसर होता वैसे-ही-वैसे वह एथेनीके हृदय-देशसे दूर होता जाता।

विलासप्रिय उस एथेनीके हृदयाकाशमें अनेक नक्षत्रोंके बीच धीरे-धीरे एक अद्भुत सुघड़ रश्मिपुंज उदय हो रहा था—वह था उस सलोने युक्रेतिदका

मादक रूप। युक्रेतिदका मानस विलासिनियोंके हृदयमें उन्माद भरता था। परन्तु वह रूपका ऋद्ध नायक कभी उस विलासमें न खोता, कभी उसकी कामना उसकी मतिके विपरीत न जाती। उसकी एक दूरकी अभिलाषा थी जिसकी बेलि वह बड़े मनोयोगसे सींचता। उस बेलिकी जड़ें थीं महत्त्वाकांक्षाएँ, उसका प्रतान था कमनीय विलास और पुष्प थे शक्ति-लिप्साजनित नवराष्ट्र, फल नवोदित साम्राज्य।

युक्रेतिदने एथेनीके सालस नयन देखे थे, उसने उनमें उसके हृदयकी भाषा पढ़ी थी। उसकी बुद्धि विहँसी। उसने विचारा—एथेनीका विलास उसकी महत्त्वाकांक्षाका सोपानमार्ग होगा। वह सुविधाकी प्रतीक्षामें बैठा। सुविधाएँ आने लगीं, एकके बाद एक। दिमितकी विजयोंका ताँता कुछ ऐसा सुखप्रद हुआ जिससे तीनों प्राणी प्रसन्न हो उठे—दिमित अपनी विजयोंसे, एथेनी अपने विलासकी परितृप्तिसे और युक्रेतिद अपनी शक्ति-लिप्साके नित्यप्रति सरकते सामीप्यसे।

परन्तु जैसा युक्रेतिद चाहता था वैसा आचरण एथेनी न करती। वह अपना सर्वस्व युक्रेतिदको अर्पण कर देनेको तत्पर थी, परन्तु एक याचना, केवल एक भिक्षा उसकी थी जो वह उस मतिमान् प्रणयीके चरणोंमें लोट-लोट माँगती—"देख, तू मुझे उस घृणित पापका दोषी न बना।" अपने ही व्यंग्यसे व्याकुल हो फिर वह व्याख्या करती—"प्रणयकी वंचकता और है, युक्रेतिद, और प्रणयीके जीवनके प्रति वंचकता और—अत्यन्त घृणित।" परन्तु वह नीतिका अद्‌भुत विज्ञाता युक्रेतिद यहीं अड़ जाता। कहता—"वंचकताकी परिभाषा नहीं, एथेनी। वह सर्वदा एक-सी है। वंचकता मानवविवेकका एक अनित्य भावविशेष है परन्तु जैसे मानवताके मानदण्डोंकी नियत मर्यादा सम्भव नहीं वैसे ही वंचकताका कोई अर्थ नहीं, कोई रूप नहीं।" फिर वह प्रणय और विवेकके संघर्ष-समुद्रमें डूबती-उतराती एथेनीको छोड़ चल देता।

आज उसने एथेनीपर प्रणयकी अमित मादकता डालनेकी सोची।

उसने विचारा—यदि इस ओलम्पिकमें सारे युवा प्रौढ़ोंके बीचसे विजयका मधुपात्र वह छीन ले जाये तो एथेनीके उल्लासका वह एकमात्र केन्द्र बनेगा और असम्भव नहीं कि वह विलासिनी प्रणयकी लहरोंमें विवेकको बहा दे। फिर ? फिर, वह बह्लीकके साथ-साथ उस भारतीय महादेशका अधिकारी होगा जो विश्व-विजेता अलिकसुन्दर और सेलिउकके हृदयोंमें एक गाँठ-सा बनकर रह गया था।

प्राथमिक यौवनका शौर्य आज फिर एक बार युक्रेतिदके अन्तरमें लहरें लेने लगा और जब स्वयं दिमित ओलम्पिकमें भाग लेनेके लिए मैदानमें उतरा तब युक्रेतिदने उसे मन-ही-मन ललकारा—"आओ, दिमित, आज तुम्हारी रानी एथेनीकी भाँति ही तुम्हारा राज्य भी जीत लूँ।"

ओलम्पिकमें एक-से-एक खिलाड़ी आये परन्तु विजय युक्रेतिदके हाथ रही। रथ-धावन, अश्व-धावन, क्षिप्रधावन, वृत्त-क्षेप, लौहकन्दुक-क्षेप, लक्ष्य-वेध, मल्ल-युद्ध प्रत्येकमें युक्रेतिद विजयी हुआ। उसके प्रति दिये गये साधुवादसे आकाश गूँज उठा। स्वयं दिमितका निर्घोष उस साधुवादमें कई बार सुन पड़ा। दिमित युक्रेतिदका बड़ा सम्मान करता था। अश्वारोही सेनाके सेनापति-जैसे विशिष्ट पदपर उसने उसे बैठा रखा था और अब राज्यकी सारी गृहनीति भी युक्रेतिदकी सम्मतिसे ही चलती थी। युक्रेतिदको विजयोंका सबसे बड़ा अभिमानी दिमित था परन्तु उसकी विजयोंका सबसे बड़ा डाही उसका प्यारा मन्त्री युक्रेतिद ही था।

युक्रेतिद जिस समय लोगोंके साधुवाद सुना प्रसन्न हो रहा था, उस समय बह्लीककी यवन-कुमारिकाएँ और अन्य सुन्दरियाँ उसके लिए अनेक कामनाएँ कर रही थीं। उनके हृदयोंमें अन्तर्युद्ध छिड़ा था। स्वयं एथेनी उस अन्तर्युद्धसे न बची थी। इस अप्रतिरथ, ओलम्पिक विजयीको पुकार-पुकारकर सर्वथा अपना कहनेको उसका हृदय कातर हो उठा। आज उसका रोम-रोम, अन्तर-बाहर सब युक्रेतिदका था। आज दिमितके

साम्राज्यकी कोई विभूति ऐसी न थी जिसे वह युक्रेतिदको सौंपकर अपनेको धन्य न मानती।

जब युक्रेतिद विजय-गर्वसे फूला, सिंहकी गतिसे धीरे-धीरे विजयश्री लेने एथेनीकी ओर चला, उसके खुले शरीरकी शिराएँ रज्जुओं-सी तनी हुई थीं। उसके अंग-प्रत्यंग फूल रहे थे और वह अपनी वंचक मुसकानको मोहन अस्त्र बनाये मन्थर गतिसे युवतियोंकी साधें कुचलता एथेनीकी ओर बढ़ रहा था। स्वयं एथेनीके प्रसन्न हृदयमें एक भय-सा धीरे-धीरे उठ रहा था—कहीं इन अनेक कमनीय रमणियोंके ऊपर उस अतृप्त रसिकका मन न रम जाये। एथेनीका भय युक्रेतिदके पक्षमें पड़ा।

युक्रेतिदने समीप आकर प्रेयसीपर एक सार्थक दृष्टि डाली। प्रेयसी आनन्दसे विभोर हो उठी। उसने जाना, उसका प्रणयी सर्वथा उसका है और यदि वह अपनी विजयके सबल क्षणोंमें उसके प्रेमका आदर करता है, उन मदनमथित कामिनियोंकी ओर दृष्टिपात तक नहीं करता, तो अवश्य वह भी उसकी किसी अभिलाषाको अपूर्ण न रखेगी।

युक्रेतिक इस मानसिक युद्धमें भी सर्वथा सफल हुआ। उसकी हँसती आँखोंने एथेनीके हृदयकी थाह पा ली।

साधुवादके शब्दघोषोंसे व्याप्त गगनके नीचे युक्रेतिदने एथेनीके अधरों-द्वारा सुवासित मधुपात्र ले लिया और पास खड़ा देर तक वह उस चषकके अथाह मधुको पीता रहा। एथेंनीके नेत्र उसका वह भावमय मधुपान देख नाच उठे, भर आये।

घर जाते युक्रेतिदसे जब एथेनीकी परिचारिकाने अपनी स्वामिनीके संकेतस्थानकी बात कही वह अपनी विजयपर हँसा। अपनी महत्त्वा-कांक्षाओंकी ओर वह एक पग और ऊपर सरका।

दिमित सुग्धकी सीमापर गया हुआ था, राजधानीकी रक्षाका भार अपने विश्वासी मित्र और आभारी सेवक युक्रेतिदके ऊपर छोड़कर। ठीक

तभी जब वह आडम्बररहित यवन विजेता सुग्धको जीत युक्रेतिदको उसका एकमात्र शासक बनानेका कार्यक्रम निश्चित कर रहा था, युक्रेतिद अक्षोटोंकी घनी छायामें एथेनीका सर्वस्व हर रहा था, दिमितके हृदयमें हाथ डाल उसका कौस्तुभ चुरा रहा था।

आज एथेनीने युक्रेतिदके सभी प्रस्ताव स्वीकृत कर लिये, वह भयावह प्रस्ताव भी जिसका सदा उसने विरोध किया था।

प्रणयिनीको बार-बार चूमता युक्रेतिद अक्षोटोंकी छायासे निकला और घर पहुँचते ही उसने अपोलोदत्तकी सहायतासे बलिदेवीपर दो अज चढ़ाये।

दिमित फिर चला भारतीय प्रदेशोंकी विजयको, तक्षशिलाके पूर्व, प्राचीकी ओर। उसका अभिन्नहृदय युक्रेतिद उसकी अनुपस्थितिमें उसके अनुरोधसे बह्लीक देशका शासक बना।

जब दिमितकी विश्वासी सेनाकी गम्भीर पदध्वनि अस्पष्ट हो चली, युक्रेतिदका प्रच्छन्न कौशल धीरे-धीरे अपने कार्यमें दत्तचित्त हुआ और एथेनीने भी उस वंचक नीतिको अपनाया। परन्तु ज्यों-ज्यों उसका नशा उतरने लगा त्यों-त्यों अपने कार्यका अनौचित्य उसे खलने लगा। उसका कातर हृदय करुण चीत्कार कर उठा।

पहली बार जब दिमित भारतके उत्तरी प्रदेशोंकी विजय कर लौटा था उसके साथ कुछ विजित यवन शासक भी आये थे। विस्तृत राज्य-रूपी भवनमें उसने इनको स्तम्भोंके रूपमें खड़ा करना चाहा। इस अर्थ उसने उन्हें कुछ उच्च पद दिये। कुछ बह्लीक सेनापतियोंने इस नीतिका विरोध भी किया था। इन विरोधियोंमें युक्रेतिद भी था। दिमितकी उपस्थितिमें उसका षड्यन्त्र पनप न सका था। परन्तु अब उसने इस विरोधी नीतिको

आड़में ही अपना लक्ष्य साधना उचित समझा। उसके इस कार्यमें अपोलोदत्त प्रमुख सहायक था और उसके सारे आज्ञापत्रोंपर एथेनीके हस्ताक्षर होने लगे। युक्रेतिदका कार्य और भी सरल हो गया।

धीरे-धीरे विप्लवकी आग वह्लीक नगरोंमें जल उठी। विदेशियोंके विरोधमें देश-भरमें नारे उठने लगे। युक्रेतिदने देशके प्रमुख शासकके नाते इन नये पदाधिकारियोंको पदच्युत कर दिया। उसके इस विधानपर भी एथेनीके हस्ताक्षर थे। पहले उसके सधे चर इस नीतिका बखान कर उठे, फिर राज्यके उदारचित्त अन्य पदाधिकारियोंने भी उस नीतिकी सराहना की। युक्रेतिदको रक्षक और परिपालक कहकर सारा देश उसका जयकार कर उठा। जिस मात्रामें उसकी लोकप्रियता बढ़ी उसी मात्रामें दिमितकी घट चली। बड़े वेगसे। उसके द्वारा नियुक्त विदेशी और उनके अन्य पार्श्वचरोंमें-से कुछ तो मार डाले गये, कुछ भाग निकले। इनके स्थानपर नियुक्त नये पदाधिकारी स्वभावतः युक्रेतिदके क्रीतदास हो गये।

दिमितकी शासन-नीति अब उसीके शासनमें सर्वथा विदेशी हो गयी। धीरे-धीरे उसकी अनुपस्थितिमें प्रजाने युक्रेतिदको अपना राजा बनाया और युक्रेतिद अपनी प्रजाका अनुरोध न टाल सका। उसे उसका वह अनुरोध स्वीकार करना पड़ा। परन्तु जिस दिन वह अभिषिक्त हुआ उसी दिन एथेनीका निर्जीव शरीर दुर्गके बड़े सरोवरमें तैरता हुआ पाया गया।

युक्रेतिदने अपने उत्तराधिकारी अपोलोदत्तको राजकार्य सिखानेके निमित्त अपनी शरीर-रक्षक सेनाका अध्यक्ष बना लिया। शासनकी बागडोरका एक बड़ा भाग उसने पुत्रके हाथमें दे दिया। व्याघ्र-शावकको रक्तका स्वाद मिला। वह कुछ तनकर खड़ा हो गया। चोट करनेके लिए वह अवसर ढूँढ़ने लगा।

अपोलोदत्त बालपनसे ही षड्यन्त्रप्रिय था। दिमितके विरुद्ध विप्लवमें उसने पिताका हाथ बँटाया था। अब वह शासनको पूर्णतया अपने करमें लेनेके हेतु आकुल हो उठा।

युक्रेतिद भारतके पश्चिमोत्तर प्रान्तको हस्तगत करने भारतीय सीमा-की ओर बढ़ा। उसके साथ उसकी शरीर-रक्षक सेनाका अधिनायक अपो-लोदत्त भी था। उसकी विशाल सेनाने शीघ्र ही सीमा-प्रान्तको अपने अधीन कर लिया। युक्रेतिदने सीमाके सारे दुर्गोंमें अपनी सेनाका कोई-न-कोई अंश रख दिया। परन्तु जब वह तक्षशिलाके दुर्गमें पहुँचा उसके पास केवल उसकी शरीर-रक्षक सेनाके एक सौ सैनिक और दो सौ दूसरी अश्वा-रोही सेना बच रही थी।

पर उसे कोई चिन्ता न थी। अब उसे घर लौटना था। सीमाप्रान्त सुरक्षित था। तक्षशिलाके विशाल दुर्गमें लौटनेके पूर्व कुछ विश्राम करनेकी इच्छासे उसने डेरा डाल दिया।

धीरे-धीरे अपोलोदत्तने अपनी सेनाको साथ लिया। परन्तु अभी अव-सर मिलना कठिन हो रहा था। शेष दो सौ सेना युक्रेतिदको रक्षामें सन्नद्ध थी जो उसके प्रतिकाराके क्षण-भरमें टुकड़े-टुकड़े कर डालती। अपोलोदत्त झिझका।

रात्रिके अन्धकारमें दुर्गरक्षक सेना प्राचीरोंके पहरेमें द्वारशिखरोंके तोरणोंमें आ-जा रही थी। यकायक पूर्वकी ओरसे घोड़ोंकी टापोंकी ध्वनि आने लगी। अनेक घोड़ोंकी, शतों—सहस्रोंकी।

युक्रेतिद सोतेसे जागा। प्रहरियोंका संवाद सुन वह वेगसे उठ बैठा। उसने कहा, दुर्गकी दीवारें फिरसे भले प्रकार देख लो। कहीं कोई द्वार खुला न रहे। भारी युद्धकी सम्भावना है।"

उसने अपोलोदत्तको बुलाकर कहा, "अपोलो, तैयार हो जाओ। दिमितको विप्लवका संवाद मिल चुका है। वह अपनी सेना लिये पूर्वसे

लौट रहा है। युद्ध अवश्यम्भावी है और स्मरण रखो, इसकी घनता प्रचुर होगी।"

अपोलोदत्त अपनी ही चिन्ताओंसे दब रहा था। एकके बाद एक भावना उसके विचारोंको आक्रान्त करने लगी—प्रत्येक भयानक, लुभावनी। पिताकी बात सुन वह कुछ घबरा उठा। फिर संयत हो उसने कहा, "परन्तु सेना कहाँ है ? कैसे लड़ सकेंगे कुल एक सौ शरीर-रक्षक सेना है और दो सौ अन्य दुर्ग-रक्षक सेना।

युक्रेतिदने पुत्रकी पीठ ठोंकते हुए कहा, "अपोलो, जाओ प्राचीरोंको देखो। केवल सेनासे ही युद्ध नहीं होता। युद्ध जीतनेके और भी साधन होते हैं। मैंने कौशलसे यह सुविस्तृत राज्य पाया है। कौशलसे ही उसकी रक्षा भी करूँगा। दिमित खुले मैदानका विजेता है परन्तु कूटनीतिके पाठ वह मुझसे पढ़े।

नतमस्तक हो अपोलोदत्त प्राचीरोंकी ओर चला और युक्रेतिद रसदके गुदामकी ओर। दुर्गमें तीन सौ सेनाके लिए भोजन और जल प्रचुर था। लगभग वर्ष-भरको। आश्वस्त हो युक्रेतिद प्राचीरोंकी ओर लौटा।

आकाशमें उषाकी लालीके साथ ही वेगसे आते हुए अश्वारोहियोंके आगमनका प्रमाण पूर्वमें उठती धूलसे मिला। युक्रेतिद इस बीच प्राचीरके एक-एक बुर्जमें हो आया, एक-एक सैनिककी पीठ ठोंक आया। एक-एकको उसने समझाया—आक्रमणकारियोंकी संख्या बड़ी होगी। संख्यासे मत डरो, विजय हमारी होगी। परन्तु स्मरण रखो मिथ्या शौर्यके प्रदर्शनमें जीवन नष्ट न करना। एक-एक जवनका इस समय अनन्त मूल्य है। आदेशकी प्रतीक्षा करो।

आक्रमणकारियोंकी संख्या साठ सहस्र थी और उनके आगे था विजेता दिमित, उन्हें ललकारता, युक्रेतिदको प्रचारता। युक्रेतिद चुपचाप प्राचीरोंके गर्भसे अपनी क्षुद्र सेनाको बढ़ावा देता रहा, आदेश करता रहा।

तक्षशिलाके दुर्गके चारों ओर घेरा पड़ा था। युक्रेतिदके आदेशानुसार दुर्गके सैनिक एक साथ चारों ओर वाणोंकी वर्षा करते और झट एक साथ शत्रुओंके आक्रमणके पूर्व प्राचीर गर्भमें जा छिपते। कई दिनों तक इसी प्रकार युद्ध चलता रहा। दिमितने समझा भीतर सेनाकी संख्या प्रचुर है। उसकी सेनाका एक सैनिक भी प्राचीरके किसी भागपर न चढ़ सका। वह चुपचाप घेरा डाले पड़ा रहा।

वार, सप्ताह बीते। मास भी बीत चले। दिमितको पता चल गया था कि युक्रेतिद दुर्गमें छिपा हुआ है। उसे प्रतिशोध लेना था उस मनुष्यताके शत्रु युक्रेतिदसे। कभी-कभी वह पूर्वसे लाये हाथियोंसे दुर्गका प्राचीर तोड़नेका प्रयत्न करता परन्तु उसका दिन-भरका प्रयत्न रात्रिमें युक्रेतिदकी सतर्कतासे निष्फल हो जाता। युक्रेतिद असुरकी क्षमतासे कार्य कर रहा था।

एक बार फिर अपोलोदत्तकी घातक भावनाओंने उसे घर दबाया। उसने शत्रुसे पिताके विरोधमें सम्बन्ध स्थापित करनेकी सोची, परन्तु युक्रेतिदकी सतर्कता ऐसी थी कि वह कुछ भी न कर सका। फिर स्वयं उसके भविष्यका भी उस समय कुछ ठिकाना न था। वह चुप हो अवसरकी प्रतीक्षा करने लगा।

छह मास बीत चले, दुर्गने आत्मसमर्पण न किया। दिमितने अपना पौरुष और बल नष्ट करना उचित न समझा। पूर्वमें उसका प्रसर जारी था। उसने पश्चिमी प्रान्तोंसे हाथ खींच लेना ही स्थिर किया। उसने सन्धिकी शर्तें भेजीं—तक्षशिला दोनों राज्योंकी सीमा मानी जाये। उसके पश्चिममें दिमित अपने पैर न धरे और न उसके पूर्व युक्रेतिद ही अपनी लालसा बढ़ाये।

दिमित पूर्वकी ओर फिर लौट पड़ा। दुर्गमें ओलम्पिकके साधन चमके। विजयी युक्रेतिदने महीने-भर उत्सव मना दुर्ग छोड़ा। वह घरकी ओर चला। कुल दो सौ सेना उसके साथ थी। अपोलोदत्तकी राज्य-लिप्सा फिर

जाग उठी।

बह्लीककी पूर्वी सीमापर नाच-रंग जमा। युक्रेतिद वारुणीके मदमें झूम रहा था, विजयके दर्पमें चूर। इसी समय अपोलोदत्तने उसका हृदय-द्वार उन्मुक्त कर दिया। युक्रेतिद अपने घातकको जान तक न सका और उसके लाड़ले बेटेने उसे समाधिका सौभाग्य भी न दिया। जब पिता रक्त-से लथपथ पड़ा था, पुत्रने रथको अनेक बार उसके शवपर दौड़ा दिया। उसके रक्तसे उसने रथके चक्के रँग डाले। जब सेनामें क्रान्तिके लक्षण दिखाई पड़े, अपोलोदत्तने कोप लुटा दिया। सेनाने उसका वहीं अभिसिंचन कर दिया।

हेलिओकल युद्धकी ओर था। अपोलोदत्तने शीघ्र बढ़कर बह्लीकका सिंहासन हस्तगत कर लिया।

अपोलोदत्तके सिंहासनारोहणके बाद ही बह्लीकमें आमोद-प्रमोद होने लगे। विलास-व्यसन पदाधिकारियोंके घर-घर बढ़ने लगे। कृतघ्न युक्रेतिद शासन-में संयत ऋषि था, पितृहन्ता अपोलोदत्त राक्षस! उसके स्वेच्छाचारी शासनसे स्वतन्त्रताप्रिय यवनोंका जी ऊब गया।

हेलिओकल देश-विदेशमें मारा-मारा फिरता रहा। उसमें राज्यलिप्सा कुछ कम न थी। परन्तु साधन उसके पास थोड़े थे। कुछ कर सकना कठिन था। परन्तु पिताके बहुतेरे गुण हेलिओकलमें उतर आये थे। वह भी अपनी धुनका पक्का था। जब अपोलोदत्तके अनाचारी शासनसे प्रजा-का जी ऊबने लगा, हेलिओकलने वेश बदलकर नगरोंमें जाना प्रारम्भ किया। नगरमें फिर-फिर वह विप्लवकी आग सुलगाने लगा। विदेशोंमें जा-जा वह पिताके नामपर शक्तिकी भीख माँगता सैन्यका संचय करता।

धीरे-धीरे उसके लगाये बीजने अंकुर फेंका। विप्लवकी आग जल उठी। अपोलोदत्तने राजधानी छोड़ बाहर भागनेका प्रयत्न किया परन्तु

हेलिओकलके अश्व उसे भले प्रकार पहचानते थे। उसके घोड़े अब हेलिओकलके थे और उन्होंने अपने पूर्व स्वामीको अपनी टापों तले रौंद डाला।

हेलिओकल गद्दीपर बैठा। उसने पिताके सारे कार्योंका पुनरुद्धार किया। अवसर उसके पक्षमें था। लोगोंने जाना योग्य पुत्रने पिताके वधका प्रतिशोध लिया। इस विचारको हेलिओकलने पुष्टि दी। उसने अपोलोदत्तके सिक्कोंपर पिताकी प्रतिमूर्ति फिर छापी।

इस प्रकार यह विप्लवका तारतम्य चलता रहा। दिमितसे लेकर युक्रेतिदने अपोलोदत्तको, अपोलोदत्तने हेलिओकलको दिया। और हेलिओकल ? क्या वह स्वयं उस लिप्साको देर तक भोग सका ?

शीघ्र चीनकी पश्चिमोत्तर-सीमापर एक भयंकर आँधी उठी, वहाँके हूणोंकी। जो ऋषिकोंको धकेलती हुई पश्चिमके शकोंसे जा टकरायी। शकोंने पार्थव राजा फ्रातका ध्वंस कर वक्षुकी तलेटीमें शरण ली। उनके धक्केसे हेलिओकलकी रीढ़ टूट गयी। दिमित और युक्रेतिदका यवन-साम्राज्य चूर-चूर हो गया।

२५ अक्तूबर १९४०
प्रातः ५—६

गरुड़ध्वज

[हेलिओदोर तक्षशिलाके यवन राजा अन्तलिखितका विदिशाके शासकके पास भेजा गया दूत था। वह परम वैष्णव था जो विदिशा (भिलसा) के समीप बेसनगरमें आज भी खड़े गरुड़ध्वजसे सिद्ध है। यह गरुड़ध्वज १४०-१३० ई० पू० के बीच कभी उसीने खड़ा कराया था। अब केवल स्तम्भ रह गया है, गरुड़की प्रतिमा नष्ट हो चुकी है। अशोकके शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि युवराज पहले वाइस-रायकी भाँति किसी प्रान्तका शासन करता था। उस वाइसरायको 'कुमार' कहते थे और उसके मन्त्रिमण्डलको 'मन्त्रिपरिषत्', जैसा कालिदासके 'मालविकाग्निमित्र' से भी सिद्ध है। पहले विदिशाका शासक वसुमित्रका पिता अग्निमित्र था जो अब मर चुका था और उसकी जगह इस समय उसका भाई सुज्येष्ठ राज करता था। मौर्यों-के साम्राज्यको 'विजित' कहते थे। समय : १४०-१३० ई० पू०]

हेलिओदोर वैष्णव यवनोंके एक सम्भ्रान्त कुलका बालक था। उसका पिता तक्षशिलाके यवन राजा अन्तलिखितके पिताका सेनापति था। उसकी माता शाकलके विख्यात श्रेष्ठिकी कन्या थी। मागन्धीने अपने नम्र स्वभाव-से धीरे-धीरे अपने पतिके परुष भावोंको तरल बना दिया था। सेनापतिकी उद्दण्ड प्रकृति क्रमशः द्रवित हो गयी थी।

हेलिओदोर माँका अनुगामी था, शील-स्वभावमें, भक्ति-विश्वासमें। उसके बालपनमें ही जब माँ विष्णुकी अर्चनामें गीत गाती, वह तन्मय होकर सुनता। वासुदेव कृष्णका सच्चिदानन्द रूप उसके भावोंमें ओतप्रोत

हो गया था। योगकी चर्चा सुन वह समाधिस्थ हो जाता, भक्तोंके कीर्तन से उसके नेत्रोंसे वारिधारा बह चलती।

धीरे-धीरे हेलिओदोर बड़ा हुआ, युवा। महाभारतकी कथा उसे बड़ी प्रिय लगती, ईलियद और ओदेस्सीसे आकर्षक। अर्जुनका विक्रम और कृष्णका कर्म-कौशल उसे चकित करते, कर्त्तव्यकी ओर प्रेरित करते। बालपनमें उसके माता-पिता उसे जटिलों और श्रमणोंसे छिपाते रहे। उन्हें भय था, कहीं वह भी संन्यस्त न हो जाये।

परन्तु हेलिओदोरके विचार वासुदेव-कृष्णके उपदेशोंके अनुरूप ढल रहे थे। वह विश्वबन्धुत्वके पाठ पढ़ रहा था—शुनि और श्वपच, ब्राह्मण, गो और गज सबमें एक आत्मा देखनेका। संन्यास उसे अकर्मण्यता-सा प्रतीत हुआ। उसके आचरण-व्यवहार अन्य प्रकारके थे।

शक्ति और मतिके प्रभावसे वह अन्तलिखितका विश्वासपात्र बना। उसके मन्त्रियोंमें हेलिओदोरकी भी गणना होने लगी। राज-कार्यसे जब छुट्टी मिलती, वह वासुदेव-भजनमें लीन हो जाता। उसकी ख्याति देश-विदेशमें हो चली। वैष्णवोंका उसके द्वारपर ताँता-सा लग चला। सबके लिए उसका द्वार खुला था, उसके हृदयकी ही भाँति। मानवताका वह मित्र था। महत्त्वाकांक्षाकी विजयोंके लिए उसके पास साधुवाद न था, परन्तु अपनी स्वतन्त्रताका वह महान् रक्षक था। अन्य देशोंके लोग भी अपनी सीमाएँ निर्धारित करनेके निमित्त हेलिओदोरको निमन्त्रित करते।

पाटलिपुत्रके सिंहासनपर तब सुज्येष्ठ विराजमान था। अग्निमित्रके बाद मगधका सम्राट् उसका भाई हुआ और उसका युवराज वसुमित्र विदिशा का स्वामी, मगधके दक्षिणी प्रान्तोंका गोप्ता।

तक्षशिलाके यवनराज्य और मगध-साम्राज्यकी सीमाओंमें कुछ विवाद खड़ा हो गया था। यवनोंने मथुराकी ओर शुंग सीमापर कुछ मागध नाग-

रिकोंको अपमानित किया था। मगध-सम्राट् तक्षशिलाके क्षुद्र राज्यके निवासियोंका यह दृप्त आचरण देख चिढ़ गया। उसने अन्तलिखितको कहला भेजा––''धनुर्धर वसुमित्रके बाणोंके व्रण यदि सिन्धुतीरके यवनोंको विस्मृत हो चुके हों तो युवराज फिर भेजा जाये। शक्तिकी टक्कर यदि तक्षशिलाके यवन लेना चाहते हैं तो समीपके ही आयुधजीवी यौधेयों और मालवोंसे क्यों नहीं लेते? मगधसे क्यों उलझते हैं? मगध साम्राज्येतर शक्तियोंसे युद्ध नहीं ठानता।''

यवनराजके साहसी सेनापति युद्धकी सम्भावनासे प्रसन्न हो उछल पड़े। अन्तलिखितने भी मगध-सम्राट्के सन्देशको दृप्त कहा। परन्तु यवनोंके क्रोधकी उठती आँधीको हेलिओदोरने शान्त कर दिया। उसने उन्हें सुझाया कि जब पश्चिमोत्तरमें विप्लवोंकी बाढ़ आ रही है, शकोंकी आँधी उठ रही है उस समय शक्तिकी सीमा मागधोंसे उलझना मूर्खता है। उसकी बुद्धि-भरी बातोंने सबपर प्रभाव डाला।

हेलिओदोरने मगधराजसे सन्धि कर लेनेका प्रस्ताव किया। उसके शब्दोंमें विश्वास होता और उस विश्वाससे शक्तिका प्रादुर्भाव होता। उसके प्रतिद्वन्द्वी भी उसकी दूरदर्शिताके क़ायल थे और कम-से-कम जब वह राजसभामें बोलने लगता, उसके शब्द वह चमत्कार उत्पन्न करते जिसके समक्ष विपक्षियोंका खड़ा रहना कठिन हो जाता। जब उसने सन्धिकी चर्चा चलायी, लोगोंने उसकी सार्थकता समझी। स्वयं अन्तलिखितने उसकी नीतिकी सराहना की और उसने मगधके सम्राट्के समीप हेलिओदोरको ही दूत बनाकर भेजना निश्चित किया।

·

हेलिओदोरने पाटलिपुत्र न जाकर विदिशा जाना ही उचित समझा। सुज्येष्ठकी उद्दण्ड प्रकृतिसे उसे विशेष आशा न थी परन्तु वसुमित्रके सुष्ठु स्वभावसे वह परिचित था। एक युग पूर्व उस विकट धनुर्धरकी शक्ति

उसने जानी थी। स्वयं उसका पिता उस महासमरमें लड़ा था जिसमें वसुमित्रने सिन्धुके तटपर यवनोंका घोर पराभव कर पितामहके अश्वमेधका तुरग उनसे छीनकर लौटा लिया था। वसुमित्रके शौर्य और शीलसे परिचित हेलिओदोरको उसकी नीतिकी दूरदर्शितापर भी विश्वास था। वह विदिशाको चला।

विदिशाकी राजसभामें वसुमित्र सिंहासनपर बैठा मन्त्रियोंके साथ सातवाहनोंकी नीतिकी आलोचना कर रहा था। मन्त्रि-परिषत् और उसके विचारोंमें एकता हो गयी थी। इस कारण अब राजा और मन्त्रिमण्डल एकत्र रन्ध्रप्रहारकी सुविधापर विचार कर रहे थे।

जब उसने यवनराजके दूतके आनेकी बात सुनी तो झट उपस्थित करनेका आदेश किया।

हेलिओदोरके प्रवेश करते ही मन्त्रियोंने अवकाश ग्रहण किया और शीलाचारके उपरान्त जब यवन दूत उच्चासनपर बैठा तब वसुमित्रने उसके आगमनकी बात पूछी।

उसने कहा—"परम वैष्णव हेलिओदोर, आपके पत्रसे कुछ आतुरता प्रतीत हुई थी इसीसे मन्त्रीने आपसे विश्रामके अर्थ कुछ न कहा होगा। अब आप बतायें कि हमारी बातें अभी होंगी अथवा विश्रामानन्तर?"

दूत बोला—"देव, विदिशेश्वरका वैदेशिक विभाग अतिथिकी सुविधाओंके प्रति विशेष सतर्क है। देवकी अभिलाषा मुझे कई दिन पूर्व विदिशाकी सीमामें प्रवेश करते ही ज्ञात हो गयी थी फिर भी मुझसे विश्राम करनेका आग्रह किया गया परन्तु जैसा मैंने अपने पत्रमें लिखा था, कार्य इस प्रकारका है कि उसमें विलम्ब होना अत्यन्त अहितकर होगा। मैं पहले अपने आगमनके विषयपर बात कर लेना चाहूँगा, परन्तु मैं देवके प्रसादका अनुसरण करूँगा।"

"भागवत हेलिओदोर, यदि तक्षशिलासे निरन्तर यात्रा करते यवन-

दूतको विश्राम करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती तो क्या विश्राम-रहित लोकतन्त्रकी अधिकाररज्जु धारण करनेवाले 'कुमार' को उसकी विशेष आवश्यकता है ? शुंग-साम्राज्यके प्रान्त-शासक अपने कर्तव्य-पालनमें जागरूक रहते हैं, हेलिओदोर ।''—विदिशेश्वरने कुछ मुसकराते हुए कहा।

''शुंग-साम्राज्यके प्रान्त-शासक यदि अपने कर्त्तव्य-पालनमें विशेष जागरूक न होते, देव, तो इस भजन-प्रेमी हेलिओदोरको इतनी लम्बी यात्रा करनेकी आवश्यकता न होती। इस शासन-सतर्कताके फलस्वरूप ही मेरा यहाँ आना हुआ है, देव।''—हेलिओदोर बोला।

''फिर कहो, यवन-सचिव, क्या है तुम्हारा दौत्य ?'' प्रखर-बुद्धि वसुमित्रने हेलिओदोरके वक्तव्यसे ही उसके दौत्यका आशय आँक लिया था।

''देव, मैं आया हूँ यवनराजकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर।''—हेलिओदोरने कुछ गम्भीर होकर कहा।

''तब तो यवन-दूतका पाटलिपुत्र जाना अधिक युक्तियुक्त होता।''

''निस्सन्देह देव, परन्तु सागरकी उठती लहरोंको सामनेसे न ललकारकर पार्श्वमें लेना अधिक श्रेयस्कर होता है। इसी अर्थ इस सन्धिका विषय व्यक्तिगत बना मैं स्वयं आया और पाटलिपुत्रसे दूर. इस ओर।''

''वासुदेव आपको आपके दौत्यमें सफल करें, यवन-सचिव।'' वसुमित्र हेलिओदोरकी ओर देखने लगा।

हेलिओदोर बोला, ''देव, मगध-साम्राज्यकी पश्चिमोत्तर सीमापर कुछ मागध नागरिकोंके प्रति अन्याय हुआ है।''

हेलिओदोर कुछ रुका।

''कहते चलो, दूत। मगध-सम्राट्के उस अपमानका प्रतिस्मरण यवनराजसे सख्य उत्पन्न न करेगा।''—वसुमित्रको उसका रुकना खला।

हेलिओदोरने फिर कहना प्रारम्भ किया—''वह अन्याय मानवताके प्रति हुआ है इस अर्थ यवनराज लज्जित हैं, देव।''

''मानवताके प्रति होनेवाले अन्यायोंकी परिगणना मगधके वैदेशिक

विभागमें नहीं होती। मानवताके प्रति विश्वमें अनेक, संख्यातीत, अन्याय होते हैं, हाँ, उनसे मगध-साम्राज्यका कोई सरोकार नहीं। अभी-अभी बह्लीकके राजपरिवारमें मानवताके प्रति घोर अन्याय हुआ है, तुम जानते हो, परन्तु उससे मगध-साम्राज्यका कोई हानि-लाभ नहीं। परन्तु जब उसके लोकतन्त्रके अधिकारोंकी क्षति होती है, वह सतर्क हो अपनी शक्तियोंको सजग कर देता है। प्रस्तुत अन्याय मगध-नागरिकताके प्रति है और उसे मगध-साम्राज्य अपना भारी अपमान समझता है क्योंकि यह घटना सम्राट्के प्रजारंजक धर्ममें विघ्न प्रतीत होती है।" वसुमित्र कुछ और गम्भीर हो उठा।

हेलिओदोर कुछ और नत हो मधुर स्वरमें बोला, "देवका वक्तव्य यथार्थ है। यवनराजने उसीके प्रतिकारार्थ मुझे विदिशेश्वरकी सेवामें भेजा है।"

"परन्तु क्या यह अन्याय इस प्रकारकी प्रथम घटना है, हेलिओदोर ?" वसुमित्र दूतकी नम्रतासे स्वयं कुछ विनम्र हो गया।

"नहीं, देव, इस प्रकारकी यह प्रथम घटना नहीं है और इसी कारण यवनराज विशेष लज्जित हैं।"

"सो माना, परन्तु इसके प्रतिकारस्वरूप उनकी योजना क्या है ?" वसुमित्रने पूछा।

"वह यह कि इस अन्यायके प्रतिकारमें उसके अनुरूप हो यवनराज आर्थिक क्षति उठानेको तत्पर हैं और उनका अनुरोध है कि इस प्रकारकी जितनी घटनाएँ निकट पूर्वमें हुई हों, उन सबकी क्षति वे स्वर्णमें पूर्ण करनेको प्रस्तुत हैं।"

"ठीक है, यवनदूत, ठीक ! परन्तु यवनों और भारतीयोंकी क्षतिपूर्तिके साधनोंमें विशेष अन्तर है। पाश्चात्य जिस अपमानकी क्षतिको अर्थकी संख्यामें आँकते हैं पौरस्त्य उसको रक्त और मज्जासे मापते हैं। इस सन्तोलनमें तो बड़ा वैषम्य है, हेलिओदोर। अच्छा होता यदि यवन अपना

मानदण्ड अपनी विपणियों तक ही परिमित रखते।" वसुमित्रने कुछ मुसकराते हुए यवनोंके समाजाचारपर गहरा आघात किया।

हेलिओदोरने वह आघात सहते हुए कहा, "राजन्, देश-देशकी विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं, और उनके अनुरूप उनकी योजनाएँ भी। परन्तु उनसे क्या प्रयोजन ? मैं सन्धिका प्रस्ताव लेकर आया हूँ, उसकी सार्थकतापर विचार अधिक न्यायसंगत होता।"

"देखो, हेलिओदोर, न्यायकी शिक्षा मगध-साम्राज्यके युवराजको यवन-दूतसे नहीं लेनी है। और रही सन्धिके प्रस्तावकी बात, तो उसकी सार्थकताका विचार नहीं होगा। क्योंकि इस प्रकारका 'विचार' तक्षशिला-राज्य और मगध-साम्राज्यको समानभूमिपर ला उतारेगा।" कुछ सरोप वसुमित्रने आपत्ति की।

"देव, दूतका उत्तर यदि उच्छृंखलता न समझा जाये तो मैं भी एक बात कहूँ ?" हेलिओदोरकी भृकुटी भी कुछ वक्र हो गयी थी।

"बोलो, हेलिओदोर, मेरे सामने बोलनेमें तुम्हें कुछ भय न होना चाहिए।"—वसुमित्र कुछ विनम्र हो बोला।

हेलिओदोरने कुछ विनम्र होकर कहा, "देव, भयकी बात दूसरी है। ग्रीक 'भय' नहीं जानता। बाक़ी रही 'विचार'की बात। सो क्या तक्षशिला स्वतन्त्र नहीं है ? वह साम्राज्यका 'विजित' तो नहीं है इसलिए मेरी समझमें उसका साम्राज्यसे समानताका व्यवहार अनुचित नहीं कहलायेगा।"

वसुमित्र इस युक्तिसे कुछ सहमा, परन्तु यवनोंके एक छोटे-से राज्यका वह तर्क-वितर्क सहन नहीं कर सकता था।

उसने कहा, "यवन दूत, तुम्हारा सौभाग्य है कि यह वक्तव्य सम्राट्के कानोंसे दूर है नहीं तो बहुत सम्भव था कि इसी समय मगधवाहिनी तक्षशिलाको भी 'विजित' में मिला लेनेको चल पड़ती।"

हेलिओदोर कुछ कुढ़ गया, कहा—'देव, सम्राट्के कानोंसे दूर रहनेके

अर्थ हो 'कुमार'के समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। रही तक्षशिलाको 'विजित' बनानेकी बात, सो उसके सम्बन्धमें तो मेरा इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मगध-साम्राज्यके हाथ भी भले प्रकार बँधे हुए हैं। विशेषकर इसी दक्षिण-सीमापर ही। क्योंकि यवनराजको यह भले प्रकार विदित है कि विदर्भको जीतकर उसे विजित द्वैराज्य घोषित कर दिया गया है, परन्तु जबतक मौर्य सचिव जीवित हैं मगध-साम्राज्य दक्षिणकी ओर कान लगा श्वाननिद्रासे ही सोयेगा। फिर उधर आन्ध्र सातवाहनोंका समरकोलाहल उत्तरमें भी पर्याप्त सुन पड़ता है। ऐसे समयमें उत्तरकी सीमापर शान्ति रखना साम्राज्यको हानिकारक नहीं सिद्ध होगा, देव!"

भयंकर सत्य कह रहा था हेलिओदोर। वसुमित्रने उसके एक-एक शब्दका अर्थ समझा, एक-एक व्यंग्यकी चोट पहचानी।

उसने भी धीरे-धीरे कहा—"और, हेलिओदोर, जिस समय तुम मगध-साम्राज्यके दक्षिण छोरपर आन्ध्र-सातवाहनोंकी आँधीकी बात कहते हो तुम स्वयं उत्तरमें शकोंकी उठती आँधीको भूल जाते हो।"

"दरिद्रको अपना धन जानेका भय कम रहता है, देव। श्रीमान् ही विपत्तिमें अपनी सत्ताके विनाशका रोना रोते हैं। यदि तक्षशिला उस आँधी में बह भी गया तो कोई बात नहीं क्योंकि उसका तुरन्त या देरमें उसकी चोटसे विनष्ट हो जाना अनिवार्य है। उसे अपनी तो इतनी कुछ परवाह नहीं, परन्तु वह आँधी यदि तक्षशिलाका आधारबन्ध तोड़कर इधर आयी तो भला मगधकी क्या गति होगी? तक्षशिला मगध-साम्राज्यकी पश्चिमोत्तर सीमाका प्राचीर है, देव, उसे प्राचीर ही बना रहने दें।" एक-एक शब्दकी शक्ति आँकता हुआ-सा हेलिओदोर धीरे-धीरे बोला।

वसुमित्रने यवनदूतकी मर्म-भरी बातें सुनीं और उनकी अर्थ-भरी नीतिको उसने पहचाना। दूसरा यदि कोई उसके पदपर होता तो साम्राज्यकी मर्यादाके नामपर आग उगलता और वह आग साम्राज्यको ही जलाकर भस्म कर डालती। परन्तु मगधके अद्भुत दूरदर्शी नीतिज्ञने हेलिओदोरकी

एक-एक बातमें सत्यता पायी और वह झट उसकी नीति स्वीकार करनेको तत्पर हो गया।

उसने हँसते हुए कहा—"अच्छा, वैष्णव, हमें इन झगड़ोंसे क्या काम? तुम भक्त हो। मुझे तुम्हारी बात माननेमें कोई आपत्ति नहीं और यदि, जैसा तुम कहते हो, यवन-राज्यका प्रस्ताव स्वीकार कर लेनेसे तक्ष-शिला और मगध-साम्राज्य दोनोंका लाभ है तो मैं इसी क्षण उसे स्वीकार करता हूँ। और मेरा विश्वास है कि सम्राट् भी इसे स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति न करेंगे।"

हेलिओदोरने विनीत हो मस्तक झुका लिया। उसने वसुमित्रकी नीति-सत्वरता और कार्यचपलता देखी और वह उसपर मुग्ध हो गया।

उसने धीरे-धीरे कहा, "देव, फिर आशा करता हूँ पाटलिपुत्र मेरे जानेकी आवश्यकता नहीं होगी।"

"नहीं, कुछ भी नहीं। मैं स्वयं कल सम्राट्की सेवामें विशेष दूत भेजूँगा।"—वसुमित्रने सत्वर कहा।

कुछ रुककर वसुमित्रने फिर कहा—"हेलिओदोर, मैं समझता हूँ यवनराजका यह सन्धि-प्रस्ताव महत्त्वका है और बड़ा सुन्दर हो यदि तुम्हारी दौत्य-योग्यतासे सम्पन्न इस कार्यका स्मारक-स्वरूप एक कीर्ति-स्तम्भ खड़ा किया जाये।"

विचक्षण यवनने इस अद्भुत प्रस्तावका अर्थ आँक लिया। उसने वसु-मित्रकी नीतिमत्ता मन-ही-मन सराही—"क्यों नहीं, और उस कीर्तिस्तम्भ-पर लिखा जाये कि तक्षशिलाने मगध-साम्राज्यसे अनुनय की।" एक हलकी मुसकान उसके मुखपर झलक गयी।

उसने प्रकट कहा—"अवश्य, राजन्, अवश्य। परन्तु एक भिक्षा है, देव।"

"कहो, हेलिओदोर, क्या है तुम्हारी इच्छा?"

"कि उस कीर्तिस्तम्भका वास्तु-विधान मेरे इच्छानुसार हो।"

अबकी वसुमित्र हँसा। दोनोंने एक-दूसरेकी नीतिप्रखरता देखी और भीतर-ही-भीतर एकने दूसरेको सराहा।

वसुमित्र हार गया। उसने मुसकराते हुए कहा, "मुझे स्वीकार है, यवन, वह भी स्वीकार है।"

वसुमित्रने उदारताकी सीमा रख दी। यवन जीतकर भी हारा। वसुमित्रके समीप बढ़कर उसने उसके उत्तरीयका छोर घुटने टेककर चूम लिया।

वह विदिशाका स्तम्भ न मगध-साम्राज्यके ऐश्वर्यका स्मारक हुआ, न यवनराजका कीर्तिस्तम्भ, वरन् परम भागवत हेलिओदोर-द्वारा प्रतिस्थापित वह वासुदेव विष्णुका गरुड़ध्वज हुआ।

२६ अक्तूबर १६४०
प्रातः ५—८

❁

संकट

[ईसासे लगभग दो शताब्दियों पूर्वसे ही भारतका व्यापारिक सम्बन्ध रोमसे स्थापित हो गया था। इस सम्बन्धका मार्ग सामुद्रिक था। ई० पू० प्रथम शताब्दीमें जो भारतके व्यापारने रोमके दीवाने विलासियोंको आकृष्ट किया उसका ताँता ईसासे कई शताब्दियों बाद तक बना रहा। रोमकी विजयोंसे उसके साम्राज्यमें कितने ही बड़े-बड़े देश प्रान्तोंकी भाँति सम्मिलित हो गये—इंग्लैण्डसे ईरान तक, मिस्रसे कास्पियन सागर तक। इससे रोमियोंके धन-धान्यकी अद्भुत वृद्धि हुई और उस समृद्धिका बहुत बड़ा भाग भारतवर्षको मिलने लगा। यहाँके हाथीदाँतके सामान, इत्र, मलमल, मोती और गरम मसालोंके मुँहमाँगे दाम रोममें मिलने लगे। फलस्वरूप ईसाकी प्रथम शताब्दीमें प्रसिद्ध इतिहासकार प्लिनीने इसका प्रबल विरोध किया, साढ़े पाँच करोड़के सोनेके निर्यातका। परन्तु उसका रोना व्यर्थ गया। प्लिनीकी 'नेचुरल हिस्ट्री' सन् ७७ ई० में प्रकाशित हुई। लगभग इसी समयकी ग्रीक पुस्तक 'पेरिप्लस ऑव् दि एरिथियन सी' में भी भारतसे पाश्चात्य देशोंके व्यापार-सम्बन्ध-का विशद वर्णन है। लगभग प्रथम शताब्दी ई० पू० में कुछ भारतीय नाविक मार्ग भूलकर अफ्रीकाकी राह जर्मनीके तटपर पहुँच गये थे। फिर वहाँसे उन्हें रोम पहुँचाया गया। 'पात्रीशियन' रोमके विशिष्ट नागरिक थे और 'प्लेबियन' प्रान्तोंके अन्य नागरिक। रोमकी विजयोंके फलस्वरूप रोममें दासोंकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी। समय : ई० पू० प्रथम शतीका अन्तिम चरण।]

कल्लाके विशाल प्रासादका कोना-कोना आलोकित था। अनेक झाड़ शत-शत कण्डीलोंसे चमक रहे थे। मुख्य द्वारके मेहराबके बीचोबीच छोटी-बड़ी सहस्र कण्डीलोंसे सजा एक बृहत् झाड़ अपना प्रकाश दूर तक विस्तृत मैदानपर डाल रहा था। रजनी दिवसमें परिवर्तित हो गयी थी। स्फटिकके झाड़से जो आलोकपुंज निकल-निकल बाहर पसरता उससे सामनेके उपवनमें बनी प्रतिमाएँ रह-रहकर जगमगा उठतीं। इस हरे-भरे उपवनमें संगमरमरकी अनेक विशाल मूर्तियाँ रोमकोंको तक्षणकला और वास्तु-विज्ञानकी कुशलता घोषित कर रही थीं। मुख्य द्वारके सम्मुख ही फ़व्वारेके पीछे खड़ी रोमुलसकी विशालकाय मूर्ति थी। फिर एक ओर जूलियस सीजरकी, दूसरी ओर उसके भतीजे वर्तमान सम्राट् आगुस्तस सीजरकी अश्वारोही प्रतिमाएँ अपने-अपने तुरगको रानोंसे दबाये, ताम्र-टोप और वर्म पहने, दाहिने करमें सेमिटर* और वाम हस्तमें अश्वरज्जु लिये वेगसे अश्व बढ़ाये उड़ी जा रही थीं। पीछे उपवनके बीच फ़व्वारेपर दो दीर्घकाय नग्न पुरुष मल्लयुद्धमें लीन मूर्त थे। उनकी शिराएँ खिंची रज्जुओंकी भाँति कन्धों, भुजाओं और पिण्डलियोंपर चमक रही थीं। उपवनमें अन्य अनेक फ़व्वारे नग्न मूर्त युवतियोंके मुखसे फूट रहे थे।

कल्लाका यह प्रासाद रोमकी समृद्धिका विशद उदाहरण था। तबका रोम ख्याति और शक्तिमें चरम सीमाको पहुँच चुका था। सीजर और आगुस्तसकी विजयोंके फलस्वरूप रोम साम्राज्यकी सीमाएँ उत्तरमें आँग्ल और त्यूतन-जर्मनोंको, दक्षिणमें मिस्रके दक्षिणी छोरको, पूर्वमें कास्पियन सागर, पार्थव राज्य और मकोंको और पश्चिममें अतलान्तक महासागरको छूती थीं। रोमक लीजियनों* की धमक दूरके पार्थव और मक राजाओंमें भयका संचार करती थी। उनके गरुड़ध्वजकी छाप अनेक स्वतन्त्र पताकाओंपर पड़ रही थी और उनके प्रख्यात सेनापति पाम्पेकी ध्वंसलीलाका

* एक प्रकारकी लम्बी रोमन तलवार।

* सेनाएँ।

स्मरण कर सारा बर्बर जगत् कराह उठता था। सीजर षड्यन्त्रकारियोंकी कटारसे स्वयं तो हत हो चुका था, परन्तु उसकी बलवती स्फूर्ति आगुस्तसकी शक्तिमें प्रतिबिम्बित हो रही थी। आगुस्तसके सेनापतियोंके विजयसे लौटनेपर उनके रथोंसे बँधे दास अनन्त संख्यामें रोममें उमड़ पड़े थे। उनकी शृंखलासे रोम दिन-रात प्रतिध्वनित होता रहता। उनके विशाल पोतोंमें सहस्रों डाँड़ चलते जिनकी मूठें लौह शिकंजोंसे जकड़े सहस्रों अभागे दासोंके हाथोंमें होतीं। इनमें दरिद्र-श्रीमान्, छोटे-बड़े सभी समान गतिसे पिसते और उनके जीवनका मूल्य उन्हें मारनेवाले कोड़ोंसे कहीं घटकर होता।

रोमकी रथ-धुरामें पिसकर बड़े-बड़े साम्राज्य धूल हो गये। बड़े-बड़े राज्य उसके करदायी प्रान्त बन गये। अभी-अभी भारतीयोंके दूतमण्डलने रोममें आकर डेरा डाला था, अभी-अभी चीनके सम्राट्ने वहाँ अपनी अमूल्य भेंटें भेजी थीं। रोम नगर आज भूमण्डलका केन्द्र हो रहा था और वह रोम-साम्राज्यका मध्यवर्ती सागर वास्तवमें भूमध्यसागर था। संसारके व्यापारका केन्द्र रोम था। यहीं विश्वके व्यवसायियोंको मनोवांछित मूल्य मिलता। भारत यहाँसे प्रतिवर्ष साढ़े पाँच करोड़ रुपयेका सोना खींचता—मसालों, मोतियों, मलमल, वैदूर्य, हाथीदाँतकी वस्तुओंके बदले। रोममें ही पात्रीशियन और प्लेबियन मिलते थे।

विश्व-विलासका केन्द्र था रोम, शक्तिका मानदण्ड। और कल्लाका यह प्रासाद था रोमके श्रीमानोंका अड्डा। कल्ला स्वयं सीजरके हन्ता प्रमुख षड्यन्त्रकारी कैसियसका पुत्र था और कलाकी योग्यतामें सारे रोममें उसका कोई प्रतिस्पर्द्धी न था। वह रोमके विलासी छैलोंका लाड़ला बन्धु था। विलासी मित्रोंके स्वागतमें धन वह पानीकी भाँति बहाता और अपने अनेक व्यक्तिगत गुणोंके कारण वह स्वयं रोमकी सुन्दरियोंका मनोवांछित रहस्य हो गया था। आज उसका विजयी मित्र तीतस पूर्वसे लौटा था और उसके स्वागतमें कल्लाका ऋद्ध भवन मुसकरा रहा था। कल्लाने

अपने मित्रके स्वागतमें वृहत् भोज दिया था। उसका प्रासादके दासोंके आवागमनसे, अतिथियोंके हास-परिहास और संगीतकी ध्वनिसे गूँज रहा था; और उसकी रसोई भारतीय मसालोंकी गन्धसे गमक रही थी।

प्रासादके अतिथि-कक्षमें अट्टहासोंके स्रोत फूट रहे थे। रोमके युवा रसिक, श्रीमानोंके वंशधर अपनी सुन्दरी सखियोंसे खेलते तीतसके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। भारतीय मलमलके बने लम्बे वस्त्र उनके शक्ति-परिचायक अंगोंको झलका रहे थे। और कन्दर्पमदसे प्रमत्त नारियाँ छवि और प्रसाधनमें रतिको लज्जित करती थीं। बंगके बने 'मकड़ीके जालों'-से उनके वस्त्र कठिनतासे देखे जा सकते थे। उनके भीतरसे सुन्दरियोंकी छवि छन-छनकर निकल रही थी। नितान्त पतले वस्त्रोंसे मण्डित उन विलासिनियोंकी कमनीय कान्ति शीशेके भीतर बलती दीपशिखा-सी प्रतीत होती थी और उन दीप-शिखाओंपर रोमके श्रीमानोंके ये विलासी तनय शलभोंकी भाँति टूट रहे थे।

विलासिनियोंकी छवि भी वास्तवमें बड़ी मादक थी। नागिनों-सी उनकी बनी वेणियाँ घूम-घूमकर पीछेकी चूड़ामें खो गयी थीं और उनपरसे गिरती मलमलकी झीनी ओढ़नियाँ उनके केशपरिवेष्टनोंकी मुक्तामण्डित मध्य लड़ियोंको झलका रही थीं। मोतियोंसे उनका सारा मण्डन हुआ था। केशोंका सीमन्त शुभ्र मोतियोंकी एकावलीसे दमक रहा था। सामनेका किरीट उन्हींकी ज्योतिसे उद्भासित था। किरीटके बीचोबीच बड़ा हीरक चमक रहा था। करोंमें मोतियोंके वलय कसे थे, उँगलियोंमें हीरकोंकी मुद्रिकाएँ शोभती थीं। वक्षपर छोटे-बड़े मोतियोंके अनेक हार खेलते थे और नीचे उपानहोंमें उन्हींकी अनेक लड़ियाँ दौड़ती थीं।

कल्लाने जब हँसते हुए अपने व्यस्त प्रासादके उस कक्षमें प्रवेश किया, सुन्दरियाँ जैसे उसकी ओर दौड़ पड़ीं। उसने उनके निष्प्रभ पतियोंकी उपस्थितिमें प्रत्येक बढ़े करको चूम लिया।

फिर आनन्दका स्रोत बह चला। कल्लाके परिहासकी एक-एक छींटसे

लोग उछलने लगे, रमणियाँ बेबस होने लगीं। पिछली रातके आमोदोंके प्रसंग छिड़े, विलासके भारतीय उपकरणोंके क्रयकी बात छिड़ी, दासोंकी अपरिमित संख्यासे जनित उपद्रवोंपर वाद-विवाद छिड़ा। सबका रोना एक था, सबके अनुभव समान थे।

केतरने पूछा, "कल्ला, तुमने सुना है, कला-विरोधियोंने भारतसे व्यापार बन्द करनेके लिए सिनेटमें प्रस्ताव लानेका प्रबन्ध किया है ?"

भारतका व्यवसाय रोममें अटूट था। अनन्त धन प्रतिवर्ष रोमसे उसके विलासके मूल्यमें भारतकी ओर बह जाता था। रोमके कुछ नागरिकोंने इस क्षतिसे देशके धनकी रक्षाके अर्थ आन्दोलन खड़ा किया था। इस आन्दोलनके सदस्योंको कल्लाका विलासी समुदाय कला-विरोधी कहता था। इसमें कुछ शक्ति न थी क्योंकि रोमके रसिक युवक-युवती मण्डनका लोभ संवरण न कर सकते थे और उसमें भारतीय उपकरणोंका प्राधान्य था। इस कारण रोमकी विशिष्ट जनता और सिनेटके प्रमुख सदस्य भारतीय वाणिज्यके साथ सहानुभूति रखते थे। सीज़रके समयसे ही सिनेटकी शक्ति टूट चली थी और स्वयं आगुस्तसके प्रासाद भारतीय वाणिज्यकी अटूट सम्पत्तिसे सजे थे।

कल्लाने केतरको कुछ उत्तर न दिया। केतरके गाम्भीर्य और कल्लाकी अवहेलनापूर्ण शीतलतापर जो लोग हँस पड़े उनमें केतरकी स्त्री प्रथम थी। केतर, कुछ रुष्ट-सा हो चला। कल्लाने परिस्थिति सँभालते हुए कुछ सस्वर कहा, "केतर, जबतक सिनेटका विशिष्ट वक्ता सिनेका जीवित है, कलाके आदर्शोंके विरुद्ध रोमनोंके सिनेटमें कोई आवाज़ नहीं उठा सकता।"

सिनेकासे चिन्नाकी वाग्दत्ता थीबिया एक ओर प्रणय-कलहमें उलझ रही थी। वह उसके दक्षिण कुण्डलका मोती उसके केशोंसे पृथक् कर रहा था। थीविया रोमके विख्यात कुल पाम्पेकी एकमात्र उत्तराधिकारिणी थी, सुन्दरी, मनस्विनी, आकर्षणकी केन्द्र। स्वयं कल्ला उसपर मुग्ध था और तीतसकी सुन्दरी पत्नी सोफ़ियाकी अनुपस्थितिमें उसकी दृष्टि थीबिया-

पर ही पड़ती ।

सिनेकाका प्रणय-कौतुक वह कुछ देरसे देख रहा था परन्तु उसे किसी प्रकार अवसर न मिलता था कि वह उसे अपनी सीमाके प्रति सावधान करे। अब केतरके प्रश्नसे उसे अवसर मिला । सिनेका कल्लाके वक्तव्यसे कुछ झिझका और अपनी सीमाओंके प्रति सावधान हो उसने धीरे-धीरे कहा, "केतर, उस आन्दोलनमें कुछ बल नहीं रह गया है ।"

थीबिया अबतक सुन्दरियोंके परिवारसे आ मिली थी ।

बाहर राजमार्गपर कुछ दूर सामरिक बिगुलकी ध्वनि हुई । प्रासादके सभी प्राणी दौड़कर राजमार्गपर खुलनेवाली खिड़कियोंपर जा खड़े हुए । सामने, सभी प्रासादोंके अट्ट मुखाकृतियोंसे भर रहे थे ।

धीरे-धीरे चार तुरंगोंवाला तीतसका लम्बा रथ दिखाई पड़ा । उसके आगे-पीछे, दाहिने-बायें ऊँचे रोमन टोप पहने अश्वारोही शरीररक्षक भाले चमकाते चले आ रहे थे । विजयीके वाम पार्श्वमें महीन अवगुण्ठनसे आवृत रोमके विलासकी प्राण सोफ़िया बैठी थी । प्रसन्न मुखचेष्टा उसकी शुभ्र दन्तपंक्तिसे झलक रही थी जिसे वह भारतीय श्वेतपट कठिनतासे छिपा पाता था । तीतस सामरिक वेशमें ही आया । कटि पर्यन्त उसका सारा शरीर ताम्र वर्मसे आच्छादित था ।

कल्लाने अपने मित्र परिवारके साथ विजयी तीतसको उतारा फिर उसने उसकी पत्नीके कर चूमे । जब कल्लाने तीतसका कर-मर्दन करनेके लिए हाथ बढ़ाया, विजयीने उसे खींचकर गलेसे लगा लिया । अतिथि-गृहमें प्रवेश करते ही विजयीके प्रति बधाइयोंके शब्द गूँज उठे । एक-एक सुन्दरी उसपर टूट-सी पड़ी । तीतसने थीबियाको विशेष प्रेमसे भेंटा । देर तक उसने उसके कर चूमे ।

स्वागत-भोज चल रहा था । सोफ़िया और तीतसके बीच उनका

प्यारा कल्ला बैठा था। तीतसकी बायीं ओर थीबिया थी और उसकी बायीं ओर उसका वाग्दत्त अभागा चिन्ना रह-रहकर लम्बी साँसें लेता, क्रुद्ध-सा इधर-उधर देखता। अन्य अतिथि स्वर्णकी कुरसियोंपर रजतकी प्रशस्त मेज़के चतुर्दिक् बैठे थे।

भोजन चल रहा था, क़हक़हे लग रहे थे, हँसीके स्रोत फूट रहे थे बहती आसवधाराके साथ। भारतके दक्षिणापथके एला-लवंग अन्य मसालों-को सुगन्धित कर रहे थे और कश्मीरी कुंकुम और हिमालयकी मृगनाभि उसकी प्रचुरता अपनी मादकतासे बढ़ा रहे थे। अनेक दास-दासी स्वर्ण थालीमें भोजन लिये आ-जा रहे थे। रत्नजटित ऊँचे क्षीणकटिवाले मधु-पात्रोंसे रक्त स्फटिकके चषकोंमें मदिराएँ ढल रही थीं—रोमके दाखोंकी, पोर्तुगलकी यवन-मिस्रकी, ईरानकी।

भोजन समाप्त होते समय जब तीतसने कहा, "उसी भ्रमित पोतमें जिसके आगमनका रोम छह मासोंसे आसरा देख रहा है, ताम्रपर्णीका प्रख्यात 'शुभ्रकान्त' मोती आ रहा है—तब सोफ़ियाने कल्लाकी ओर देखा और थीबियाने तीतसकी ओर। कल्लाने उत्तरमें अपनी अर्थव्यंजक दृष्टि सोफ़ियापर डाली, तीतसने थीबियापर। चिन्नाका स्फटिक चषक नीचे गिरकर चूर-चूर हो गया।

थोड़ी देर बाद जब प्रासादके एक ओर तीतस थीबियाको अपने सबल अंकमें कसे उसे वैदूर्यकी अभिषिक्त-लक्ष्मीकी मुक्ता-खचित प्रतिमा प्रदान कर रहा था, ठीक तभी दूसरी ओर कल्ला सोफ़ियाको हृदयसे लगाये भारतसे पोत पहुँचनेपर विख्यात 'शुभ्रकान्त' मोती स्त्रीत्वके मूल्यमें भेंट करनेकी उससे प्रतिज्ञा कर रहा था।

ताम्रलिप्तिका पत्तन समुद्रगामी पोतोंसे भरा था। विदेश जानेवाले पोतोंमें विशेष चहल-पहल थी। वाणिज्यकी सामग्रीसे वे भरे जा रहे थे। मिस्र,

रोम, ईरान, चीन और द्वीप-समूहोंसे आये पोत अपना माल उतार रहे थे, जानेवाले माल भर रहे थे। इन बाहर जानेवाले विशाल पोतोंमें एक पोत बंगके पद्मपति वसुबन्धुका भी था। उस पोतकी संज्ञा थी 'सागरक'।

सागरक बृहत् पोत था। उसमें दो सौ डाँड़ लगते थे। दो सौ दास उन डाँड़ोंको खेते थे। ऊपरसे पचास नाविक पालों, मस्तूलों और उनकी रज्जुओंकी देख-रेखमें नियुक्त रहते। पोतकी वस्तुओंकी रक्षाके अर्थ दो सौ सैनिक सागरकमें सवार होते। सागरकके दोनों पार्श्वमें एक-एक और पोत पाँच-पाँच सौ सैनिकोंके साथ जलदस्युओंकी हिंस्रिकाओंसे उसकी रक्षाके निमित्त चलते।

सागरक एक सप्ताहसे अपने तलोंमें माल भर रहा था। दूसरे सप्ताहमें वह माल भरकर तैयार हो गया। सारे पूर्वी एशियाकी विक्रय-सामग्री उसके तलोंमें भरी गयी—पारसके अजिनरत्न और द्राक्षासव, बह्लीकके कुंकुम और गोमेद, गन्धार-कम्बोजके मेवे और ऊर्णा, कश्मीरके कुंकुम-केसर और शाल, चीनकी रेशम, हिमालयके चमर और मृगनाभि, मध्यदेशकी प्रतिमाएँ, झाड़खण्डका वैदूर्य, यमुनाके कच्छप-पृष्ठ, बंगकी महीन मलमल, कलिंगके गजदन्त, विदर्भकी कपासकी रुईके बने वस्त्र। फिर चला वह सागरक सागरके वक्षपर उछलता-कूदता अपने पार्श्ववर्ती रक्षक पोतों—'मोचक' और 'प्रहारक'—पर बजते रणवाद्योंके बीच।

कई दिनों तक अनुकूल वायुके सहारे चलनेके बाद उसने सिंहल और पाण्ड्यके पत्तनोंसे वाणिज्य-सामग्री भरी—मलयके चन्दन और मलयस्थली-के मसाले—एला, लवंग, मरिच—और ताम्रपर्णीके शंख और अनेक अमूल्य मोती। यहीं ताम्रपर्णीके सागरसंगमपर उपलब्ध विख्यात 'शुभ्र-कान्त' मोती वसुबन्धुने खरीदा जिसकी चर्चा विदेशोंमें हो चली थी। फिर सागरक उत्तरापथ और दक्षिणापथकी सन्धिपर खड़ी विशाला उज्ज-यिनीसे आनेवाली वाणिज्य-सामग्रीके अर्थ कल्याणी और शूर्पारककी ओर बढ़ा। प्रशान्त सागरके वक्षपर बिछलता, अनुकूल पवनके सहारे।

शूर्पारकसे दो दिनोंकी यात्राके बाद सागरमें बवण्डर उठा। आरम्भमें आँधीका वेग कम था। इस प्रकारकी आँधियोंका अभ्यस्त था सागरक। उसने प्रभंजनकी कुछ चिन्ता न की। वह पूर्ववत् वेगसे पश्चिम दिशाकी ओर बढ़ चला। परन्तु कहाँ थी वह पश्चिम दिशा ?

मेघ मँडराने लगे और प्रातः जब वसुबन्धुके नेत्र खुले, उसके नाविकाध्यक्षने उसे मेघोंका वह संघट्ट दिखाया, जिससे सारा आकाशमण्डल आच्छन्न हो गया था। वसुबन्धुके ललाटपर चिन्ताकी गहरी रेखाएँ दौड़ गयीं।

उसने अध्यक्षसे पूछा, "अब क्या होगा, सिंहलक ?"

"कुछ नहीं, स्वामिन्, आशा है सब ठीक हो जायेगा। मोचक और प्रहारकको दूर-दूर चलनेको कह देता हूँ।"—सिंहलक बोला।

वसुबन्धु पोतके भ्रूभागपर गया, फिर गरजते सागर और तड़पते मेघोंका युद्ध देख वह अपने शयन-गर्भमें प्रविष्ट हुआ। सिंहलकने मोचक और प्रहारक रक्षकपोतोंको दूर-दूर रहकर चलने और थोड़ी-थोड़ी देरपर वाद्यसे सूचना देनेको कह दिया।

दिन-भर सागरक सागरकी उत्ताल तरंगोंसे लड़ता हुआ बढ़ता रहा। परन्तु उसका दिशाओंका अनुमान ठीक न रह सका। फिर भी वह बढ़ चला। वसुबन्धु कभी उसके भ्रूभागपर, कभी कर्णपर, कभी कूपदण्डके नीचे दिन-भर फिरता रहा। अनन्त सम्पत्तिके स्वामी पद्मपति वसुबन्धुका अगाध धन इस पोतमें भरा था और उस सम्पूर्ण धनके बराबर उसके पास इस समय संसारका वह अमूल्य शुभ्रकान्त मोती था, जिसका आसरा विश्ववाणिज्यका केन्द्र ऋद्ध रोम देख रहा था, जिसके क्रयके निमित्त वहाँके श्रीमान् परस्पर उलझ रहे थे, बाजियाँ लगा रहे थे, ऋण ले रहे थे। वसुबन्धुकी चिन्ता सार्थक थी और उसका चिर सखा सिंहलक उसके दुःख-सुखका साथी था—समानधर्मा, सहानुभवी। वसुबन्धु तो थककर जब कभी शयनगर्भमें भी जा घुसता परन्तु सिंहलकको क्षण-भर भी शान्ति न थी। रात्रिन्दिव वह पोतपर इस ओरसे उस ओर दौड़ता नाविकोंको

आदेश देता रहता। जब सन्ध्या हुई, समुद्रका गर्जन और भी गम्भीर हो चला, वसुबन्धु अपने शयन-गर्भमें फिर जा घुसा। मोचक और प्रहारककी वाद्य-ध्वनि थोड़ी-थोड़ी दूरपर रह-रहकर सुन पड़ती थी। वसुबन्धुने खिड़कीसे एक बार बाहर देखा फिर वरुणदेवको कर जोड़ भविष्यको दैव-पर छोड़ वह पर्यंकपर जा लेटा। धीरे-धीरे चिन्ताके भारसे दबी उसकी आँखें दुखतीं-दुखतीं लग गयीं, उस घहराते सिन्धुके ऊपर।

प्रातः जब सिंहलकने वसुबन्धुको जगाया, वसुबन्धुने कहा, "मैं क्या कर सकता हूँ सिंहलक? धन मेरा है परन्तु यदि वरुणदेव उसे स्वीकार करना चाहें तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है? पर जीवनका मूल्य अधिक है। संसारकी सारी सम्पत्ति भी मानवरक्तकी एक बूँदका मूल्य नहीं हो सकती। इन प्राणियोंकी रक्षाका यदि कोई प्रबन्ध सोच सको तो सोचो। मोचक और प्रहारक साथ-साथ चल रहे हैं न?"

वसुबन्धुने *'शुभ्रकान्त' को रात्रिमें ही अपने हृदयके पास रख लिया* था। उसने उसे अब और कस लिया।

सिंहलकने ठण्डी साँस भरकर धीरे-धीरे कहा—"स्वामिन्, मोचक और प्रहारककी वाद्यध्वनि निशीथमें ही झंझावातमें विलुप्त हो गयी।"

वसुबन्धुकी भृकुटियोंमें विशेष बल पड़ गये। सिंहलकके कन्धेपर हाथ रखे वह बाहर आया, कूपदण्डके नीचे। आकाश और सागरके प्राचीर क्षितिजमें खो गये थे और स्वयं क्षितिज सागरकी उठती तरंगोंकी ओट हो गया था। चारों ओर मेघोंकी श्यामतासे अन्धकार छाया हुआ था और कई दिनोंसे कुपित इन्द्र गरज-गरज बरस रहा था, विद्युत् चमक रही थी। उस विद्युत्के प्रकाशमें तरंगोंके ऊपर उठते रन्ध्रोंसे जलस्रोत फेंकते विशा-लाकार तिमियोंके मुखविवर क्षण-भरके लिए दिखाई देते फिर अन्धकारमें विलीन हो जाते। अनेक मातंग-नक्र, सागर-भुजंग, जल-बाजि और विविध मत्स्य यकायक वेगसे उछलते, लहरोंपर लोट-लोट उलटते, फिर सागरके उदरमें पैठ जाते।

इन विशाल, भयानक जन्तुओंको देख वसुबन्धुका हृदय बैठ चला। मोचक और प्रहारकका अन्त सोच वसुबन्धु काँप उठा। सागरके आरोहियोंके भीमकाय सामुद्रिक जीवोंके उदरमें पैठनेकी कल्पना कर गिरते हुए उसने धीरे-धीरे भर्रायी वाणीमें सिंहलकसे अनुनय की—"सिंहलक, आज इन अभागोंको किसी प्रकार रक्षा कर। वसुबन्धु तुझे अपनी सारी सम्पत्ति दे देगा।"

सिंहलकने वसुबन्धुको अपनी बाहुओंमें सँभालते हुए हृदयसे कसते हुए कहा, "स्वामिन्, यदि ये लहरें मनुष्यकी आज्ञा मानतीं तो फिर क्या कहना था। प्रकृति शासन नहीं मानती, शासककी आज्ञाएँ उसके सम्मुख कुण्ठित हो जाती हैं।"

सिंहलकने अपनी भीगी आँखें पोंछ लीं, फिर उसने प्रमुख नाविकको संकेतसे बुलाया। चारों ओर 'वरुण' 'वरुण' की पुकार मची थी।

"मत्स्यक, स्वामीको शयनगर्भमें भेज दो। दो प्रहरी सदा उनके पर्यंकके समीप रहें। वे बाहर न जाने पायें। उनका मस्तिष्क आज ठिकाने नहीं है। और देखो, पोत-दण्ड उखड़े जाते हैं। यदि कहीं एक साथ उखड़ गये तो पालोंके वेगसे पोत समुद्रके उदरमें यकायक उलटकर पैठ जायेगा—पालोंको खोल दो, सागरकको सागरकी दयापर छोड़ दो।"

सिंहलक वसुबन्धुको मत्स्यकके बाँहोंमें छोड़ स्वयं सागरकके कर्णपर जा बैठा। पाल खुल गये। पोत-दण्ड नंगे खड़े थे, उनकी रज्जुओंके छोर सिंहलकके चरणोंमें मोटे पच्चरोंसे बँधे पड़े थे।

चौथे दिन आँधी थमी, परन्तु कुछ जल बरसता ही रहा। वसुबन्धु भी आशासे हृदय भरे सिंहलकके समीप कर्णपर बैठा रहता। आठवें दिन मेघ छँटे, सूर्य चमका, दुर्बल किरणोंके साथ। मोचक और प्रहारक न दिखाई पड़े। वसुबन्धुने आँसू-भरे नेत्रोंसे सिंहलककी ओर देखा परन्तु पूछा कुछ नहीं। उसने उनको नियतिपर छोड़ दिया। सिंहलक दूर पूर्व क्षितिजकी ओर निर्निमेष देख रहा था।

जब प्रमुख-नाविककी छाया कर्णके पार्श्वपर पड़ी, सिंह्लकने उसे देखा। उसने उससे पूछा, "मत्स्यक, कहाँ हो ?"

"यही पूछने चला था, स्वामिन्।" मत्स्यक बोला।

वसुबन्धुने सिंह्लककी ओर कुछ घबराहटसे देखा।

सिंह्लकने मत्स्यकसे फिर पूछा, "मत्स्यक, खाद्य-सामग्री प्रचुर मात्रामें है न ?"

"प्रचुर, स्वामिन्, छह मास पर्यन्तकी।" मत्स्यक कुछ प्रसन्न-सा बोला।

वसुबन्धुकी ओर देखते हुए सिंह्लकने कहा—"अब कुछ चिन्ता नहीं, स्वामिन्, यदि फिर झंझावात न उठा तो कभी-न-कभी किसी-न-किसी तटपर जा ही लगेंगे। पर हाँ अब कदाचित् मोचक और प्रहारककी आशा छोड़ देनी होगी।"

वसुबन्धुके प्रसन्न वदनपर चिन्ताकी छाया दौड़ पड़ी।

महीनों बाद तट दिखाई पड़ा। आनन्दकी लहर सागरकके प्राणियोंमें बह चली। वसुबन्धु दौड़-दौड़कर कभी कर्णपर कभी भ्रूभागपर जाने लगा। किसीको ज्ञात नहीं—कहाँ पहुँचे। परन्तु मार्गस्थ हो जानेसे जानमें जान आयी।

'तट दीखा', 'तट दीखा' की ध्वनिसे सागरकके कोष्ठ-प्रकोष्ठ गूँज उठे। वरुणको जन-जन धन्यवाद देने लगा, वसुबन्धुने दौड़कर सिंह्लकको बाहुपाशमें कस लिया।

लगभग एक प्रहरके बाद सागरक तटके समीप पहुँचा। दूरसे ही भल्लधारी श्वेत नरोंकी एक खड़ी पंक्ति दिखाई पड़ी। वसुबन्धु-सिंह्लकके आगे यवन-दुभाषिया मगलक खड़ा था।

मगलक सहसा बोल उठा—"पोत शीघ्रतासे सागरकी ओर घुमा दो। तटपर शत्रु हैं, शीघ्र आक्रमण करेंगे।"

मगलकने फिर बताया कि उनका पोत फ्रैंकोंके उत्तरमें आँग्ल और त्यूतनोंके बीच जा पहुँचा था। परन्तु अब कोई डरकी बात नहीं थी।

सागरकका मुख लौट पड़ा—स्पेनकी ओर। सागरक अतलान्तकमें था और उसका रोममें पहुँचना अब केवल सप्ताहोंकी बात थी। सागरकमें उत्सव होने लगे।

रोमके बन्दरमें सागरक खड़ा था, थका। वसुबन्धु और सिंहलक रोमन करोड़पतियोंसे सागरकके एक कक्षमें वाणिज्यसम्बन्धी मोल-तोल कर रहे थे। भ्रान्त पोतके लौटनेपर उसके संकटका हाल सबको ज्ञात हो चुका था। लोग उसकी रक्षाकी कथा सुननेको टूटे पड़ते थे। बन्दरमें जैसे सारा रोम उबल पड़ा था। अंगसे अंग छिलता था। इसी सागरकमें विश्व-विख्यात 'शुभ्रकान्त' मोती भारतसे आया था। रोमके नर-नारी, बाल-वृद्ध उसकी प्रभाका दर्शन करनेको लालायित थे, उमड़ पड़ते थे। बीच-बीचमें रोमन सैनिक ऊँचे चमकते टोप पहने बर्छे हाथमें लिये आ-जा रहे थे।

यकायक रोमके विख्यात नागरिक कल्ला और तीतस दिखाई पड़े। तीतस सैनिक वेशमें था, कल्ला सम्भ्रान्त नागरिक वेशमें। दोनों परस्पर करमें कर डाले तटसे पोतकी सीढ़ियोंपर खटाखट चढ़ गये। वसुबन्धु दोनोंसे परिचित था। उनसे वह जी खोलकर मिला, फिर उसने अपने संकटकी कथा कही। विस्मय और भयसे भर दोनोंने उसके सागरककी कथा सुनी। परन्तु दोनोंका चित्त असंयत था, आकुल। उनमें-से कोई 'शुभ्रकान्त'की बात पहले नहीं पूछना चाहता था—कदाचित् उनकी उत्सुकता देख वणिक् मूल्य बढ़ा न दे।

जब तीतससे न रहा गया, उसने वसुबन्धुसे कहा, "हमने 'शुभ्रकान्त' की बड़ी चर्चा सुनी है, वसुबन्धु।"

वसुबन्धुने कहा, "हाँ 'शुभ्रकान्त' आपकी वस्तु है, आप उसे देखें।"

वसुबन्धुके संकेतसे सिहलकने 'शुभ्रकान्त' सामने रख दिया। वैदूर्यकी छोटी डिबियामें वह विशाल 'शुभ्रकान्त' मोती रखा था। भीतरसे ही वह डिबियाकी सीमाएँ लाँघ चमक रहा था और उसकी आभा वैदूर्यके रंगसे अनेक रूप धारण कर रही थी। दोनों ग्राहकोंने एक-दूसरेको देखा, दोनों चकित रह गये।

वसुबन्धुने वैदूर्यकी डिबिया खोलकर मोती अपनी हथेलीपर रखा। शुभ्र मोती वास्तवमें निर्मल, 'शुभ्रकान्त' था। उसका धवल धाम अनिन्द्य था।

वसुबन्धु हाथ फैलाकर तीतससे बोला, "क्या दोगे इस वणिक् दुर्लभ मोतीका, तीतस ?

"सहस्र दीनार"—तीतस बोला।

"पाँच सहस्र तो इसके स्वदेश—शूर्पारक—में ही मिलने लगे थे, तीतस।"

"दस सहस्र तक मैं इसके दे सकता हूँ, वसुबन्धु"—कल्लाने धीरे-से कहा।

तीतस नहीं जानता था कि कल्ला सोफ़ियासे 'शुभ्रकान्त' की भेंटकी प्रतिज्ञा कर चुका है। वह कुछ हँसता-सा, कुछ गम्भीर-सा होकर कल्लाकी ओर देखने लगा। कल्ला गम्भीर था। वह एकटक मुक्ताकी ओर देख रहा था।

"सुना, तीतस ? कल्ला मोतीके दस सहस्र देगा"—वसुबन्धुने हँसते हुए कहा।

तीतसने कल्लाकी ओर फिर देखा। वह गम्भीर बना खड़ा था, पूर्ववत्।

तीतसने कहा, "बारह सहस्र !"

कल्लाने धीरेसे कहा, "पन्द्रह !"

तीतसने कुछ क्रुद्ध हो पुकारा, "कल्ला !"

कल्लाकी दृष्टि मोतीसे न हटी।

तीतसने कहा, "बीस !"

कल्लाने धीरेसे उत्तर-सा दिया, "पचास !"

तीतस झल्लाया हुआ उसी उच्च स्वरमें बोला, "एक लाख !"

कल्लाने शान्त स्वरसे कहा, "दो !"

तीतसने कहा, "पाँच !"

कल्ला बोला, "दस !"

वसुबन्धुके नेत्र एकसे दूसरेपर करघेकी नलीकी नाईं निरन्तर आते-जाते रहे।

तीतसने चिल्लाकर कहा, 'मिलान !'

कल्लाने उत्तर दिया, 'वेनिस !'

तीतसने काँपते स्वरमें कहा, "त्यूनिस ! पादुआ !"

धीमे पर दृढ़ता-भरे स्वरमें कल्लाने कहा, "आतेलियर !"

तीतस काँप गया। 'आतेलियर' कल्लाका विख्यात प्रासाद था—रोमके ऐश्वर्यका नमूना, संचित कलाका भवन। कितने ही राज्य 'आतेलियर' के मूल्यमें क्रय किये जा सकते थे। तीतसने जब कल्लाकी ओर देखा वह तब भी एकटक वसुबन्धुकी हथेलीपर पड़े 'शुभ्रकान्त' को निहार रहा था। तीतसने उसे विक्षिप्त जाना और दाँत पीसता वह कमरेसे बाहर निकल गया।

मोती बिक गया। 'आतेलियर' उसी दिन रोमन कान्सुलके दफ़्तरमें भारतीय वणिक् वसुबन्धुके नाम चढ़ गया। रोमन नागरिकोंने दाँतों तले उँगलीं दबा लीं।

रात्रिके अन्धकारमें पर्यंकसे उठते हुए कल्लाकी पीठमें तीतसकी कटार भरपूर पड़ी। सोफ़ियाके हाथसे छूटकर मोती दूर जा पड़ा। उसे ढूँढ़नेके

अर्थ तीतसने जब आगे बढ़ना चाहा, चिन्नाके छुरेसे आहत वह उसी पर्यंक-पर जा गिरा।

रोमके दो सम्भ्रान्त ऋद्ध कुल बिखर गये। भारतीय मोती अन्धकार-में पड़ा उनका बिखरना निर्निमेष देखता रहा।

२७ अक्तूबर १९४०
प्रातः ५—८



प्रतिशोध

[प्रस्तुत कहानी आन्ध्र-सातवाहन राजा हालसे सम्बन्ध रखती है। इसका आधार कल्पना है। हाल स्वयं विशिष्ट कवि था और उसकी रची 'गाथासप्तशती' प्राकृत साहित्यका अमूल्य रत्न है। शक-क्षत्रप ईरानी सम्राटोंके भारतीय शासक (गवर्नर) थे, जो कालान्तर में स्वतन्त्र हो गये थे। इनके पाँच कुलोंमें-से तीन विख्यात कुलोंने मथुरा, महाराष्ट्र और मालवामें राज्य किया। पश्चिमी क्षत्रपोंमें नह-पान और रुद्रदामा विशेष विख्यात हुए। 'श्रेणी' शिल्पि-संघका नाम था। 'चरित्र' उनके नियमोंको कहते थे। 'नैगम' व्यापारियोंकी सभा थी। वैसे ही पौर, जानपद भी क्रमशः नगर और देहातकी प्रजाकी संस्थाएँ थीं। समय : प्रथम शती ई० पू० और प्रथम शती ई०।]

"कुभे !"

"राजा।"

"वैतालिकका स्वर सुना ?"

"सुना, राजन्, निशा उषामुखी हो चली है, मलय मार्ग बुहार रहा है, चन्द्र अपनी मरीचियाँ बटोर रहा है, रजनी-गन्धासे मकरन्द झर-झर झर रहा है—"

"और वह कम्पित स्वर, कुभे ? क्या वह भी सुन पड़ा ?"

"नहीं, मन्दाकिनी अभी न सुन पड़ी।"

"परन्तु मैंने अभी-अभी उसकी कलकल सुनी थी।"

"वह अन्तर्नाद था, राजा, संचित कामना-द्वारा प्रजनित।"

"तो क्या अन्तर्नादकी प्रतिध्वनि नहीं, कुभे ?"

"क्यों नहीं ? वह सुनो वह चिरपरिचित स्वर, मन्दाकिनीकी कलकल, अन्तर्नादकी प्रतिध्वनि...."

कुभा कदाचित् कुछ और कहती परन्तु हालके उठे करोंकी छायाने उसका मुख बन्द कर दिया। हाल वातायनके बाहर सिर निकाल व्यग्रता-पूर्वक कुछ सुनने लगा था। उसका दक्षिण कर अब भी कुभाकी ओर उठा नीरव रहनेका आदेश कर रहा था। दूर मादक स्वरकी प्रतिध्वनि उठ-उठ निलय हो रही थी।

"सच ही, कुभे, अन्तर्नादकी प्रतिध्वनि सजीव हो उठी।"—हालने वातायनके अलिन्दमें कुछ और झुकते हुए कहा, जब दूरकी स्वर-लहरी विरामके अर्थ उतरी।

स्वर-लहरी फिर उठी, फिर उसकी ध्वनि दिगन्तमें भरने लगी। उसकी कम्पित मादकता सुराके रंगकी भाँति हालकी रग-रगमें चढ़ने लगी। उसका मस्तक धीरे-धीरे कम्पित होने लगा। दूर, सुदूर प्राचीके क्षितिजसे मन्द ध्वनि उठती और धीरे-धीरे चतुर्दिक् पसर जाती। हालका व्यग्र हृदय उसकी प्रतिध्वनिसे भर उठता, उसकी रोमावलि यकायक खड़ी हो जाती।

धीरे-धीरे दूरका स्वर समीप होने लगा। राजमार्गके गवाक्ष उत्सुक मस्तकोंसे भरने लगे। स्पष्ट स्वरके विस्तारको हालने सुना "जागो रे जागो!"

"जागो रे जागो!"—आधारसे क्षिप्त स्वरके पूर्व ही जगत् जाग चला था। निशाके अवसानसे नहीं, मलयके स्पर्शसे नहीं—श्रवणके लोभसे, अन्तरकी कल-कलसे स्वयं हालका कवि-हृदय कुछ स्मृति कुछ विस्मृतिसे रीझ उठता, कुछ गुन कुछ गा उठता और कुभाका पर्वतीय विलासी मन लोट-पोट हो जाता। जब हाल अनमना-सा श्रेणि-नैगमोंके व्यवहारोंको,

पूग-पौरोंके चरित्रोंको दिवसके आरम्भसे अवसान तक सुलझाता, उसका वह अनमना मन अन्तर्नादकी प्रतिध्वनिमें उलझा रहता और वह बारम्बार उसे प्रतिक्षण स्मरण और विस्मृत होती लयकी ओर लगा देता। कुभाके भावाकाशमें भी मन्दाकिनीकी अनन्त लहरें उठतीं और उनका निरन्तर उत्थान-पतन उसकी सुकुमार देहको झकझोर देता।

मन्दाकिनीके प्रति हालके स्नेहकी गहराई अथाह थी। हाल उसमें डूब चला। उसका कवि-हृदय जो कभी भ्रमरके नृत्यकी भाँति फूल-फूलपर नाचता था, अब अन्तर्मुख हो चला। बाह्य उपकरण अब उसकी सौन्दर्य-पिपासा शान्त न कर सकते थे। मन्दाकिनीका रस उसके अंग-प्रत्यंगमें भिन चला था। उसकी वीणाके तारोंसे केवल एक ध्वनि निकलती—

"जागो रे जागो
जागो रे जागो"

और वह प्रमत्त हाल केवल मन्दाकिनीके मदमें चूर रहता।

मन्दाकिनी आती, उसके वातायनके नीचे खड़ी हो अपने चिरपरिचित स्वरमें जगाती—

"जागो रे जागो
जागो रे जागो"

कबका जागा हाल हृदयकी कसक दबा लेता।

एक दिन जब मन्दाकिनीका स्वर राजप्रासादके कँगूरोंमें कम्पन भरता दूरकी वायुमें विलीन होने लगा, हालके हृदयका स्पन्दन तीव्र हो चला। उसके निःश्वासोंसे आकृष्ट, दुःखी कुभाने कक्षमें उपस्थित हो कहा— "राजन्, काव्यकी अन्तर्मुखी प्रगति वेदनाका जनन करती है, उसका विषय सूक्ष्म है। कामना स्थूल-भूतकी उपासिका है, उसका शमन तृप्तिसे होता है। तुम काव्यकी परिधिसे बाहर कामनाके मार्गमें बढ़ चले हो।"

हालने धीरे-धीरे कुभाकी ओर नेत्र फेरे। उन नेत्रोंमें क्या था, सो कुभा न जान सकी। उनका पथ सूना-सा दिखाई पड़ा, उनका लक्ष्य अगोचर-सा प्रतीत हुआ।

हाल कुछ न बोला।

कुभा कुछ और समीप सरक आयी।

"सुना, राजन् ?"—उसने पूछा।

हाल अभीतक उसकी ओर एकटक देख रहा था।

वह बोला—"सुना !"

भारी, फैलते स्वरमें न शक्ति थी, न अर्थ था। कुभा चुपचाप हालके उन्मुख वदनको कुछ देर तक निहारती रही।

फिर कुछ और समीप सरककर हालके नेत्रोंमें देखती हुई-सी उसने फिर पूछा—"क्या सुना ?"

"सुना—'काव्यकी अन्तर्मुखी प्रगति वेदनाका जनन करती है, उसका विषय सूक्ष्म है। कामना स्थूल-भूतकी उपासिका है, उसका शमन तृप्तिसे होता है। तुम काव्यकी परिधिसे बाहर कामनाके मार्गमें बढ़ चले हो'।" —हाल बोला।

शब्द निष्प्राण थे, स्वर अस्पष्ट, पर स्मृति सतर्क थी।

कुभा धीरे-धीरे हट गयी, कक्षसे बाहर, हालके नेत्र-पथसे पृथक्। भावनाओंके जगत्में वासनाकी अभिसृष्टि उसे स्वयं कुछ अयुक्त-सी लगी।

कुभाने राजाके साथ जागकर रात काटी। विक्षिप्त राजाके हास-विलास छूट चले। एला-लवंगसे बसा भोजन नीरस हो चला, ताम्बूलवल्ली सूख चली। कुभाका विलास-विभ्रम कबका निष्फल हो चला था। जब उसने अपने विशाल नेत्रोंको फैला, दोनों करोंकी उँगलियोंका जाल-ग्रन्थन कर त्रिभंगी हो अपना अमोघ अस्त्र फेंका, हालका हृदय और भी कुढ़ उठा।

उसने पूछा—''कुभे, क्या तुझे अपनी प्रतिज्ञा इतनी शीघ्र विस्मृत हो गयी ? क्या तुमने नहीं कहा था कि हम दोनोंमें अब केवल अखण्ड मैत्री होगी और तुम अपने उपकरणोंको यथासम्भव मुझसे दूर रखोगी ?''

कुभा लजा गयी। लज्जाजनित रोषको दबा वह राजाके पर्यंक पर उसके अत्यन्त निकट जा बैठी। राजाने रमणीके गोरे कन्धेपर अपना श्याम चिबुक रख दिया। उसके नेत्रोंसे वारिधारा उमड़ पड़ी। कुभाके स्कन्धसे होकर उसके स्तनमण्डलोंके बीच रोमावलीको छेड़ती, खड़ी करती।

फिर जब मन्दाकिनीका स्वर रह-रहकर धुँधले तारकमण्डलमें कम्पन भरने लगा, कुभा यकायक उठी। अर्द्ध-विस्मित, अर्द्धविक्षिप्त राजाको मन्दाकिनीकी कल-कल सराबोर करने लगी। उधर कुभा निर्वात दीपोंके धुँधले प्रकाशमें सोपान-मार्गोंसे दौड़ती एक विमानभूमिसे दूसरीपर होती सर्वोच्च पृष्ठतलपर जा खड़ी हुई। नीचे मन्दाकिनीके पीछे-आगे जन-समुदाय धीरे-धीरे बढ़ता आ रहा था। जन-समूहके समक्ष कुभाका मनोरथ सिद्ध न हो सकता था। जिस तीव्रतासे वह पृष्ठतलोंपर चढ़ी थी, उसी तीव्रतासे वह नीचे उतर चली।

मन्दाकिनीका स्वर राजप्रासादके मुखद्वारसे आगे सुन पड़ने लगा था। गज-शालाके स्तम्भोंसे अपनेको बचाती, हयशालाके मन्दुरोंके बीच सावधानीसे बढ़ती हुई कुभा रथ-शालाके द्वारपर जा खड़ी हुई। बाहर राजाका प्रमुख सारथी सोया था।

उसे जगाकर कुभाने कहा, ''अरुण, तनिक 'प्रवह'को शीघ्रतापूर्वक जोत तो ले।''

सारथीने सिर झुका लिया। उसके संकेत करते ही रथशालाके सतर्क प्रहरीने द्वार खोल दिये और पलक-भरमें रथ जुत गया। मन्दाकिनीका स्वर आकाशकी फूटती लालीमें शब्द भर रहा था। 'प्रवह' का मंजु तोरण लटकती कुसुम-लड़ियोंसे कुभाका मुख-मण्डन करने लगा। कुछ ही देरमें वह हालका वायु-रथ राजमार्गपर अद्भुत वेगसे दौड़ने लगा। नगरकी उप-

वन-परम्पराकी परिक्रमा कर जब रथ राजप्रासादकी ओर लौटा, शिल्पि-संघके विशाल श्रेणि-भवनका उन्नत-शिखर अब भी मन्दाकिनीका स्वर प्रतिध्वनित कर रहा था।

कुभाके आदेशसे रथ रुक गया।

कुभाने पथ रोक पूछा—"मन्दाकिनी, सरल गायक मन्द पड़ा है। सारंग लुब्धककी स्वर-माधुरीसे आहत हो निष्प्राण हो चला है।"

मन्दाकिनी अपनी करुण मुखश्रीको ईषत् हास्यसे चमकाती हुई बोली, "उससे कहो—शब्दोंमें नव-रस भरे। सारंग लुब्धकके स्वर-जालमें आत्म-समर्पण कर दे।"

कुभा मन मारे रथपर आ बैठी। मन्दाकिनीकी स्वर-लहरी और भी तरल, और भी विकम्पित हो चली।

कुभा लौटी। परन्तु उसने अपना प्रयास न छोड़ा। नित्य वह उसी समय श्रेणि-भवनके समीप मन्दाकिनीसे मिलती और हालका मुक्त-सन्देश कहती, स्वयं हालका भी अनजाना।

एक रात्रि जब राजाने नित्यकी भाँति अपनी करुण कथा कुभासे कही, कुभा उसके मनोवेगसे कुछ त्रस्त हो उठी। राजाके शब्दोंमें आज कुछ विशेष पीड़ा थी, उसके स्वरमें विचित्र अस्थिरता थी।

कुभा नित्यकी भाँति प्रासाद-पीठसे नीचे उतर गयी। दूर नगरके उपवनोंकी सीमापर उसने मन्दाकिनीसे कहा, "मन्दाकिनि, आन्ध्र-सात-वाहनोंका वैभव स्वप्न-सा दिखने लगा है। कुलांकुर हिमके प्रभावसे सूख चला है।"

"तो तू उसे रस-सुधासे क्यों नहीं सींचती?"—दिशाओंकी ओर दौड़ती वाणीको लौटाती-सी मन्दाकिनीने मानो कुछ कहा।

"न, वह मेरी सुधा-धारा तो कबकी सूख चुकी, बहन। अब तू ही उस अंकुरको सींच।"—कुभा बोली।

"अच्छा तो काल-यापन कर। और देख, उससे कह वह इन सात वर्षोंकी करुण-स्मृतिमें गाथा लिखे।"—मन्दाकिनी नित्य पथपर चल पड़ी।

जब कुभाने जाकर हालसे मन्दाकिनीका वक्तव्य कहा, वह कुछ चकित हो उठा। उसे कुछ विस्मृत रहस्य-सा रह-रहकर विकल करने लगा। परन्तु वह कुछ भी स्मरण न कर सका। 'इन सात वर्षोंकी करुण-स्मृति' में कुछ भेद-भरा निर्देश था, जिसे सोच-सोच हाल विचलित हो उठता। रह-रहकर वह कुभासे पूछता—"कुभे, क्या रहस्य है 'इन सात वर्षोंकी करुण-स्मृति' का ?" परन्तु कुभा कुछ न कह सकती थी। रह-रहकर राजाका हृदय किसी अनजाने शापकी फलित होती व्यथासे मथने लगता। उसके हृदयके निचले आधारसे कोई स्मृति-भावना धीरे-धीरे उठती और जबतक कुछ सजग हो उसकी चेतना उसे आँकनेको बढ़ती, वह धुँधली हो विलीन हो जाती और उसका हृदय पूर्ववत् उद्विग्न हो उठता। यह अन्त-र्मुख अभिशाप अनोखा था। इसको सहनेमें कोई उसका हाथ नहीं बँटा सकता था।

एक दिन विशेष शान्त हो हालने अपराह्णमें प्रमदवनके एक निभृत कुंजमें डेरा डाला। निदाघकी तपनके बाद पावसकी झर-झर आयी, शीतके बाद वसन्तके साधन जुटे, परन्तु राजाने निकुंज न छोड़ा। मन्त्रियोंने आ-आकर उसके प्रजारंजन-धर्मकी चर्चा की, राज-व्यवहारका स्मरण दिलाया परन्तु वह टससे मस न हुआ। उसकी लेखनी चलती रहती, उसके कण्ठसे करुण-राग निरन्तर झरता ही रहता। जब लिखते-लिखते उसके कर दुख जाते, उसकी भावनाएँ अपने भारसे उसे शिथिल कर देतीं, तब कुभा उसके करों-को अपने करोंमें ले धीरे-धीरे दबाती, उसके मस्तकको कन्धेपर रख धीरे-धीरे

सहलाती। कुछ देर बाद उसकी लेखनी फिर चलने लगती, भावनाओंका उद्रेक फिर प्रबल हो उठता। बिखरे मस्यंकित तालपत्र कुभा धीरे-धीरे एकत्र कर लेती, रसोंका वेग चलता रहता—नित्य, निरन्तर।

अमात्यने आकर कर जोड़े। हालका व्रत पूरा हो गया था, 'गाथा-सप्तशती' पूरी हो चुकी थी। पत्रोंको एकत्र कर कुभा नीवी-सूत्र पिरो रही थी।

अमात्यने कहा, "महाराज, शक-क्षत्रपोंने फिर सिर उठाया है, सात-वाहनोंकी सीमाएँ संकीर्ण होती आ रही हैं।"

हाल हँसा। उसने कहा, "आर्य, क्षत्रप महाक्षत्रप होंगे और पुलुमावि-का गौरव झुक जायेगा—बस यही न? क्षहरात-क्षत्रप महाक्षत्रप हों और पुलुमाविका गौरव झुक जाये, मुझे विशेष चिन्ता नहीं।"

अमात्यने कानोंपर हाथ धर लिये।

हाल कहता गया, "परन्तु पुलुमाविका गौरव शस्त्रपर अवलम्बित था, रक्तसे रंजित। उसे एक दिन जाना ही था। हालके गौरवकी नींव यह सप्तशती है, आर्य।"

अमात्यने स्वर्ण-वेष्टनमें बँधे उस पत्र-समूहको देखा, और वह नतमस्तक हो गया।

राजप्रासादके विशाल सभा-भवनमें विराट् आयोजन हुआ। विशाल श्रीवितानके नीचे हालके राजसिंहासनसे भी ऊँचे स्वर्णासनपर प्रौढ़ कान्तिसे फबती मन्दाकिनी बैठी थी। उसकी ऊँची सीधी नासिकाकी ऊर्ध्व रेखा ललाटसे निकलकर होठोंको झाँकती थी। उसके वर्णकी आभासे दुकूलका स्वर्णांचल कुछ मलिन पड़ गया था।

जब धूप-नैवेद्यके पसरते धूमके मध्य हालने मन्दाकिनीकी आरती उतारी, वह धीरे-धीरे मुसकरा रही थी। राजाने सप्तशती उसके फैले

करोंपर डाल दी। सभा-भवन साधुवादसे व्याप्त हो गया। सभ्यों, पौरों और जानपद-नागरिकों-द्वारा फेंके कुसुमोंसे मन्दाकिनीको केशराशि भर गयी। ईषत् हास्य-द्वारा मण्डित उसकी मुखश्री द्विगुणित हो उठी। आनन्दके अतिरेकसे अवसन्न हालने घुटने टेक दिये। सारी सभा सहसा झुक पड़ी। चँवर-धारिणी कुभा मन्दाकिनीके पीछे खड़ी विहँस रही थी।

हालका राजप्रासाद दीपमालाओंके जालसे दमक रहा था। उसके शयनकक्षके सामनेकी दीर्घिका कदलियोंके स्तम्भोंमें पुष्पोंके हार पहने विहँस रही थी। आज हालकी विजय-रात्रि थी। अनेक प्रिय भावनाओंके तारतम्यसे उसका मुखमण्डल प्रफुल्ल हो रहा था।

मादक मुसकान लिये उसने अपने शयन-कक्षमें प्रवेश किया। सामने अद्भुत सौन्दर्यका प्रसाधन किये मन्दाकिनी और कुभा बैठी थीं। कुभाका बीता यौवन भी मानो एक बार लौट आया था। दोनों विदेशी वेशमें सामने बैठी थीं। राजा चकित रह गया। उसे ऐसा जान पड़ा जैसे मन्दाकिनीको उसने उसी वेशमें कभी देखा हो। जो भावना उसे कुछ वर्ष पूर्व स्मृतिके चांचल्यसे उद्विग्न कर दिया करती थी वह आज फिर लौटी। पर हृदयको भले प्रकार टटोलकर भी वह उस स्मृतिकी थाह न पा सका।

उसने अपना उद्वेग छिपाते हुए कहा, "मन्दाकिनि, तुमने आजकी रात एक कथा कहनेकी बात कही थी।"

उसकी बात काटती हुई-सी मन्दाकिनी बोली—"सुनो, राजन्, सुनो वह कथा।"

मन्दाकिनीके स्वरमें विशेष कम्पन था और उसकी चेष्टामें थी विशेष तीव्रता।

हालने देखा, मन्दाकिनीके सहज श्वेत मुखमण्डलपर एक किञ्चित् श्याम-रेखा सी दौड़ गयी।

मन्दाकिनी कहने लगी, "राजन्, दस वर्ष हुए विख्यात क्षहरात वंशका एक क्षत्रप-परिवार ताप्तीके दक्षिण कोणमें राज करता था।"

हाल कुछ स्मरण करता-सा बोला—"हाँ, हाँ, देवि।"

मन्दाकिनीके स्वरकी तीव्रता कुछ और बढ़ गयी।

"पुलुमाविके एक विख्यात वंशजने अपने यशके विस्तारके अर्थ उस वंशका नाश करना चाहा।"

हाल मन्दाकिनीके श्वेत वर्णपर श्यामरेखाकी बढ़ती हुई गहराईकी ओर देखता हुआ मन्त्रमुग्ध-सा बोला—"अच्छा, फिर ?"

"फिर शक्ति और विक्रमसे प्रमत्त उस सातवाहनने क्षत्रपोंका वह राज्य जीत लिया।"

हालकी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी, कथाके प्रवाहके साथ। मन्दाकिनीकी मुखकान्तिको श्यामता और घनी हो चली थी। उसका स्वर कुछ विकृत और भारी हो चला था। कुभाके नेत्रोंमें जल झलक रहा था। हाल मन्दाकिनीकी ओर बढ़ गया।

"जब बन्दी क्षत्रपको लिये सातवाहनके सैनिक विजयोके स्कन्धावारोंकी ओर चले, पराजित क्षत्रपकी युवती भार्या प्राचीरके ऊपर खड़ी अपने सैनिकोंको ललकार रही थी।"

मन्दाकिनीका मुखमण्डल हालके सामनेसे सहसा हट गया और एक धुँधली स्मृति-रेखा उसके नेत्रोंके सम्मुख दौड़ गयी। उसके नेत्र यकायक चमक उठे।

उसने सावेग पूछा, "वह कौन था, मन्दाकिनी ?"

मन्दाकिनीने उसका प्रश्न जैसे न सुना, कहती गयी—"उसके सैनिक मारे गये। फिर वह स्वयं विजेताके शिविरमें पहुँची अपनी दासी कुनालीके साथ।"

"ठहरो, मन्दाकिनि, ठहरो। अनोखी बात है।"—हाल क्षण-क्षण सजग होता हुआ बोला।

"मुझे समय नहीं है, हाल, मैं जल्दीमें हूँ। अपनी अनोखी बात फिर कह लेना। सुनो—"

हाल मन्त्रमुग्धकी भाँति चुप हो रहा। मन्दाकिनीके होठोंकी नीलिमा प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी। हाल एकदम उसकी ओर बढ़ा। परन्तु मन्दाकिनीके पार्श्वसे उठकर कुभा हाल और मन्दाकिनीके बीच आ रही।

मन्दाकिनी बोली, "राजन्, कथाके समाप्त होने तक वहीं बैठे रहो-" फिर उसने बन्दीकी प्राण-भिक्षा माँगी। परन्तु उस समय विजेतामें औदार्यकी प्रचुर मात्रा न थी—उसने प्राण-भिक्षा न दी और बन्दी····"

हालकी स्मृति शीघ्रतासे लौटी आ रही थी और मन्दाकिनीके मुखकी श्यामता उसे डाँवाडोल कर रही थी।

मन्दाकिनीका स्वर और कठोर, पर निर्बल हो चला था—"बन्दीने वधिकका खड्ग अपनाया।"

हाल विक्षिप्त-सा हो पुकार उठा—"शक-रानी, तुम!"

"हाल! मैं।"—मन्दाकिनी बोली, अपने विकृत दुर्बल स्वरको दृढ़ करती हुई, "कुनाली, शत्रुको आगेकी कथा सुना।"

मन्दाकिनीको कुभाने अपने अंकमें सँभाल लिया।

हालके मुखसे फिर एक चीत्कार निकली—"कुभे, तू कुनाली!"

राजाकी स्मृति फिर विलुप्त हो रही थी। उसने मन्दाकिनीका प्राण-हीन शरीर गिरते देखा, परन्तु उसको अवसन्न संज्ञाहीन देहमें अपनेको ही सँभालनेकी शक्ति न थी।

१४ अप्रैल १६४१
अपराह्ण २-४



अतृप्ति

[प्रस्तुत कहानी अगली कहानीके साथ सम्बद्ध है। दोनोंमें पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धका सम्बन्ध है। दोनोंको एक साथ पढ़ना चाहिए। चरक कनिष्कके समकालीन थे, अश्वघोष और नागार्जुन भी। पुरुषपुर, आधुनिक पेशावर, सम्राट् कनिष्ककी राजधानी थी। समय : ईसाकी प्रथम शती।]

रासायनिक व्यस्त था। द्रव्योंके विश्लेषण और संश्लेषणमें तो वह सदा ही व्यस्त रहता, परन्तु इधर कुछ कालसे उसके व्यसनका परिमाण बढ़ गया था और आज उसकी त्वरा नित्यसे अधिक थी। परन्तु इस त्वरामें असावधानी न थी, अत्यधिक पटुता और सतर्कता थी। विशाल कमरेकी भित्तियाँ अनेक प्रकारकी पट्टियोंसे आवृत थीं और इन पट्टियोंपर शतों-सहस्रों बोतलें रखी थीं। बोतलें शीशे, स्फटिक, वैदूर्य, नीलम, स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल, लौह, काष्ठ सब प्रकारकी थीं। प्रत्येकमें तरल द्रव्य भरा था और प्रत्येक द्रव्यके रसका अपनेपात्रसे विशेष सम्बन्ध था।

एक ओर कोनेमें कई प्रकारकी आँचें जल रही थीं—लाल, पीली, नीली। ज्वालाओंको प्रज्वलित करनेवाले ईंधनके अनेक प्रकार थे और फलस्वरूप विविध प्रकारकी लपटें प्रस्तर-पट्टिकाओंसे घिरे कुण्डोंसे ललक-ललक ऊपरके लौह-पट्टसे टकरातीं और उसे चाट-चाट लौट जातीं। लाल और पीली ज्वालाओंमें कहीं भी धुएँका नाम न था। केवल नीली आँचकी सीधी लौकी पतली जिह्वा शीशेके अधोमुख विवरमें प्रवेश कर उसके

भीतरसे चमकती और उससे प्रसूत सूत-सा काला धुआँ उस विशाल सर्पा-कार कुम्भकी हंसग्रीवासे होता उसके उदरमें उमड़ता-घुमड़ता कमरेके दूसरे कोनेसे लगे उसके पुच्छभागमें जा बैठता। ताम्रकी नली लाल और पीली आँचोंके ऊपरसे होती हुई एक नीली ज्वालाके ऊपर सर्पाकार कुम्भकी हंसग्रीवासे जा मिली थी। जब रासायनिक एक विशेष द्रव्य लाल ज्वालामें डालता, अग्निमें मानो कम्पन होता और रासायनिक पीली ज्वालाके पास दौड़ उसमें एक हरित पदार्थ डाल देता। हरित पदार्थ डालते ही पीली ज्वाला कुछ मन्द पड़ जाती, फिर चिटक-चिटक स्फुलिंग फेंकती। कुछ क्षणोंके बाद विस्फोटोंका तारतम्य चलता और ज्वालाके भीतर ही अग्निके बुदबुदे-से उठते और लय होने लगते। इसी बीच रासायनिक दौड़कर कमरेके मध्य पहुँचता जहाँ ऊँची तिपाईपर स्फटिकका एक विशाल गोलार्द्ध खड़ा था। उसमें रखा काला रस एक अद्भुत यन्त्रसे निकल-निकल उस नलीके मुँहमें दौड़ता जिसका एक सिरा नीली आँचमें खो गया था। परन्तु गोलार्द्धसे निकलकर रस ज्वाला तक न पहुँच सकता था, बीचमें ही सूख जाता। यह प्रक्रिया प्रतिक्षण होती रहती। केवल जब रासायनिक दौड़कर धौंकनीसे वायु उस गोलार्द्धमें प्रवेश कराता तभी वह रस प्रबल वेगसे दौड़ता नीली आँचमें जा टपकता! उसके स्पर्श करते ही एक प्रकारका धुआँ निकलकर शीशेके सर्पीले कुण्डमें धीरे-धीरे चल पड़ता। रासायनिक दौड़कर सर्पपुच्छके अन्तिम भागमें पहुँचता और उसका सिरा खोल एक नीलमकी छोटी शीशी उससे लगा देता। धुआँ वहाँतक पहुँचते-पहुँचते एक तरल रसमें परिवर्तित हो जाता और जब वह उस शीशीमें धीरे-धीरे टपकता उसका रंग रक्त-सा आकर्षक-लाल हो जाता। रासायनिक प्रसन्न हो उसे द्वारके पास ले जाकर देखता।

घड़ियाँ बीत गयीं, पहर भी बीत चले। वृद्ध रासायनिक बाल-चंच-लतासे, लालसे पीली आँचको, वहाँसे कमरेके मध्यमें रखे गोलार्द्धको देखता—शीशेके सर्पपुच्छके समीप दौड़ता रहा। जब मध्याह्नका अवतरण होने

लगा, उसकी शीशी एक विशेष चिह्नित रेखा तक भर चली। रासायनिक रुका। शीशीको बड़े प्यारसे उसने दोपहरकी चमकती धूपमें देखा, फिर वह पार्श्वके कक्षमें जा घुसा। वहाँ दीवारसे निकली पट्टिकाके ताम्र-फलकपर एक मृतप्राय शशक मुँह और नथनोंसे फेन फेंक रहा था। रासायनिक उसकी ओर कुछ क्षण देखता रहा, फिर उसने शशकके नथने पकड़कर उनमें रसकी कुछ बूँदें डालीं, कुछ उसके कान और नेत्रोंमें। नेत्र पथरा रहे थे।

जाड़ेसे काँपते जीवकी भाँति शशक काँपने लगा। फिर यकायक उसने अपने चमकते नेत्र खोले। फेनका निकलना बन्द हो चुका था। वह उठनेका प्रयास करने लगा। रासायनिकने उसे उठाकर समीपके शुद्ध जलसे भरे हौजमें डाल दिया। शशक एक बार डूबकर निकला, फिर उछलकर नीचे कमरेमें दौड़ चला। रासायनिक मुसकराता हुआ उसे कुछ क्षण देखता रहा, फिर शान्त उल्लासपूर्वक लम्बी श्वेत दाढ़ीपर हाथ फेरता करकी शीशीको बार-बार निहारता वह गृहके अन्तःकक्षमें घुसा।

वह पुरुषपुरका जगद्विख्यात वैद्य चरक था।

पुरुषपुरकी वारांगना शशिलेखाने जिस समय चरककी प्रयोगशालाके बहिरंगमें प्रवेश किया, चरक देश-विदेशसे आये कुष्ठकाय रोगियोंकी चिकित्सामें लगा था। जब सेवकने चरकसे निवेदन करनेके लिए उससे उसका नाम पूछा, गणिकाने कहा—"यह जन-प्रवाह वह जाने दो। मुझे जल्दी नहीं है।"

मध्याह्नके समय रोगियोंका ताँता टूटा। सेवक फिर आया। उसने पूछा—"देवि, महर्षिसे क्या निवेदन करूँ?"

"महर्षिसे कह—यवनी शशिलेखा उनके प्रसादके अर्थ उपस्थित है।"—गणिका बोली।

क्षण-भर बाद लौटकर सेवक नतमस्तक हो बोला, "देवि, अन्या-

गारमें महर्षि प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

आगे-आगे विनीत सेवक पश्चात् प्रौढ़ा यवनी अग्न्यागारको चले।

महर्षिने द्वारपर बढ़कर यवनीसे कहा, "स्वागत, शशिलेखे, पुरुषपुरके तरुण हृदयकी गति, स्वागत!"

भूमितक अभिवादनमें झुकती शशिलेखाने उत्तर दिया—"महर्षि, ख्याति ग्लानिकी जननी है वैसे ही जैसे तरुणाई जराकी। परन्तु कायाकी यह अधःप्रगति मुझे रससे विमुख नहीं करती।"

महर्षि मुसकराते हुए गणिकाकी भावभंगी देख रहे थे। बोले—"शशिलेखे, तुम प्रवाहसे परे नहीं। अब नियतिको आत्म-समर्पण कर दो।"

यवनीके पीत मुखपर गहरी छाया-सी दौड़ गयी। कुंचित लम्ब केशोंको पीछे फेंकती वह उठी और भद्रपीठके एक भागपर धीरे-धीरे बैठती हुई बोली, "महर्षि, यदि रसके अनाधिक्यसे सहमकर तरुणोंसे विमुख होती हूँ, तो प्रौढ़ प्रयास करते हैं, फिर उनके रससे प्लावित हो जब तृष्णाको जगाये जगत्की ओर देखती हूँ तब तरुण परिवार टूट पड़ता है और थकी तृष्णा एक बार फिर सचेष्ट हो उठती है, काया फिर चेतना खो वासनामें डूब जाती है। जब थकी देहको घसीटती रमणागारके निर्मल दर्पणोंमें अपनी छाया देखती हूँ, मुरझाया मुख मुझपर हँसता है, झुर्रियाँ देख हृदय बिलखता है और एक बार और युवती होने के लिए मन आकुल हो उठता है। एक बार और, महर्षि, केवल एक बार।

महर्षिने पिंगल केशोंकी छायामें आलोकको छिपते देखा। वे बोले—"शशिलेखे, दस वर्ष पूर्व तुम यहाँ आयी थीं, क्या स्मरण है?"

"स्मरण है, महर्षि, परन्तु उसे भूलनेका प्रयत्न कर रही हूँ। यही स्थल है भगवन्, और यही भद्रपीठ।" हँसनेकी चेष्टा करती हुई शशिलेखाने उत्तर दिया।

"गणिके, विलासका अन्त नहीं और कायामें मनकी गतिमें योग देनेकी शक्ति नहीं।"—महर्षि कुछ गम्भीर हो बोले।

"महर्षि, यह आपने तब भी कहा था। मैंने इसे सच पाया। परन्तु एक बार और। केवल एक बार उस तरल अद्भुत रसका आस्वादन चाहती हूँ।" यवनीने घुटने टेक दिये।

महर्षि धीरे-धीरे उठकर कमरेसे बाहर निकल गये। यवनी पूर्ववत् झुकी रही। एक बार और संसारको चकित कर देनेके निमित्त वह उठी, फिर भद्रपीठपर जा बैठी। क्षण-भरमें उसने कल्पनासे अपनी कायाका परिवर्तन देखा—उसके प्रकोष्ठकी सेविकाएँ उसका बीस वर्ष पूर्वका रूप देख चकित रह गयीं। प्रकोष्ठमें फिर नृत्य-गानका रंग जमा। सारो मध्य एशियाके तरुण फिर शशिलेखाके चरणोंमें लोटने लगे। परन्तु 'कब तक ?'—कोई मानो पूछता। शशिलेखाकी रसलिप्साको ठेस लगी। मानो उसने अपने शयनकक्षमें अपने आदर्श बिम्बमें अपनी छाया देखी—झुकी, धुँधली छाया, जर्जर, थकी काया। वह मानो रो उठी। परन्तु तरुणियोंके व्यंग्यसे प्रतिशोधकी भावना जागी। उसने लौटकर पूछा—"कबतक ?" फिर वह स्वयं अट्टहास-सा कर उठी। यह अन्तरका सजग रंगमंच था। शशिलेखा क्षण-भरमें अनन्त रूप धारण करनेवाला यह बहुरंगी दृश्य देख गयी। उसके बाहर-भीतर एक प्रकारका आन्दोलन होने लगा।

"परन्तु कबतक ? कबतक इस प्रकारके साधनोंसे प्रकृतिकी प्रगतिको चुनौती दोगी, शशिलेखे ?"—ऋषिका गम्भीर स्थिर स्वर कमरेमें गूँज-गूँज गणिकाके हृदयमें उमड़ने लगा।

अभी-अभी यह स्वर उसने भीतर सुना था। कुछ भयसे उसका मुख विद्रूप हो उठा। उसने मस्तक उठाकर महर्षिकी ओर देखा। उनके दक्षिण करमें एक छोटी शीशी थी, जिसमें रखे तरल द्रव्यका रक्तराग धातुके बाहर तक मानो चमक रहा था और जिसके ऊपर अनन्त सुनहरे बुदबुदे नृत्य कर रहे थे।

शीशीके रक्तरागने शशिलेखाके अन्तरमें उठते भावोंपर अधिकार कर मानो उन्हें फेर दिया। प्रौढ़ाके मलिन मुखपर एक अरुण आभा-सी

झलकी और उसके अवाक् होठ धीरे-धीरे कम्पित हुए।

"जबतक रासायनिक महर्षि चरककी प्रयोगशालामें उस अद्भुत भिषक्के सतर्क कर क्रियमाण रहेंगे"—वह धीरे-धीरे मन्त्र-मुग्ध-सी बोली।

"नहीं, नहीं, शशिलेखे, अब कायिक वेगको रोकना होगा—जानो, कि प्रकृतिकी प्रगति, कालके प्रयासपर चरकका कुछ वश नहीं। वह स्वयं उसका दास है।" महर्षि शशिलेखाके समीप आ गये।

सामनेके आदर्शमें यवनीने अपना प्रतिबिम्ब देखा। उसके मुखकी झुरियाँ अब भी उसपर व्यंग्य-हास कर रही थीं। परन्तु उसने जब महर्षिके करमें पूर्व-परिचित रससे भरी शीशी देखी, उसकी आशाबेलि हरी हो चली।

"प्रतिज्ञा करो, गणिके, अब चरककी प्रयोगशालामें पाँव न धरोगी।" ऋषिने कुछ कठोर स्वरमें कहा।

"प्रतिज्ञा करती हूँ महर्षि, अब चरककी प्रयोगशालामें पाँव न धरूँगी।"—उसके व्यस्त हृदयने मानो अनायास महर्षिका वाक्य दोहराया। कामीकी त्वरित अभितृप्तिकी भाँति वह कामातुरा नारी विषयके साधनोंके अत्यन्त निकट थी। कोई प्रतिज्ञा इस समय उसके लिए कठिन न थी।

महर्षिके करकी शीशीका कुछ रस उसकी रसनापर टपक भीतर बह चला। धीरे-धीरे शशिलेखा संज्ञाहीन हो चली। पीछे द्वारपर सेवक जलपात्र और वस्त्र लिये खड़ा था। महर्षिके संकेतसे उसने शशिलेखाका मुखमण्डल जलमें डूबे वस्त्रसे ढँक दिया फिर रह-रहकर उसपर छींटे देने लगा। गणिकाके वाम करकी नाड़ी वैद्यके दक्षिण करमें थी और उसकी नासिकापर-के वस्त्रका छोर चरकके वाम करकी उँगलियोंके सहारे कुछ उठा था।

धीरे-धीरे यवनीने संज्ञा लाभ की। उसने नेत्र खोले। भीतर एक अद्भुत प्राणका प्रस्फुरण हो रहा था। दौड़ पड़नेके लिए अनेक सन्धियाँ ज़ोर मार रही थीं।

यवनी उठ बैठी। उसने सामने दीवारपर लगे दर्पणमें अपना मुख देखा। वह स्वयं चकित रह गयी। बीस वर्ष पूर्व जिस रूपको खोकर वह रो पड़ी थी उसे उसने लौटते देखा। दस वर्ष पूर्व जिस कान्तिको उसने खोकर इसी रसके सहारे फिर पाया था, उसे अपने मुखमण्डलपर खेलते देख वह मुसकरायी। उसके नेत्र चमक उठे।

उसने चरकसे माँगा—"महर्षि, यह रस मुझे दे दो। मैं तुम्हें जीवन-का प्रेम-रस दूँगी।"

महर्षि उसका परिवर्तन देख कुछ हँसे। फिर कुछ कठोर हो वे बोले—"गणिके, अब चरककी प्रयोगशालामें प्रवेश न करना। और यदि तुम्हें फिर परिवर्तनकी आवश्यकता हुई तो अश्वघोष और नागार्जुनके पास जाना।"

गणिका प्रसन्नतापूर्वक उठ खड़ी हुई। वेगसे वह द्वारकी ओर बढ़ी।

महर्षिने फिर एक बार चिल्लाकर कहा—"गणिके, अपनी प्रतिज्ञा न भूलना।"

गणिकाने लौटकर व्यंग्य-हास किया और वह नटी हरिणी-सी एक छलाँगमें राजपथपर आ गयी।

महर्षि कुछ क्षण तक शीशेके तरल रसकी ओर देखते रहे फिर उन्होंने सामनेकी विशाल धन्वन्तरि-प्रतिमापर उसे बलपूर्वक फेंका। शीशी प्रतिमाके मस्तकपर चूर-चूर हो गयी, और रसका स्रोत उसके मुखपर बह चला। प्रस्तर-मूर्ति मानो कुछेक क्षणके लिए सजीव हो उठी।

चरक प्रयोगशालामें वेगसे घुसा। उसने तीन कोनोंमें लटकती बोतलों-की नलियोंका मुँह खोल दिया। स्वयं वह शीघ्रतासे प्रयोगशालाके बाहर निकल गया। उसका एकमात्र सेवक उसके पीछे भागा।

कुछ ही क्षणोंके बाद प्रयोगशालामें अनन्त विस्फोट होने लगे और

उसका शिखर अग्निकी लपटोंमें चमकने लगा। अनन्त प्रयाससे अनेक यत्नसे प्रस्तुत चरककी विख्यात प्रयोगशाला जल उठी।

चरक बाहर खड़ा उसका जलना देखता रहा।

२२ अप्रैल १६४१
अपराह्ण २–४



अभितृप्ति और अभिशाप

[इस कहानीका सम्बन्ध पिछली कहानीसे है। पार्श्व कनिष्कका गुरु था। उसीकी सम्मतिसे कनिष्कके समयमें संघकी संगीति बैठी थी। वसुबन्धु उस संगीतिका प्रधान था। उसी संगीतिमें 'महाविभाषा'की रचना हुई थी। अश्वघोष बौद्ध दार्शनिक और कवि था—बुद्धचरित, सौन्दरनन्द और सूत्रालंकारका रचयिता। नागार्जुन विख्यात भिक्षु था जिसने भक्ति-प्रधान महायानको जन्म दिया। उसीने बुद्धकी सर्वप्रथम प्रतिमा बनवायी और बोधिसत्त्वकी कल्पनाको सुन्दर मूर्त-रूप प्रदान किया। हीनयानमें मूर्तिपूजा निषिद्ध थी—केवल लाक्षणिक पूजा होती थी—बुद्धके चरणोंकी, भिक्षापात्रकी, उष्णीषकी, स्तूप, चैत्य और बोधिवृक्षकी। उद्यान हिन्दूकुशके दक्षिणका प्रदेश था, स्वातनदीके समीपका। खुत्तन आधुनिक खोटानका प्राचीन नाम था। सीताका आधुनिक नाम यारकन्द है, जो जोरकुल झीलसे उत्तरकी ओर बहती है। विषय प्रान्तको कहते थे और पुरुषपुर पेशावरका प्राचीन नाम था। कुषाणोंका वेश वेदिकाओंकी तक्षित प्रतिमाओंसे जाना जाता है। एक शक-कुषाण द्वारपालकी मूर्ति नागार्जुनी कोंडाकी स्तूप-वेदिकापर उत्कीर्ण है। कुषाण कनिष्ककी विशाल मूर्ति मथुराके संग्रहालयमें सुरक्षित है। पादपीठीपर सिंहासनपर बैठा राजा अपने पाँव रखता था। बौद्ध भिक्षुके तीन वस्त्र त्रिचीवर कहलाते थे—उत्तरासंग (ऊपरका वस्त्र), अन्तर्वासक (नीचेकी लुंगी) और संघाटी (ओढ़नेवाला शाल)। 'पौर' नगरका कोतवाल था। चरक, पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष और नागार्जुन ऐतिहासिक व्यक्ति थे—कनिष्कके समकालीन।]

कफ़सका उत्तराधिकारी देवपुत्र कनिष्क शाहानुशाहि शक्तिका अतृप्त पुजारी था। उत्तर भारतका प्रांगण उसने लहूलुहान कर दिया, कश्मीर-के गिरि-गह्वर उसने रुण्ड-मुण्डोंसे भर दिये। श्रीनगरके कुसुमोद्यानोंसे चिरायँधकी गन्ध उठने लगी। चीलकी भाँति झपटकर उसने पाटलिपुत्रसे दार्शनिक अश्वघोषको पुरुषपुरमें ला बिठाया।

पार्श्वने उपदेश किये, वसुबन्धुने शक्तिका उपहास किया परन्तु कनिष्ककी स्वर्णलिप्सा शान्त न हुई। वह उद्यान पार कर मध्य एशियाके पूर्वी भागको कुचलता चीनकी ओर झुका। पूर्वजोंकी पराजयका उसने चीनसे प्रतिशोध लिया। चीनके करदायी राज्योंसे उसने उसका कर छीन लिया। सीताकी तलेहटीमें उसने नरयज्ञ किया और स्वयं वह महाकालकी भाँति मृत्युका ताण्डव करने लगा। पार्श्व और वसुबन्धु उसकी रक्तलिप्सा देख सशंक हो उठे।

खुत्तन और अन्य देशोंसे स्वर्ण-रत्न लाकर उसने पुरुषपुरको समृद्ध कर दिया। दिग्विजयसे लौटकर वह उस दृप्त रूपशालिनी शशिलेखाके अंकमें विश्राम करता जिसके रूपकी चर्चा गन्धारके घर-घर थी। शशिलेखा संसारकी दृष्टिमें एक अमानवी अभिसृष्टि थी जिसके सौन्दर्यका ह्रास उसकी इच्छापर निर्भर था। जब कभी उसका यौवन अवसानकी ओर झुकता वह उसे किसी अदृष्ट शक्तिसे लौटाकर पुनर्नवा हो आती। पाटलिपुत्रसे चीन तक उसके विलासकी धाक थी। पार्श्व-वसुबन्धु तक उसके प्रसादकी कामना करते। जो उनके मन्त्रसे उपलब्ध न था वह उनकी इच्छा-मात्रसे सम्पन्न होता। सम्राट् उनका शासक था, पर उसका याचक।

मथुराके विजित विषयने विद्रोह किया था। कनिष्ककी भुजाएँ फड़क उठीं। उसका रक्त खौल उठा। उद्यानके दुर्द्धर्ष सामरिकोंको ले उसका सेनापति मथुरापर जा टूटा। यमुना भयसे दो हाथ नीचे सरक गयी।

असाधुविध्वंसक कृष्णकी विशाल प्रतिमाके दक्षिण करमें चक्रकी पकड़ ढीली हो गयी। शूरसेनोंका विशाल जनपद एक छोरसे दूसरे छोर तक हिल उठा। नर-नारी समान भयसे काँप उठे। कौन उनकी रक्षा करता? केवल एक दरिद्र भिक्षु उनका सहारा था—विदर्भका नागार्जुन।

नागार्जुन मोग्गलिपुत्त तिस्स उपगुप्तके चीवरमें उसीकी भाँति मथुराके कंगालोंका धन था, निर्बलोंका सहारा। उपगुप्तकी आत्मा उसमें पुनर्जीवित हो उठी थी। जब उसने विध्वंसकारियोंकी ध्वंसलीलाके विरुद्ध आचरण किया कुषाण-सेनापति तुसाष्पने दाँतों तले उँगली दबा ली।

विधर्मियोंने नागार्जुनको बन्दी कर लिया। सारी मथुरा काँप उठी। सबको ज्ञात था कि नागार्जुनका अन्त अग्निकी लपटोंमें अथवा शूलकी नोकपर होगा, परन्तु भिक्षुकी आकार-चेष्टामें कोई भेद न पड़ा। शाश्वत मुसकान उसके मुखपर खेलती रहती। जहाँ एक ओर वह मथुरावासियोंको अभयदान देता वहीं वह नृशंस आततायियोंको प्रेमपूर्वक स्मितवदन हो उत्तर देता। सेनापति चकित था—यह मानवताका अद्भुत रहस्य है। उसके लिए नागार्जुन एक अनोखी पहेली बन गया। वह स्थिर न कर सका—उसे वह छोड़ दे अथवा ज्वालाओंको अर्पित कर दे। बाँध ले चला वह उसे पुरुषपुरको उसे सम्राट्के प्रसादपर छोड़।

"भिक्षु, तू साम्राज्यका शत्रु है।" रत्न-जटित स्वर्ण-सिंहासनसे कुछ नीचे झुकते हुए कनिष्कने बन्दीसे कहा। लम्बे चोगेके सुन्दर कढ़े किनारेसे उसकी असिकी रत्नखचित मूठ मिल गयी थी। स्वर्ण-राजदण्ड रह-रहकर चमक उठता था।

"भिक्षु शत्रुता नहीं करता, सम्राट्। शाश्वत बन्धुत्व उसका मन्त्र है, प्रेम उसका चिर सखा।" आनन्द-जैसे भिक्षुके रोम-रोमसे फूट रहा था।

निष्करुण दुर्दान्त सेना चकित रह गयी। सेनापतियोंने एक-दूसरेको देखा। सम्राट् उसकी बात न समझ सका।

"क्या तुमने विद्रोहियोंको धीरज नहीं बँधाया था?"—उसने कुछ

अस्थिर हो पूछा। उसके बृहदाकार जूते पादपीठोंपर धमक उठे।

"धीरज मैंने दोनोंको बँधाया, सम्राट्—दुःखी प्रजाको और साम्राज्य-सेनापति तुसाष्पको। एकको अत्याचारके ऊपर हँसनेको कहा, दूसरेको आवागमनके भयंकर दुःखसे निर्वाणके अर्थ सयत्न होनेका उपदेश किया।" हँसते भिक्षुकी श्वेत दन्तपंक्ति रह-रहकर चमक उठती थी।

सम्राट्ने फिर कुछ न समझा। उसका उन्मुख वदन उत्सुकतासे कुछ और आगे झुक गया।

"क्या कहा, भिक्षु? तुमने दोनोंको धीरज बँधाया? दोनोंकी भूमि क्या एक है?"—नेत्रोंको विस्फारित करता कनिष्क फिर बोला।

"दोनोंकी भूमि समान है, सम्राट्, दोनोंके भय समान हैं।"

"वह किस प्रकार, भिक्षु?" कनिष्कको जिज्ञासा हुई।

"क्योंकि प्राणियोंकी अनुभूतियाँ समान हैं, तृष्णाएँ समान। जो भेड़िया शशकपर टूटता है, वही सिंहके समक्ष दुम दबा लेता है और स्वयं सिंह आगत भयकी आशंकासे वन-वन मारा-मारा फिरता है।" भिक्षुके हँसते नेत्र एक बार सारी सेना और कनिष्कके सभ्योंपर दौड़ गये।

सभी विस्मित थे, सभी उत्सुक।

"तो क्या तुम्हें वधिकका खड्ग भयकारक नहीं?"—सम्राट्ने पूछा।

"वधिकका खड्ग भयकारक क्यों हो, सम्राट्? भयकारक तो वह तब होता जब मैं जन्मको सुख और मरणको दुःख जानता। इन दोनोंकी अनुभूति तो समान है। यदि तुम्हें अपने प्रासादके एक कक्षसे निकलकर दूसरेमें प्रवेश करते समय द्वारसे भय नहीं होता तो मुझे मरणसे भय क्यों हो? वह तो निर्वाणके मार्गमें एक अवधि और मुझे आगे सरका देता है।" भिक्षुने उत्तर दिया।

सम्राट्ने ललाटसे स्वेद पोंछ लिया। पार्श्वकी ओर जब उसने दृष्टि फेरी तो उस वृद्धको मुसकराते पाया। वसुबन्धुकी मुद्रा कुछ सतर्क हो उठी थी, कुछ ईर्ष्यालु। भिक्षु पूर्ववत् मुसकरा रहा था। त्रिचीवरसे ढँका

उसका सुन्दर शरीर मानो दमक रहा था। उत्तरासंगका ऊर्ध्व छोर ग्रीवाके पीवर भागसे चिपका था और संघाटीका निचला छोर अन्तर्वासक और उत्तरासंगके सन्धि भागको ढँकता हुआ दाहिने पार्श्वसे उठकर वामस्कन्धसे पीछे उतर गया था। चौड़ा वक्ष रह-रहकर फूल उठता था। मुखमण्डल-पर अद्‌भुत शान्ति विराज रही थी।

"तुम क्या सोचते हो, भिक्षु, क्या मैं भी किसीका भय करता हूँ?" सम्राट्‌ने कृत्रिम हास्य करते हुए पूछा।

भिक्षुने अट्टहास किया। सभाकी कृत्रिम मर्यादा उसके स्वच्छन्द आच-रणको न बाँध सकी।

"कह दूँ सम्राट्?" उसने उत्तरमें पूछा।

सन्त्रस्त, झिझकता, सम्राट् बोला—"बोलो, भिक्षु।"

"फिर सुनो, सम्राट्। क्या तुम्हें सद्यः विजित प्रजाका भय नहीं? क्या तुम चीनराजसे भय नहीं करते? क्या तुम्हें सुदूर पश्चिममें उस रोमकी उठती आँधीकी और उसकी पूर्वमें बढ़ती सीमाकी आशंका नहीं? और फिर क्या अपने ही गृहमें किसी व्यक्तिविशेषकी बढ़ती शक्तिका त्रास तुम्हारे हृदयमें सदा नहीं बना रहता?"

"बस, बस, भिक्षु, बस।" सम्राट्‌ने यकायक भिक्षुको चुप कर दिया। फिर उसके नेत्र अनजाने तुसाष्पपर जा लगे। तुसाष्प तस्करकी नाईं सब ओरसे दृष्टि खींच पृथ्वीकी ओर देख रहा था। उसने भिक्षुको मन-ही-मन कुछ कहा और सम्राट्‌ने भी।

"रक्षक, भिक्षुको छोड़ दो।" सम्राट्‌की कम्पित वाणी यकायक सुन पड़ी।

दस वर्ष बाद।

शशिलेखाका यौवन फिर एक बार अवसानकी ओर झुका। परन्तु

लालसा और तृष्णा अब भी उसका आँचल पकड़े रहीं। फिर एक बार युवती होनेकी कामना उसके हृदयमें बल पकड़ने लगी। चरकको प्रयोग-शाला जल चुकी थी। वहाँका मार्ग वैसे भी चरकने बन्द कर दिया था। रह गये थे अश्वघोष और नागार्जुन।

शशिलेखा एक दिन अश्वघोषके समीप जा पहुँची। महाकवि बुद्ध-चरित और सौन्दरनन्दकी रचना समाप्त कर चुका था। उसके पास और क्या था जो वह देता। उसने महाकाव्योंके पृष्ठ गणिकाके सम्मुख खोल दिये। फिर एक-एक पंक्तिकी विशद व्याख्या कर वह उसे उसका दार्शनिक रहस्य समझाने लगा।

शशिलेखा उसके दर्शनपर हँसी। काव्यकी माधुरीने उसके अर्धसुपुप्त विलासको और गुदगुदा दिया। यशोधराका प्रेम, मारकी सेना और नन्दकी विहार-कामना उसे अधिक आकर्षक प्रतीत हुई। परन्तु अश्वघोष उसकी अन्यमनस्कतासे चिढ़ गया। उसने काव्योंकी नीवी बाँध ली।

शशिलेखाने धीरे-धीरे कहा—"महात्मन्, मेरे रोगकी ओषधि तुम्हारे पास नहीं। तुम्हारे भोजपत्रोंमें क्या है सो तुम्हीं समझो। मुझे चाहिए जीवित मानवकी विकल पुकार और उसकी अभितृप्तिका मेरे अवयवों-में साधन। कहो, प्रस्तुत कर सकते हो?"

शशिलेखाने प्रातः जब नागार्जुनके विहारमें प्रवेश किया, भिक्षु पूजाके निमित्त सज चुका था। उसका शरीर चन्दनसे चर्चित था। उसकी देहपर सुन्दर क्षौमके त्रिचीवर फब रहे थे और पुष्प-मालाओंसे उसकी ग्रीवा भरी थी।

शशिलेखा उस वृद्धका चिर-यौवन देख सहम गयी। उसने भिक्षुके चरणोंमें मस्तक झुका दिया। भिक्षुका दमकता सुन्दर मुखमण्डल मधुर हाससे और भी देदीप्यमान हो उठा।

शशिलेखाने पूछा—"भिक्षु, देश-विदेशमें तुम्हारी ख्याति है। क्या मेरा भी उपचार करोगे ?"

भिक्षु हँसा।

"चरकने दो बार मुझे वह शक्ति और रूप प्रदान किये थे जिससे सारा विलासी जगत् अपना आपा खो मेरे चरणोंमें लोटता रहा। परन्तु फिर उस कायाकी चमक धुँधली पड़ गयी।" यवनीने अपनी मुरझायी यौवन-लताको मुसकानसे कुछ हरी करते हुए कहा।

भिक्षु चुपचाप हँसता रहा।

"चरककी प्रयोगशालाकी राख दिगन्तमें उड़ चली है। परन्तु उस रासायनिकका मन्त्र अब भी मेरे कानोंमें गूँज रहा है।" शशिलेखाने कुछ रुककर फिर कहा।

भिक्षुने उत्सुकतापूर्वक भौंहें कुछ ऊपर खींच लीं। चरकका मन्त्र अवश्य असाधारण होगा—उसने विचारा।

"चरकने क्या कहा, भद्रे ?" हँसते हुए नागार्जुनने पूछा।

"भिक्षुवर, चरकने कहा—'गणिके, अब चरककी प्रयोगशालामें प्रवेश न करना। और यदि तुम्हें फिर परिवर्तनकी आवश्यकता हुई तो अश्वघोष और नागार्जुनके पास जाना।' तो क्या मेरी आवश्यकताकी पूर्ति इस विहारमें होगी, भिक्षुवर ?" शशिलेखाने नागार्जुनसे उत्तरमें पूछा।

पूर्ववत् हँसते हुए भिक्षुने कहा—"जाना, भद्रे जाना। परन्तु क्या महाकविके साक्षात् नहीं हुए ?"

"हुए, भिक्षुवर, हुए क्यों नहीं। परन्तु महाकविका तो कलेवर-मात्र नवरसोंसे रँगा है। भीतर तो दार्शनिकका कठोर प्रस्तरहृदय है। वहाँ हमारा स्थान कहाँ ? अश्वघोष तो आडम्बर रखता है—भीतर कुछ बाहर कुछ।" यवनीने मुसकरा दिया।

नागार्जुनका रोम-रोम हँस रहा था। हाथके फूलोंको उसने मसल दिया। फिर वह बोला—"शशिलेखे, मेरे पास तुम्हारे खोये धनकी अनु-

क्रमणी रखी है। चलो तुम्हें दे दूँ।"

गणिकाका अकृत्रिम हास विहार-प्रांगणमें व्याप्त हो चला। जहाँ-तहाँ खड़े विगलित भिक्षुओंकी कामनाएँ कुछ तिलमिला उठीं। अपने पीठस्थविरकी जादूगरीका प्रभाव उन्होंने खुली आँखों आज देखा। उसकी शक्ति-भरी वाणी उन्होंने अपने कानों सुनी—'आओ, गणिके, जो तुम्हें चरक और अश्वघोष न दे सके वह मैं दूँ।'

आगे-आगे नागार्जुन और पीछे वह कुषाण-साम्राज्यकी विख्यात विलासिनी शशिलेखा चैत्यमें घुसी।

चैत्यका द्वार फूलोंसे सजा था। द्वारपर शंख-पद्म चित्रित थे और द्वारतोरणसे पुष्पलड़ियाँ लटक रही थीं। भीतर धूप नैवेद्यकी सुरभि धीरे-धीरे उठकर चतुर्दिक् फैल रही थी। सामने मानव आकारकी सुन्दर तक्षित बोधिसत्त्वकी प्रतिमा अभय मुद्रामें खड़ी थी। अद्भुत शान्ति और मधुर हास लिये वह मूर्ति हृदयमें आनन्द और निर्भयता भर रही थी।

भिक्षुने साष्टांग प्रणाम किया। फिर उसने दीवारसे लटकती वीणा उतार ली और लगा वह उसपर धीरे-धीरे अपनी उँगलियाँ दौड़ाने। धीरे-धीरे तारोंका धीमा स्वर तीव्र हो चला और जैसे-जैसे उँगलियोंका संचालन त्वरित होने लगा शशिलेखाकी प्रौढ़ कायामें नवीन प्रयास भरने लगा। वह स्वयं अर्धतक्षित प्रतिमा-सी स्पन्दनहीन हो बैठ रही। इधर नागार्जुनका स्वर विताड़ित वल्लकीकी झंकृतिसे मिल-मिल चैत्यमें गूँजने लगा। बुद्धचरितकी पंक्तियाँ काँप-काँप उस भिक्षुके कण्ठसे निकलने लगीं।

शशिलेखा चकित हो उठी। वह कभी मूर्ति, कभी भिक्षुकी ओर देखती फिर रागकी प्रतिध्वनिसे वह स्वयं चंचल हो उठती। धीरे-धीरे उठकर वह भिक्षुके समीप जा बैठी और उसने अपना स्वर भी नागार्जुनके काँपते स्वरमें मिला दिया।

घण्टों यह तार चलता रहा। शशिलेखा न समझ सकी कि उसका आकर्षण मूर्तिके प्रति था अथवा नागार्जुनके प्रति अथवा भिक्षुकी असाधा-

रण संगीतकलाके प्रति। मध्याह्नके समय जब वह भिक्षुका कन्धा पकड़े चैत्यसे बाहर निकली उसे श्रमणोंके मध्य अपना मार्ग बनाना पड़ा!

मास-वर्ष बीत गये। नित्य शशिलेखा आती और नागार्जुनके साथ चैत्यमें प्रवेश करती, फिर वह वहाँ भिक्षुकी सुतन्त्रीके तारोंके रागमें अपना राग मिला देती। नित्य।

धीरे-धीरे नागार्जुनने वह चैत्य छोड़ दिया। उसमें अब केवल शशिलेखा प्रवेश करती, संगीत-रचना करती और अनन्त राग छेड़ती।

एक दिन नागार्जुनने पूछा—"भद्रे, चरक और अश्वघोषको छोड़ जिस वस्तुकी खोजमें तुम यहाँ आयीं वह क्या अब तुम्हें नहीं चाहिए?"

अत्यन्त तृप्तिके साथ हँसते हुए शशिलेखाने कहा—"नहीं भिक्षुवर, मैं सर्वस्व पा चुकी।"

नागार्जुनके प्रभावने कनिष्कको नितान्त भिन्न व्यक्ति बना दिया—स्वयं कनिष्कका अनजाना। अब उसने अशोककी ही भाँति 'धर्मविजय' की ठानी। पार्श्वने उसके नये प्रयासपर बधाई दी, वसुबन्धुने सहयोग दिया, अश्वघोषने उसके प्रयत्नको सराहा।

अशोककी ही भाँति कनिष्कने भी धर्मके प्रचारार्थ विदेशोंमें बौद्ध पण्डित भेजने चाहे। परन्तु उसके अर्थ संगीतिका होना अनिवार्य था। कश्मीरके सुन्दर निसर्गके बीच फूले श्रीनगरके समीप कुण्डलवन विहारमें संघ बैठा। सर्वास्तिवादियोंका गुरु महायानका प्रवर्तक नागार्जुन उनका नेता था, वसुबन्धु उनका प्रधान। यवनी शशिलेखा भिक्षुणी वर्गकी नेत्री थी।

प्रचारक महायानका भक्तिप्राण सन्देश ले उड़े—खुत्तन-तिब्बतको, चीन-मंगोलको। नागार्जुनने जड़ धर्ममें प्राणप्रतिष्ठा की, बुद्धकी प्रथम

प्रतिमा निर्मित की, बोधिसत्त्वकी मनोहर कल्पना जगायी। स्थविरोंको देव मिले, उपासकोंको पुराण।

रात्रिके दो पहर बीत चुके थे, पुरुषपुर इस समय भी व्यस्त-सा लगता था। राजपथ उत्तरापथसे आये साम्राज्यके नये नागरिकोंसे भरा था। खुत्तन और पश्चिमी चीनकी तुसाष्पको सेनाएँ नगरमें भर रही थीं। ऊँचे कुषाण सैनिक लम्बे चोगे पहने, चुने पाजामे कसे, ऊँचे भारी जूते, ऊँचे टोप धारण किये, ऊँचे भाले फिराते नगरमें घूम रहे थे।

दिन-भरके दानाचरणके बाद कनिष्क शय्यागारमें पर्यंकपर पड़ा था। अभी उसे नींद नहीं आयी थी। उसके सिरहाने बैठा नागार्जुन साधुवाद कर रहा था, सामने तुसाष्प उसके आदेशके अर्थ खड़ा था।

कनिष्क बोला, "तुसाष्प, कल प्रातः धर्मसभा लगेगी। राज्य भिक्षुवर नागार्जुनके चरणोंमें अर्पित करूँगा। उसकी तैयारी करो।"

"जो आज्ञा"—कह तुसाष्पने सिर झुका लिया। उसकी भृकुटियाँ विकृत हो उठी थीं।

"तुसाष्प, अब मैं विश्राम करूँगा।" सम्राट् बोला।

तुसाष्पने मस्तक झुका लिया। फिर वह धीरे-धीरे शयनकक्षकी ओर देखता हुआ बाहर निकल गया। उसके होठोंपर व्यंग्य-भरी मुसकान खेल रही थी।

नागार्जुनने भी उठते हुए कहा—"मैं भी चला, सम्राट्। तनिक सतर्क सोना। रात्रि भयंकर है, नगर विदेशी सैनिकोंसे भर रहा है और तुसाष्प-की दृष्टि परुष दिखाई पड़ती है। तुम जानते हो, सम्राट्, वह पराजित पार्थवोंका प्रतिनिधि है।"

"होने दो, गुरुदेव। अब भौतिक उपकरणोंकी लालसा नहीं। तुम्हारी दीक्षाका लाभ मेरी कलुषित प्रवृत्तियोंको होगा। कल मैं साम्राज्य संघकी सेवामें प्रदान कर दूँगा। देनेवालेसे कोई क्या छीन सकता है?" सम्राट्ने

उत्तर दिया।

नागार्जुन भी धीरे-धीरे कक्षसे बाहर निकल गया। जाते-जाते उसने वसुबन्धुसे कहा—"वसु, रात्रि अँधेरी है। पौर मातंगको तनिक जागरूक कर दो।"

रात्रिके तीसरे पहरके अन्तिम क्षणोंमें चराचर सोता था। दुर्गके सजग प्रहरी भी ऊँघने लगे थे। आज निशीथमें जिन नये प्रहरियोंका पहरा बैठा था, उनमें अधिकांश खुत्तनके थे। उनके नेत्रोंमें नींद न थी।

घड़ियालके साथ ही दुर्गके बाहर दूरपर किसीने तूर्यध्वनि की। सहसा दुर्गमें कुछ हलचल होने लगी। कनिष्कके विश्वस्त प्रहरी धीरे-धीरे सर्वत्र बँध गये। फिर तूर्यध्वनि हुई। एक विशालकाय सैनिक यकायक दुर्गके अग्निकोणसे निकला और राजप्रासादकी ओर चला। उसका सारा शरीर एक काली चादरसे ढँका था। पाँच दीर्घ सैनिक दबे पाँव उसके पीछे चल रहे थे।

पार्श्व-कक्षकी शस्त्रधारिणी यवनी गहरी नींदमें थी। उसकी छातीमें जब कटार घुसी, चीत्कार तक न निकला। विशालकाय सैनिकने अनुचरोंके साथ सम्राट्के शयनकक्षमें प्रवेश किया। कनिष्क कश्मीरके भारी शालोंसे ढँका सुखनिद्रामें सो रहा था। महादानकी अभितृप्ति उसके होठोंपर विराज रही थी। मुखमुद्रा उसकी विकसित थी परन्तु सैनिकने उसके स्वप्नकी अभिलाषा भी न पूरी होने दी। उसने जबतक सम्राट्का मुख उसके शालसे ढँका, खुत्तनकी विकराल कटार उसके वक्षमें जा घुसी। सम्राट्ने अपने हत्यारे तकको न जाना।

परन्तु अभी हत्यारा शयनकक्षसे बाहर भी न निकल सका था कि पौरने सम्राट्की शरीररक्षक सेनाके साथ हत्यारोंको घेर लिया। शरीर-रक्षक सेनाके आगे था पौर और उसके पार्श्वमें था दार्शनिक वसुबन्धु। परन्तु वसुबन्धु सतर्क रहकर भी देरमें पहुँचा। सम्राट्को बचा न सका।

जब उसने धराशायी विशालकाय सैनिकका अवगुण्ठन हटाया वह दो पग पीछे हट गया।

सम्राट्के हत्यारे उसके चिरप्रसादलब्ध विश्वस्त सेनापति तुसाष्पको उसने पहचाना।

२४ अप्रैल १९४१
अपराह्न १०.३०—३.३०